बृहद्द्रव्यसंग्रहः

तथा

लघुद्रव्यसंग्रहः

संस्कृतवृत्ति-हिन्दीभाषानुवादसहितः

प्रकाशक

श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

सारनाथ (बनारस) बिहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

❀ ओं ❀

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवविरचित

बृहद्द्रव्यसंग्रहः

तथा

लघुद्रव्यसंग्रहः

श्रीब्रह्मदेवविरचित संस्कृतवृत्तिसहितः

एवं

हिन्दीभाषानुवादसमुपेतः

प्रकाशक :—

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

खरखरी (धनवाद) विहार

प्रथमावृत्ति १००० प्रति] ❀ [निछावर ३ रु. ५० न.पै.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्तिस्थान—
श्री सिखरचन्द्र जैन,
मन्त्री—
श्री गणेश वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला,
खरखरी (धनबाद) बिहार

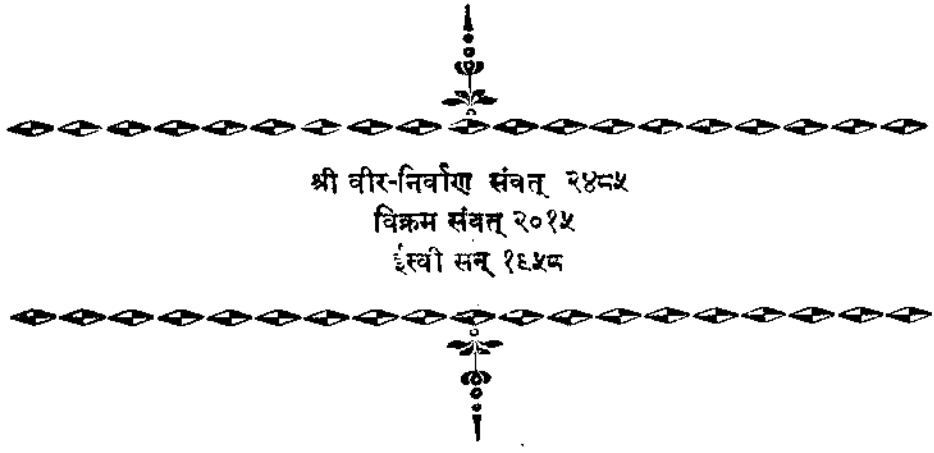

श्री वीर-निर्वाण संवत् २४८५
विक्रम संवत् २०१५
ईस्वी सन् १९५८

मुद्रक—
श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'
साहित्य प्रिंटिंग प्रेस,
दीनानाथ, सहारनपुर।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

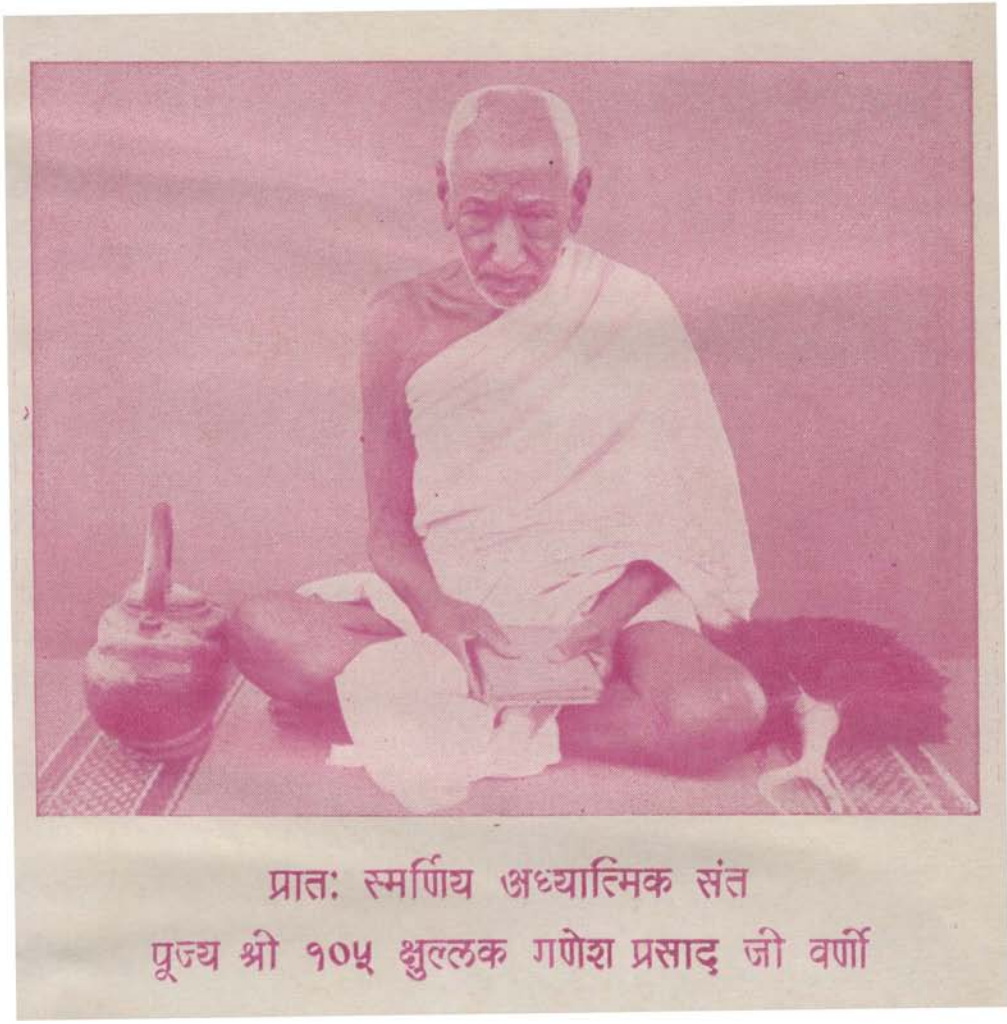

प्रातः स्मर्णिय अध्यात्मिक संत

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[प्राक्कथन]

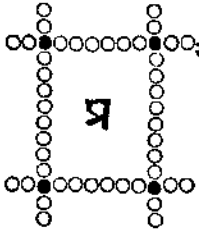

स्तुत बृहद्द्रव्यसंग्रह यद्यपि ५८ गाथा का छोटा सा ग्रन्थ है, परन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से बहुत उपयोगी और महत्वशाली है। इसमें ग्रंथकार ने जैन सिद्धान्त एवं अध्यात्म का बहुत कुछ सार भर दिया है। 'जीव' का नौ अधिकारों में व्यवहार एवं निश्चय नय द्वारा जिस प्रकार कथन इस ग्रन्थ में किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता। इस ग्रन्थ में तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में छह द्रव्य व पंचास्तिकाय का, दूसरे में सात तत्त्व व नव पदार्थ का और तीसरे में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का प्रतिपादन अत्युत्तम शैली से किया गया है। सैद्धान्तिक ज्ञान के लिये तत्त्वार्थसूत्र की भांति द्रव्यसंग्रह भी अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है और श्री समयसार आदि अध्यात्म-ग्रन्थों के लिये प्रवेशिका है।

द्रव्यसंग्रह के रचयिता श्री नेमचन्द्र सिद्धान्तदेव एक महान् आचार्य और सिद्धान्त व अध्यात्म ग्रंथों के पूर्ण पारगामी थे, इसी कारण 'सिद्धान्तदेव' उनकी उपाधि थी। उनके निश्चित् समय का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु संस्कृतटीकाकार श्री ब्रह्मदेव के कथनानुसार, श्री नेमचन्द्र आचार्य राजा भोज के समकालीन ११ वीं शताब्दी के महान् विद्वान् व कवि प्रतीत होते हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रह की केवल प्रस्तुत संस्कृत टीका ही उपलब्ध है। श्री ब्रह्मदेव ने यह टीका बहुत सुन्दर, विस्तारपूर्वक एवं सप्रमाण लिखी है। टीका में ग्रन्थों के उद्धरण तथा नामोल्लेख से सिद्ध होता है कि आप बहुश्रुती विद्वान् थे। आपने श्री धवल, जयधवल, महाधवल आदि सिद्धान्त-ग्रंथों का तथा श्री समयसार आदि अध्यात्म-ग्रंथों का गहन अध्ययन और मनन किया था अर्थात् आप सिद्धांत एवं अध्यात्म के पारगामी थे। आपको नय-ग्रन्थों का भी उच्चकोटि का ज्ञान था। आपने व्याख्या प्रौढ़ सुबोध एवं ललित संस्कृत में लिखी है। इस टीका के अतिरिक्त आपने परमात्म-प्रकाश की टीका, तत्त्वदीपक, ज्ञान-दीपक, त्रिवर्णाचार दीपक, प्रतिष्ठातिलक, विवाहपटल, कथाकोष आदि की भी रचना की है। आपका निश्चित् समय बताने योग्य साधन उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु ऐसा अनुमानित किया गया है कि आप १२ वीं – १३ वीं शताब्दी के विद्वान् थे।

श्री ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका तथा स्वर्गीय श्री पं० जवाहरलाल कृत हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ दो बार रायचन्द्र-ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। तत्पश्चात् उक्त संस्कृत-टीका तथा श्री पं० अजितकुमार शास्त्री-कृत हिन्दी अनुवाद सहित देहली से प्रकाशित हुआ है; किन्तु अब उपलब्ध नहीं है और स्वाध्याय-प्रेमियों की माँग है, अतः प्रस्तुत संस्करण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद सहित "श्री गणेशवर्णी दि० जैन ग्रंथमाला" की ओर से प्रकाशित किया गया है।

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से मिलान करके पाठ का संशोधन तथा छूटे हुए पाठ की पूर्ति करदी गई है। छूटे हुए पाठ किसी-किसी स्थल पर ३-४ पृष्ठ प्रमाण थे। अनेकांत वर्ष १२, किरण ५ से २५-गाथा प्रमाण लघुद्रव्यसंग्रह भी उद्धृत करके अर्थ सहित सम्मिलित करदी गई है। प्रस्तुत संस्करण में विस्तृत विषय-सूची, संस्कृतटीका में उद्धृत गाथा तथा श्लोकों की वर्णानुक्रम-सूची (जिसमें अन्य ग्रन्थों के नाम, जहाँ पर उक्त गाथा या श्लोक पाये जाते हैं, दिये गये हैं), पारिभाषिक शब्द-सूची, बृहद् व लघु द्रव्यसंग्रह की अकारादि-क्रमेण गाथा सूची और पाठ के लिये एक स्थल पर बृहद्द्रव्यसंग्रह की समस्त गाथायें दी गई हैं। जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि और विषय-अन्वेषण में सुविधा होगई है।

इस ग्रन्थमाला को श्रीमती सो० पुष्पादेवी धर्मपत्नी ला० हरिचन्दमल, झरिया, ने २५०० रु० तथा महिला-समाज (गया), ने ५०० रु० प्रदान किये हैं। इस ग्रन्थ के संशोधन-प्रकाशन में बा० ऋषभदास (मेरठ), ला० अर्हदास, ला० मेहरचन्द, श्री रत्नचन्द मुख्तार व बा. नेमचन्द वकील (सहारनपुर), पं० पन्नालाल साहित्याचार्य (सागर), पं० जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा-मंदिर (देहली), पं० सिखरचंद शास्त्री (ईसरी), पं० सरदारमल (सिरोंज), भैया त्रिलोकचन्द्र (खातोली) तथा ब्र० चन्दनमल ने सहयोग दिया है। श्री सुखनन्दनकुमार (कुमार ब्रदर्स) ने कागजी सुविधा एवं श्री पं० कार्शीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' (साहित्य प्रिंटिंग प्रेस) ने मुद्रण संबंधी हर प्रकार की सुविधा दी है। ग्रन्थमाला इन सभी सज्जनों का आभार मानती है।

प्रूफ़-संशोधन का कार्य एक विचित्र कला है, काफी सावधानी रखने पर भी भ्रम-वश तथा दृष्टि-दोष आदि कारणों से अशुद्धियाँ रह गईं; जिसका खेद है। कागज आदि का मूल्य बढ़ जाने पर भी इस ग्रन्थ का मूल्य सर्वसाधारण के हितार्थ बहुत कम रक्खा गया है। आशा है तत्त्वान्वेषी इससे लाभान्वित होंगे।

सिखरचन्द्र जैन,
मंत्री,
श्रीगणेशवर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला
खरखरी (धनबाद)
बिहार

दीपावली
वीर नि० सं० २४८५
नवम्बर, १९५८

::

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री मति सौ० पुष्पावती
धर्मपत्नि श्री सेठ हरचन्द मल जैन
झरिया,

आपने श्री सिद्धचक्र विधान के अवसर पर २५००) रु० श्री गणेश वर्णी दि० जैन शास्त्रमाला को प्रदान किया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* विषय-सूची *

विषय	पृष्ठ
प्रथमाअधिकार	**१–७३**
टीकाकार का मंगलाचरण	१
ग्रन्थ की भूमिका	१
विषय-विभाजन	२
ग्रन्थकार का मंगलाचरण	४
'वंदे' शब्द का निश्चय व व्यवहार से अर्थ	४
सौ इन्द्रों के नाम	५
असंयत सम्यग्दृष्टि एकदेश जिन	५
अर्हंत के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि	६
इष्ट, अधिकृत व अभिमत देवता	६
नय विवक्षा से ग्रन्थ का प्रयोजन	७
जीव के उपयोग आदि नौ अधिकार	८
जीव का कर्मोदयवश छह दिशा में गमन	९
प्राणोंके कथन द्वारा जीव का लक्षण	१०,३०,७५
नौ दृष्टांत द्वारा जीव की सिद्धि	११
नयों का लक्षण	१२
मुख्यता से वर्णन में अन्य विषय गौण	१३
दर्शनोपयोग तथा उसके भेद	१३
जीव का स्वभाव केवलदर्शन, किन्तु कर्माधीन से चक्षुदर्शनी	१३
चक्षुदर्शनसंव्यवहारप्रत्यक्ष, निश्चयसे परोक्ष	१३
ज्ञानोपयोग व उसके भेदों का लक्षण	१४
मिथ्यात्व उदय से ज्ञान भी अज्ञान	१४
संव्यवहार का लक्षण	१५
श्रुतज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष	१६
उपयोग का लक्षण नय-विभाग से	१७
'सामान्य' का लक्षण	१८
उपयोग का लक्षण	१८, ४९
जीव अमूर्त व मूर्त	१९, ७५
जीव का कर्त्तापन	२०, ७६, ८१
अशुद्ध निश्चय नय का लक्षण	२१
जीव का भोक्तापन	२२

विषय	पृष्ठ
जीव का देह प्रमाणपना	२४
सात समुद्घातों का लक्षण	२५
स्थावर व त्रस जीव	२८
जीव समास	२९
प्राण	३०
चौदह मार्गणा व चौदह गुणस्थान	३१
प्रत्येक गुणस्थान का लक्षण	३२
वैनयिक व संशयमिथ्यादृष्टियों का सम्यग्-मिथ्यादृष्टि से अन्तर	३३
अविरत सम्यग्दृष्टि, निश्चय व्यवहार को साध्य-साधक माननेवाला तथा आत्मनिंदा सहित इंद्रियसुखानुभव करने वाला	३३,८१
देशविरति स्वाभाविक सुख अनुभव करने वाला	३३
केवलज्ञान के अनन्तर ही मोक्ष क्यों नहीं	३६
शुद्ध-अशुद्ध पारिणामिक भाव	३८
सिद्धोंका स्वरूप, ऊर्ध्वगमन स्वभाव	४०,२११
सिद्धों के आठ गुणों का विशेष कथन	४१
सयोगि गुणस्थान के अन्त समय में शरीर से ऊनता	४३, २१२
सिद्धों के आत्म-प्रदेश समस्त लोक में क्यों नहीं फैलते	४३
संकोच-विस्तार करना जीव-स्वभाव नहीं	४३
मुक्त होने के स्थान पर सिद्ध नहीं रहते	४४
सिद्धों में तीन प्रकार से उत्पाद-व्यय	४५
बहिरात्मा का लक्षण	४५, ८१
अन्तर-आत्मा का लक्षण	४५
चित्त, दोष व आत्मा का लक्षण	४५
परमात्मा का लक्षण	४६
परमात्मा में बहिरात्मा व अन्तरात्मा शक्ति रूप से है, व्यक्ति रूप से नहीं	४७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
गुणस्थानों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा	४७
अजीव द्रव्यकथन, मूर्त अमूर्त विभाग	४८
उपयोग	४९
तीन प्रकार की चेतना	४९
अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल का लक्षण	४९
अनन्त चतुष्टय सर्व जीवों में साधारण है	४९
बंध अवस्था में गुणों की अशुद्धता	५०
पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्याय	५०
भाषात्मक शब्द–अक्षरात्मक.अनाक्षरात्मक	५१
अभाषात्मक शब्द–प्रायोगिक व वैश्रसिक	५१
जीव का शब्द—व्यवहार नय की अपेक्षा	५१
द्रव्य-बंध, भाव-बंध	५१
महास्कन्ध	५२, ७७
मनुष्य, नारक आदि जीव की विभाव व्यंजन पर्याय	५२
धर्मद्रव्य गति में सहकारी–कारण	५३, ७६
सिद्धगति के लिये सिद्धभगवान सहकारी-कारण	५४
अधर्मद्रव्य स्थिति में सहकारीकारण	५४,७६
स्वरूप में ठहरने के लिये सिद्ध भगवान सहकारी कारण	५५
आकाश-द्रव्य अवकाश देने में सहकारी-कारण	५५, ७६
कर्म-नाश स्थान पर ही मोक्ष होता है	५६
लोकाकाश, अलोकाकाश	५६
असंख्यातप्रदेशी लोक में अनंत द्रव्य कैसे	५७
शुद्ध-निश्चय-नय शक्ति रूप	५८,७७
व्यवहार-नय व्यक्ति रूप	५८
व्यवहार नय से सब जीव शुद्ध नहीं	५८
निश्चय व व्यवहार काल	५८, १३४
उपादान कारण के समान कार्य	६१
काल द्रव्य की संख्या व निवास-क्षेत्र	६२
कारण समयसार का नाश, कार्य समय-सार का उत्पाद	६२, ६७
काल द्रव्य की सिद्धि	६३
अलोकाकाश के परिणमन में काल कारण है	६३
काल द्रव्य के परिणमन में कौन कारण	६३
अन्य द्रव्य स्वपरिणमन में स्वयं कारण क्यों नहीं	६३
१४ रज्जु गमन में समय-भेद क्यों नहीं	६४
अपध्यान का लक्षण	६५
वीतरागसम्यक्त्व–निश्चयसम्यक्त्व	
वीतराग-चारित्र का अविनाभूत	६५
परमागम के अविरोध से विचार	६५
सर्वज्ञ वचन में विवाद नहीं करना	६५
पंचास्तिकाय का कथन	६६,७४,७६
अस्ति व काय का लक्षण व कथन	६७, ६८
पंचास्तिकायों में संज्ञादि से भेद	६७
पंचास्तिकायों में अस्तित्व से अभेद	६७
'सिद्धत्व' शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय	६७
निश्चय में सत्ता-काय से द्रव्य का अभेद	६८
छहों द्रव्यों की प्रदेश संख्या	६९
काल द्रव्य एकप्रदेशी क्यों	६९
'द्रव्य' पर्याय प्रमाण है	६९
परमाणु-गमन में कालद्रव्य सहकारी	७०
परमाणु उपचार से काय	७१
जीव शुद्ध-निश्चयनय से शुद्ध है	७१
मनुष्य आदि पर्याय व्यवहार नय से हैं	७१
कालाणु उपचार से भी काय नहीं	७२
'अणु' पुद्गलकी संज्ञा, काल अणु कैसे	७२
परमाणु शब्द का अर्थ	७२
प्रदेश का लक्षण तथा अवगाहन शक्ति	७२
एक निगोद-शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव	७३
लोक सूक्ष्म-बादर पुद्गलों से भरपूर	७३
अमूर्तिक आकाश की विभाग-कल्पना	७३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
चूलिका	७४–७८
जीवपुद्गल परिणामी, शेष अपरिणामी	७४,७५
पुद्गल मूर्तिक, शेष अमूर्तिक	७४, ७५
क्षेत्रवान आकाश	७४, ७५
जीव पुद्गल सक्रिय, शेष अक्रिय	७४, ७५
जीव कर्त्ता शेष अकर्त्ता किंतु कारण	७४, ७६
जीवों का परस्पर उपकार	७६
अगुरुलघु के परिणाम स्वभाव पर्याय	७६
जीव के शरीर, मन आदि का कर्त्ता पुद्गल	७६
'गति' आदि के 'कर्ता' धर्मादि ४ द्रव्य	७६
जीव शुद्ध-निश्चय से द्रव्य व भाव पुण्य-पाप का कर्त्ता नहीं, अशुद्ध-निश्चय से कर्त्ता	७६
पुद्गलादि अपने परिणामों के कर्त्ता	७७
छहों द्रव्यों की सर्वगतता	७७
व्यवहार नय से द्रव्यों का परस्पर प्रवेश	७७
कौन जीव उपादय है	७७
शुद्ध–बुद्ध–एक–स्वभाव का अर्थ	७८
'चूलिका' का अर्थ	७८
दूसरा अधिकार	७९–१५९
जीव अजीव के परिणमन से आस्रवादि	७९
जीव के परद्रव्य जनित उपाधि–ग्रहण	८०
जीव के परपर्याय रूप परिणमन	८०
निश्चय से जीव निजस्वभाव नहीं छोड़ता	८०
'परस्पर सापेक्षता' कथंचित् परिणामित्व	८०
हेय व उपादेय तत्त्वों का कथन	८१
निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहार	८१
कौन जीव किस तत्त्व का कर्त्ता	८१,८२
'सम्यग्दृष्टि' दुर्ध्यान से वञ्चनार्थ व संसार स्थिति के नाशार्थ पुण्यबंध करता है	८२
किस नय से जीव किस तत्त्व का कर्त्ता	८२
परम शुद्ध-निश्चय से बंधमोक्ष नहीं	८२
भव्य का लक्षण	८२
एकदेश शुद्ध-निश्चय का लक्षण	८२
शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय है, ध्यान नहीं	८३

विषय	पृष्ठ
जीव-पुद्गल-संयोग से आस्रव आदि	८३
जीवपुद्गलसंयोग विनाश से संवर आदि	८३
जीव अजीव की पर्याय आस्रव आदि	८३
आस्रव आदि ७ पदार्थों का लक्षण	८४
भाव व द्रव्य आस्रव	८५
भाव आस्रव के भेद	८६
मिथ्यात्व आदि भाव आस्रव का लक्षण	८६
'योग' वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से	८७
द्रव्य आस्रव	८८
ज्ञान को आवृत करनेवाला ज्ञानावरण	८८,९१
बंध, द्रव्यबंध, भावबंध	८९
प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बंध	९०
आठों कर्मों का स्वभाव	९१
बंध के कारण	९०, ९२
आस्रव व बंध का अन्तर	९२
भावसंवर, द्रव्यसंवर	९३
परमात्मा का स्वरूप	९४, ९८
अशुद्ध-निश्चय १ से १२ गुणस्थान तक	९४
अशुभोपयोग १ से ३ गुणस्थान तक	९४
शुभोपयोग चौथे से छटे गुणस्थान तक	९४
'शुभोपयोग' शुद्धोपयोग का साधक	९४
शुद्धोपयोग (एकदेश-शुद्धनिश्चय) ७ से १२ गुणस्थान तक	९४
'श्रावक' पाँचवें गुणस्थानवर्ति	९४
गुणस्थानों में प्रकृतियों का संवर	९५
'शुद्धोपयोग' न तो मिथ्यात्व-रागादिवत् अशुद्ध, न केवलज्ञानादि की तरह शुद्ध	९५
केवलज्ञान का कारण सावरणज्ञान	९६
निगोदिया का ज्ञान क्षयोपशमिक	९६
क्षयोपशमिकज्ञान केवलज्ञान का अंश नहीं	९७
क्षयोपशम का लक्षण	९७
सर्वघाति व देशघाति स्पर्द्धक व उपशम	९७
संवर के कारण या भावसंवर के भेद	९८
निश्चय व व्यवहार व्रत-समिति आदि	९९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
दस धर्मों का विशेष कथन	९९
भावशुद्धि आदि आठ शुद्धि	१००
ध्रुव अनुप्रेक्षा	१०३
अशरण अनुप्रेक्षा	१०४
निश्चयरत्नत्रयकाकारण परमेष्ठिआराधना	१०४
संसारानुप्रेक्षा व पंचपरावर्तन	१०४
स्वर्ग से चयकर मोक्ष जाने वाले जीव	१०५
नित्यनिगोदिया कभी त्रस नहीं होंगे	१०७
एकत्व अनुप्रेक्षा	१०८
'शरीर' शब्द का अर्थ व स्वरूप	१०८
निज-शुद्धात्मभावना से चरमशरीरी को मोक्ष,	
अचरम को स्वर्ग व परम्परा से मोक्ष	१०८,१०९
अन्यत्व अनुप्रेक्षा	१०९
अशुचि अनुप्रेक्षा	११०
ब्रह्मचारी सदा पवित्र	११०
जन्म से शूद्र, क्रिया से द्विज ब्राह्मण	११०
संयमरूपी जलभरी आत्म-नदी में स्नान	११०
आस्रवानुप्रेक्षा, इंद्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया	१११
संवर अनुप्रेक्षा	११२
निर्जरा अनुप्रेक्षा	११२
निर्जरा में जिन-वचन कारण	११३
दुखी धर्म में तत्पर होता है	११३
संवेग व वैराग्य का लक्षण	११३
लोक अनुप्रेक्षा	११३–१४३
लोक का आकार व विस्तार, वातवलय	११३
त्रसनाड़ी, ऊर्ध्व–अधोलोक की ऊँचाई	११४
अधोलोक, नरक, बिल संख्या	११४
७ पृथिवियों की मोटाई व विस्तार	११५
चित्रापृथिवी, पंक खर व अब्बहुल भाग	११५
खर व पंक भागों में देवों का निवास	११६
नरकों में पटल व बिले	११६
नरकों में शरीर की ऊँचाई व आयु	११७
नरक संबंधी गति आगति	११८
प्रत्येक नरक में उत्पन्न होने के वार	११८

विषय	पृष्ठ
७ वें नरक वाला पुनः नरक जाता है	११८
नरक के दुख	११८
तिर्यग् लोक का कथन	११९
द्वीपसमुद्रों का आकार, विस्तार, संख्या	११९
आवास, भवन व पुर का लक्षण	१२०
व्यंतर–भवनवासी की भवन-संख्या	१२०
मनुष्यलोक का कथन	१२०
जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वत, ह्रद व नदी	१२१
क्षेत्र, पर्वत व ह्रद के अर्थ	१२१
भरतक्षेत्र का प्रमाण	१२४
पर्वत, क्षेत्र व ह्रदों का प्रमाण	१२४
उत्तर दिशा के क्षेत्र, पर्वत, नदी	१२४
विजयार्ध व म्लेच्छ खंडों में चतुर्थकाल	१२५
विदेह शब्द का अर्थ	१२५
सुमेरु पर्वत का कथन	१२५
गजदन्त, यमकगिरि, सुवर्णपर्वत	१२६
भोगभूमि के भोग, सुख, कल्पवृक्ष	१२६
निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय के धारक उत्तमपात्र	१२६
आहारदान का फल	१२६
विदेह क्षेत्र का विशेष कथन	१२७
'पूर्व' का प्रमाण	१३०
लवणसमुद्रमें १६००० योजन जल ऊँचाई	१३०
धातकी खंड	१३१
पर्वत व क्षेत्रों के आकार	१३१
कालोदक समुद्र व पुष्करवर द्वीप	१३२
मानुषोत्तर पर्वत	१३२
मनुष्य व तिर्यंच आयु का प्रमाण	१३३
स्वयंभूरमण द्वीप में नागेन्द्र पर्वत	१३३
असंख्यात द्वीपों में जघन्य भोगभूमि	१३३
अंतिम द्वीप व समुद्र में कर्मभूमि	१३३
मध्यलोक में अकृत्रिम चैत्यालय	१३३
ज्योतिष्क लोक	१३४
'निमित्त' चन्द्र, सूर्य व कुम्भकार	१३४
चन्द्र और सूर्य का चार क्षेत्र	१३५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
'चक्रवर्ती' सूर्य में जिनबिम्ब के दर्शन	१३५
नक्षत्रों का कथन	१३६
दिवस में हानि वृद्धि	१३७
ऊर्द्धलोक-कथन व स्वर्गों के नाम	१३८
वार्तिक का लक्षण	१३८
स्वर्गों के उत्सेध व इन्द्र	१३९
मोक्ष-शिला व सिद्ध स्थान	१३९, १४०
स्वर्गपटल व विमान संख्या	१४०
सौधर्म सम्बंधी विमान	१४१
देवों की आयु	१४१
निश्चय लोक	१४२
पाप का लक्षण	१४३
बोधि-दुर्लभ अनुप्रेक्षा	१४३
मनुष्य आदि की उत्तरोत्तर दुर्लभता	१४३
विषय कषायादि की बहुलता	१४३
बोधि व समाधि का लक्षण	१४४
धर्म अनुप्रेक्षा व धर्म का लक्षण	१४४
८४ लाख योनि	१४४
धर्म से अभ्युदय सुख	१४५
परीषह जय	१४६
चारित्र, उसके भेद व लक्षण	१४६
कौन चारित्र किस गुणस्थान में	१४७
शुभोपयोगरूप व्यवहाररत्नत्रय से पापसंवर	१४८
शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय से पुण्य-पाप का संवर	१४८
संवर में असमर्थों के लिये व्रत आदि	१४८
३६३ मतों के नाम	१४९
योग–कषाय से बंध, अकषाय से अबंध	१४९
द्रव्यभाव व सविपाक-अविपाक निर्जरा	१४९
अंतरंग बहिरंग तप-स्वरूप व साध्य साधन	१५०
निर्जरा संवर पूर्वक	१५१
सराग सम्यग्दृष्टि की निर्जरा से अशुभ-कर्म-नाश, संसारस्थिति छेद, परंपरामोक्ष	१५१
वीतराग सम्यग्दृष्टि की निर्जरा	१५१
सम्यग्दृष्टि का वीतराग-विशेषण क्यों	१५१
जितने अंशों में राग उतना बंध	१५२
सरागी का भेदविज्ञान निरर्थक	१५२
द्रव्य व भाव मोक्ष	१५२
परमात्मा का सुख	१५३
संसारी जीवों के भी अतीन्द्रिय सुख	१५४
निरन्तर कर्म बंध व उदय, मोक्ष कैसे	१५४
आत्मा संबंधी नौ दृष्टांत	१५५
निरंतर मोक्ष किंतु संसार जीव शून्य नहीं	१५६
पुण्य-पाप. शुभ-अशुभोपयोग	१५६
पुण्य प्रकृतियों के नाम	१५७
षोडशभावना व सम्यक्त्व की मुख्यता	१५७
तीन मूढ़ता आदि २५ दोष	१५८
आगम–अध्यात्म से सम्यक्त्व का लक्षण	१५८
भक्ति व पुण्य से परमात्मपद की प्राप्ति	१५८
सम्यग्दृष्टि का स्वर्ग में जीवन	१५९
मिथ्यादृष्टि का पुण्य बंध	१५९
भेदाभेद रत्नत्रय के धारक गणधर	१५९
तीसरा अधिकार	**१६०–२३४**
व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्ग	१६०
निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग साध्यसाधक	१६१
निश्चय मोक्षमार्ग	१३१
रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण	१६१
निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र	१६२
व्यवहार सम्यग्दर्शन	१६३
'सम्यग्दर्शन' सम्यग्ज्ञान का कारण	१६३
गौतमगणधर, अग्निभूत, वायुभूतकीकथा	१६४
अभव्यसेन मुनि	१६५
सम्यक्त्व बिना तप आदि वृथा	१६५
देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता समयमूढ़ता	१६५
निश्चय से तीन मूढ़ रहितता	१६६
आठ मद	१६७
ममकार व अहंकार का लक्षण	१६७, १७२
छह अनायतन, अनायतन का अर्थ	१६७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
निःशंकित व व्यवहार निःशंकित	१६८
जिनेन्द्र में असत्यता के कारणों का अभाव	१६८
विभीषण, देवकी व वसुदेव की कथा	१६८
सात भय	१६९
निश्चय निःशंकित, व्यवहार कारण	१६९
निष्कांक्षित व व्यवहार निष्कांक्षित	१६९
सीता की कथा	१७०
निश्चय निष्कांक्षित को व्यवहार कारण	१७०
निर्विचिकित्सा व व्यवहार निर्विचिकित्सा	१७०
द्रव्य व भाव निर्विचिकित्सा	१७०, १७१
निश्चय निर्विचिकित्सा, व्यवहार कारण	१७१
अमूढ़दृष्टि व व्यवहार अमूढ़दृष्टि	१७१
निश्चय अमूढ़दृष्टि, व्यवहार कारण	१७१
संकल्प विकल्प का लक्षण	१६७, १७२
उपगूहन तथा व्यवहार व निश्चय	१७२
स्थितिकरण गुण, व्यवहार व निश्चय	१७३
मोह कर्मोदय से मिथ्यात्व व रागादि	१७३
वात्सल्य गुण, व्यवहार व निश्चय	१७३
अकम्पनाचार्य व विष्णुकुमार कथा	१७३
वज्रकरण व सिंहोदर कथा	१७४
मुनि भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक	१७४
श्रावक भेदाभेद रत्नत्रय के प्रिय (प्रेमी)	१७४
प्रभावना गुण, व्यवहार प्रभावना	१७४
निश्चय प्रभावना, व्यवहार कारण	१७५
सरागव्यवहार सम्यक्त्व से साध्य, वीतराग-चारित्र का अविनाभावी, वीतराग निश्चय सम्यक्त्व	१७५
सम्यग्दृष्टि कहाँ-कहाँ उत्पन्न होता है	१७६
किस गति में कौनसा सम्यक्त्व	१७७
सम्यग्ज्ञान, व्यवहार व निश्चय	१७७
संशय, विभ्रम, विमोह	१७८
'साकार' शब्द का अर्थ	१७८
द्वादशाङ्ग व अङ्ग बाह्य	१७९
चार अनुयोग, अनुयोग शब्द का अर्थ	१८०
निश्चय सम्यग्ज्ञान, व्यवहार साधन	१८०
माया, मिथ्या, निदान शल्यों का स्वरूप	१८१

विषय	पृष्ठ
ज्ञान सविकल्प-निर्विकल्प व स्वपर प्रकाशक	१८१
'दर्शन' सामान्यग्रहण व सत्तावलोकन	१८३
सम्यग्दर्शन सविकल्प, दर्शन निर्विकल्प	१८३
सम्यग्दर्शन व दर्शन में अन्तर	१८३
छद्मस्थों के दर्शन पूर्वक ज्ञान	१८४
केवली के दर्शन व ज्ञान युगपत	१८४–१८५
दर्शन का लक्षण सन्निकर्ष	१८५
लिंगज व शब्दज श्रुतज्ञान	१८५
मतिज्ञान पूर्वक श्रुत व मनःपर्यय	१८५
मतिज्ञान उपचार से दर्शन	१८५
'छद्मस्थ' का अर्थ	१८५
तर्क व सिद्धांत से दर्शन का लक्षण	१८६
ज्ञान पर-प्रकाशक, दर्शन स्व-प्रकाशक	१८७
सामान्य विशेषात्मक वस्तु	१८७
सामान्य ग्राहक दर्शन तो ज्ञान अप्रमाण	१८७
'ज्ञान स्वरूप आत्मा' प्रमाण है	१८७
'आत्मा' स्व-पर सामान्य विशेष का ज्ञाता	१८७
ज्ञान को जानने से दर्शन पर का भी ज्ञाता	१८८
'सामान्य' का अर्थ 'आत्मा' कैसे	१८८
तर्क व सिद्धान्त से 'सामान्य' का अर्थ	१८८
सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान में अन्तर	१८९
अभेद से ज्ञान की अवस्था विशेष सम्यक्त्व	१८९
सम्यक्त्व व ज्ञान के घातक कर्म २ या १	१९०
शुद्धोपयोग ही वीतराग चारित्र	१९०
वीतरागचारित्र का साधक सरागचारित्र	१९०
व्यवहार चारित्र	१९०
अव्रत दार्शनिक (सम्यग्दृष्टि)	१९१
'श्रावक' पंचम गुणस्थानवर्ती	१९१
११ प्रतिमाओं का स्वरूप	१९१
सकलचारित्र	१९२
अशुभोपयोग व शुभोपयोग का लक्षण	१९३
निश्चयचारित्र, उत्कृष्टचारित्र	१९३
द्विविध मोक्षमार्ग का साधक ध्यान	१९५
ध्यान का कथन	१९५
ध्याता का लक्षण	१९६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
ध्यान की सिद्धि का उपाय	१९६
आर्तध्यान के भेद व स्वामी	१९७
रौद्रध्यान के भेद व स्वामी	१९७
धर्मध्यान के भेद तथा स्वामी	१९८
धर्मध्यान से पुण्य, परम्परा मोक्ष	१९८
चारों धर्मध्यान के लक्षण	१९८
शुद्ध निश्चय से जीव कर्मफल रहित	१९८
शुक्लध्यान के चार भेद	१९९
पृथक्त्व-वितर्क का लक्षण व स्वामी	१९९
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति का लक्षण, स्वामी	२००
व्युपरतक्रियानिवृत्ति का लक्षण, स्वामी	२००
अध्यात्म भाषा से अन्तरंग-बहिरंग धर्म व शुक्लध्यान	००
एकत्व-वितर्क का लक्षण व स्वामी	२००
पिण्डस्थ आदि चार ध्यान	२०१
राग-द्वेष-मोह का लक्षण	२०१
राग-द्वेष कर्मजनित या जीवजनित	२०१
नयविवक्षा से राग-द्वेष किस जनित	२०२
शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा 'अशुद्ध निश्चय-नय' व्यवहार	२०२
पदस्थध्यान, परमेष्ठि-वाचक मंत्र	२०२
३५, १६, ६, ५, ४, २, १ अक्षरों के मंत्र	२०३
'ओं' पद की सिद्धि	२०३
सर्वपद, नामपद, आदिपद	२०३, २०५
ध्याता, ध्येय, ध्यान, ध्यानफल	२०४
निश्चय ध्यान का कारण शुभोपयोग	२०४
अरिहंत का स्वरूप	२०५
अरिहंत निश्चय से शरीर रहित	२०६
परमौदारिक शरीर सात धातु रहित	२०६
१८ दोषों के नाम	२०६
'अरिहंत' शब्द का अर्थ	२०६
सर्वज्ञ की सिद्धि	२०६
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-अन्तरित पदार्थ	२०६
अनुमान, पक्ष, हेतु दृष्टान्त आदि	२०६
हेतुदोष	२०६
बुद्धिहीन को शास्त्र अनुपकारी	२१०
णमोसिद्धाणं का ध्यान निश्चय को कारण	२११
सिद्धों का स्वरूप तथा सिद्ध निश्चय से निराकार, व्यवहार से साकार	२११, २१२
सिद्ध चरमशरीर से किंचित ऊन	२१२
निश्चय पंचाचार, व्यवहार कारण	२१२, २१४
आचार्य-स्वरूप व निश्चय पंचाचार	२१३
अंतरंग तप को बहिरंगतप कारण	२१४
निश्चय स्वाध्याय	२१४
उपाध्याय का स्वरूप	२१५
साधु का स्वरूप तथा बाह्य-आभ्यन्तर मोक्षमार्ग के साधक	२१६
व्यवहार व निश्चय आराधना	२१६
निज आत्मा ही पंचपरमेष्ठी रूप है	२१७
ध्येय, ध्याता व ध्यान का लक्षण	२१८
पंच-परमेष्ठी ध्येय हैं	२१९
निष्पन्न अवस्था में निज आत्मा ध्येय	२१९
चौबीस परिग्रह	२१९
नाना पदार्थ ध्यान करने योग्य	२१९
व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय रत्नत्रय	२१९
शुद्धोपयोग एक देश शुद्ध निश्चय	२१९
परम ध्यान का स्वरूप व नामांतर	२१९
तप-श्रुत-व्रत-धारी ही ध्याता	२२२
तप-श्रुत-व्रत का लक्षण व भेद	२२३
ध्यान की सामग्री	२२३, २२४
व्रत से पुण्य, तो ध्यान का कारण कैसे	२२४
महाव्रत भी एक देश व्रत क्यों	२२५
त्याग का लक्षण	२२५
'महाव्रत के त्याग' का अर्थ	२२५
निश्चय व्रत	२२५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
भरत चक्री ने भी व्रत धारे	२२५
पंचम काल में ध्यान	२२६
उत्सर्ग व अपवाद से ध्यान का कथन	२२६
उत्तमसंहनन व १४पूर्वके अभाव में ध्यान	२२६
द्रव्यश्रुतज्ञानाभाव में भी अष्टप्रवचनमात्र भाव-श्रुत से केवल-ज्ञानोत्पत्ति	२२७
शिवभूति मुनिके द्रव्यश्रुतज्ञानाभाव	२२७
१२ वें गुणस्थान में जघन्य श्रुतज्ञान	२२८
पंचमकाल में परम्परा से मोक्ष	२२८
भेदाभेद रत्नत्रयकी भावना से संसार-स्थिति स्तोक	२२८
उसी भव में मोक्ष होने का नियम नहीं	२२८
अल्पश्रुत ज्ञान से ध्यान	२२८
दुर्ध्यान का लक्षण	२२९
मोक्ष के विषय में नयविचार	२२९
बंधपूर्वक मोक्ष	२२९
शुद्ध निश्चय नय से न बंध, न मोक्ष	२३०
द्रव्य-भाव मोक्ष जीव-स्वभाव नहीं	२३०
द्रव्य व भाव-मोक्ष का फलभूत अनन्त ज्ञान आदि जीव का स्वभाव	२३०, २३२
पर्यायमोक्ष एक देशशुद्धनिश्चयनय से	२३०
निश्चय-मोक्ष ध्येय है, ध्यान नहीं	२३०

विषय	पृष्ठ
शुद्ध-द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक-भाव-निश्चयमोक्ष जीव में पहले से विद्यमान है	२३०
जीव का लक्षण शुद्धपारिणामिकभाव अविनाशी	२३०
'आत्मा' शब्द का अर्थ	२३१
'अद्वैत-जीव-वाद' का खंडन	२३२
अनन्तज्ञान जीव का लक्षण	२३०, २३२
'अध्यात्म' शब्द का अर्थ	२३२
ग्रंथकार की अन्तिम भावना	२३२
टीकाकार की भावना	२३४

लघु-द्रव्य-संग्रह	२३५-२३९
बृहद्-द्रव्य-संग्रह गाथाः	२४०-२४४
बृ.द्र.सं. गाथा वर्णानुक्रमिका	२४५
ल.द्र.सं. गाथा वर्णानुक्रमिका	२४६
संकेत-सूची	२४६
उद्धृत पद्य वर्णानुक्रमिका	२४७-२४८
पारिभाषिक शब्द-सूची	२४९-२६२
उद्धृत वाक्य वर्णानुक्रमिका	२६२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धि-पत्र

भूल से, भ्रम से तथा अज्ञान से, जो अशुद्धि रह गई; उनके लिये।
यद्यपि यह 'शुद्धि-पत्र' लगा दिया, शेष करना ठीक विज्ञों के लिये॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	भोजदेवा	भोजदेवा
२	४,१८	दव्वं	दव्वं
२	१०	ने	×
२	११	जो	×
३	८	दुषियप्पो	दुवियप्पो
३	६	कर्म	कर्म
४	७	दव्वं···णिद्दिट्ठम्	दव्वं···णिद्दिट्ठं
४	८	सव्वदा	सव्वदा
५	३	किं	किं
५	६	बृन्द···'णिद्दट्ठ'	वृन्द···'णिद्दिट्ठ'
५	७	दव्वं	दव्वं
५	१०	चिच्ज्योतिः	चिज्ज्योतिः
५	१०	जीज्ञादि	जीवादि
६	१,१४	बृषभ	वृषभ
६	२	बृषभेणेति	वृषभेणेति
६	६	वप्तिश्च निर्विघ्न	वाप्तिश्च निर्विघ्नं
७	१२	पुनस्तत्	पुनस्तत्-
७	२४	अधिधेय	अभिधेय
८	११	कर्म्मा···वर्ण	कर्म्मा···वर्ण
८	२३	निर्मल;	निर्मल
६	१	भूतार्थं	भूतार्थ
६	२	बचन कायव्या	वचनकायव्या
६	१३	कंवल···नोद्धर्वं	केवल···नोद्धर्वं
१०	१	इढानीं	इदानीं
१०	६	आगमार्थः	आगमार्थः
१०	१०	भिनवाधि	भिनंवाधि
११	३	वीर्यं	वीर्यं
११	१३	अध्यात्म	अथ अध्यात्म
११	२५	जीव	जीव
१२	४	व्तवहार	व्यवहार
१२	५	पदार्थपुन	पदार्थः पुन
१२	७	षटकं	षट्कं
१३	४	द्वि	द्वि
१३	८	चक्षुर्दर्शन	चक्षुर्दर्शन
१३	१०	कर्मं	कर्म
१४	४	यदवधिं	यदवधि
१४	६,१५	ष्टक	ष्ट
१४	१०	अट्ठ	अट्ठ
१५	८	मुर्तामूर्त्तम्	मूर्त्तामूर्त्तं
१५	१२	संव्यबहार	संव्यवहार
१५	२७,२८	चरित्र	चारित्र
१६	४	स्वर्गापपर्गा	स्वर्गापवर्ग
१७	१४	जीव	जोव
१७	२०	पदार्थ जो	पदार्थ को जो
१८	२८	भावना एक	भावना में एक
१६	२६	रूखा, कड़ा	रूखा,नरम,कड़ा
२०	१	मूतः···कर्म	मूर्तः···कर्म
२०	२७	"क्रिया···र्तिक"	क्रिया···र्तिक,
२१	७	णिच्छियदो	णिच्छयदो
२१	२१	नौ	नो
२२	८	कम्म	कम्म
२३	१	णिच्छयणदो	णिच्छयणयदो
२४	२	णिच्चय	णिच्छय
२४	१२	नन्तरं	न्तरं
२५	२	समुद्घात	समुद्घात
२५	१७	अनुभव	अनुभव
२६	६	समुदूघातः	समुद्घातः
२६	११	णिच्छियणदो	णिच्छयणयदो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७४	६	उत्तवं	उत्तरं (रे)
७४	७	"परिणाम"	"परिणामि"
७५	१	परिणामाभ्यां	परिणामाभ्यां
८०	५	परिणामति	परिणमति
८०	५	निश्चपेन	निश्चयेन
८२	७	सभ्यग्दृष्टेस्तु	सम्यग्दृष्टेस्तु
८२	१०	परमत्थें	परमत्थे
८३	६	ता	तां
८८	१२	विज्ञेयेः	विज्ञेयः
९०	३	पवेसनं	पवेसणं
९६	७	लक्षण	लक्खण
९९	२	तास्तेया	तस्तेया
९९	९	ज्ञान दर्शन	ज्ञानदर्शन
१००	१०	भावशुद्धिः	भावशुद्धिः
१०४	२९	द्रव्यासंसार	द्रव्यसंसार
१०५	१३	श्रैण्य	श्रेण्य
१०६	११	मध्यमानि	मध्यमानि
१०७	८	अस्थि	अत्थि
१०७	९	सु पउरा	सुपउरा
१०८	६	परमोबन्धु	परमो बन्धु
१११	३	मास्रवा	मास्रवा
११२	८	निर्जरानुप्रेक्षा	निर्जरानुप्रेक्षां
११२	१०	गले	गलने
११४	७	मध्य	मध्ये
११५	५	कोऽर्थ ?	कोऽर्थः ?
११७	५	षटकं	षट्कं
११९	४	पञ्चमाणणं	पञ्चमाणाणं
११९	५	मासुरो	मसुरो
१२०	६	ससुद्र-	समुद्र-
१२०	१२	संख्ये	संख्येय
१२१	२	वंशा-	वंशा
१२३	९	गजदन्व	गजदन्त
१२४	४	सहस्रा	सहस्रा
१३०	१०	छप्प""बोधव्या	छप्प"बोधव्वा
१३१	३	इत्वाकार	इष्वाकार
१३१	५	सहस्र-	सहस्र-
१३२	१६	योजग	योजन
१३४	३०	घट	घट
१३६	३	चन्द्रास्य	चन्द्रस्य
१३६	८	अत्थण्ण""सुत्तो	अत्थण"सूत्रे
१३६	९	त्रिंशत	त्रिंशत
१३६	१३	विंशत्य	विंशत्य
१३७	१०	परिवेष्ठ्य	परिवेष्ट्य
१३९	१	मेरु	मेरू
१३९	३	सनत्कुमार	सानत्कुमार
१४०	४	ब्रह्मोत्तर	ब्रह्मोत्तर
१४०	७	इगत्तीस	इगतीस
१४०	७	दोण्णिए-	दोण्णिण्ए-
१४०	२३	अनुदिशा	अनुदिश
१४३	१	इंदियवसदा	इंदियवसदा य
१४३	६	वोधि	बोधि
१४३	२३	प्राणमुखता	पराङ्मुखता
१४४	९	णिच्चिदर	णिच्चिदर
१४५	४	रत्नत्रत	रत्नत्रय
१४७	३	छेदोपस्थानम्	छेदोपस्थापनम्
१४७	१९	पृवक्त्व	पृथक्त्व
१४८	७	व्याख्यान	व्याख्यानं
१४८	९	तानी	तानि
१४९	११	तत्सडनं	तत्सडनं
१५०	२	इत्याध्याहारः	इत्यध्याहारः
१५१	१	ज्ञानिनानामपि	ज्ञानिनामपि
१५१	२	तत्रौत्तरम्	तत्रोत्तरम्
१५१	४	कारनेन	कारणेन
१५२	८	हारणं	हारो
१५२	२०	राग आदिक	×
१५३	४	तद्यथा	तद्यथा
१५३	१३	सर्वकामु	सर्वकालमु
१५६	१	भावितकाल	भाविकाल
१५६	७	षष्ठम	षष्ठ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७	५	संख्ये पूर्ण	संख्येय""पूर्ण
२७	६	पुग्दल	पुद्गल
२८	२	पंवक्खा	पंचक्खा
२८	३	तेजो	तेजो
२८	८	कम""मूता	कर्म""भूता
२८	१६	(ये सब"" हैं)	ये सब""हैं
२८	१८	अल्पज्ञ, जीव	अल्पज्ञ जीव,
२९	१	स्त्रीन्द्रयाः	स्त्रीन्द्रियाः
३०	१०	इंन्दिय	इंदिय
३०	१२	चतुर्दश	चतुर्दश
३०	१३	वचि	वची
३०	२०	पाखंडी	पांखड़ी
३१	१	ति मस्सवे	तिमस्स वे
३२	३	सांसा-	संसा-
३२	७	अणियठ्ठि	अणियट्टि
३२	८	या।	य।
३३	२५	?	।
३४	९	एवातीव	एवातीत
३४	१२	परमात्मत्त्वै	परमात्मतत्त्वै
३४	२७	अतीव	अतीत
३४	३०	वांछदिरूप	वांछादिरूप
३५	१	पशमत्तपण	पशमनत्तपण
३५	२	गुण्थासन	गुणस्थान
३५	६	द्वादश	द्वादश
३५	७	विचार	वीचार
३५	१०	वर्तिनो	वर्तिनो
३५	१५	करेण	करण
३५	२३	अविचार	अवीचार
३६	७	गिजने	गिजिने
३८	६	द्वयम	द्वयम
३८	१५	जो	×
३८	१७	मार्गणा भी	मार्गणा में भी
३९	१४	ये	×
४०	११	सिद्धाः	सिद्धा
४०	१२	उप्पादएहिं	उप्पादव्वएहिं
४१	५	म्वशुद्धात्म	स्वशुद्धात्म
४२	२	पदार्थं-	पदार्थ-
४२	३	खेढरहितत्व	खेदरहितत्व
४३	१०	यन्तु	यस्तु
४३	१५	अनन्त	अनन्त
४४	२	वद्धं	बद्धं
४४	६	लाम्बु	लाबु
४४	७	स्वभावोर्द्धव	स्वभावोर्द्ध
४५	४	व्यव	व्यय
४६	९	सुगातः	सुगतः
४६	१६	"विष्णु"	"विष्णु"
४६	२४	परमात्मा	परमात्मा शिव है। काम क्रोधादि के जीतने से
४७	१२	मिथ्यासा	मिथ्यात्वसा
४८	१२	रुवादि	रूवादि
४९	५	चेचना	चेतना
५३	१	लक्षण	लक्षणा
५५	१६	अवस्वा	अवस्था
५८	१३	परमोट्ठो	परमट्ठो
५९	४	स्थिति	स्थितिः
६२	२५	(परम	(परम
६३	१	व्यय ध्रौव्या	व्ययध्रौव्या
६५	६	पल्लविएण	पलविएण
६५	११	ब्याख्यान	व्याख्यान
६५	२२	अमाव	अभाव
६८	३	सिद्धयती	सिद्धयती
७०	३	तिष्टति	तिष्ठति
७०	६	सहाकारि	सहकारि
७०	१३	सव्वण्हु	सव्वण्हु
७१	१०	पर्यायये	पर्यायै
७३	१	खुः	खु
७४	५	चउवरो	चउरो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	६	कुरु	कुरू
१५८	७	देशान्तार	देशान्तर
१५९	९	सप्तत्त्वा	सप्ततत्त्वा
१६१	२	तित्ति	तत्ति
१६३	१३	शद्दशैः	सदृशैः
१६४	२	गोतम	गौतम
१६४	१२	शेषः	शेषाः
१६६	८	ल-क्षण	लक्षण
१६८	७	रावणा	रावण
१७१	१	वस्त्राप्रावरणं	'वस्त्राप्रावरणं
१७१	१२	पुनस्तस्यैव	पुनस्तस्यैव
१७१	३१	×	१. 'वस्त्रप्रावरणं' इत्यपि पाठः
१७३	२	परित्युक्तं	परित्यक्तुं
१७३	७	परमात्व	परमात्म
१७६	७	गतिमुत्पन्न	गतिसमुत्पन्न
१७९	७	प्रथमानोयोगो	प्रथमानुयोगो
१८०	१३	बध''''रूपं,	वध ''' रूपं
१८२	११	शास्त्रा	शास्त्रा
१८५	७	मनः पर्पय	मनः पर्यय
१८७	९	कारणेना	कारणेना
१९१	१०	घादादो	घातादौ
१९४	१४	द्वियीय	द्वितीय
१९८	४	परम	परम्
१९९	२०	'पृथक्त्व	'पृथक्त्ववितर्क
२००	१५	सूक्ष्क	सूक्ष्म
२०३	९	ज्झाया। मुणिणो	ज्झाया मुणिणो।
२०४	१३	परमेष्ठिनां	परमेष्ठिनां
२०५	१०	कम्भो	कम्मो
२०९	२	भवान्तरिताः	भवान्तरिताः*
२०९	३१	×	*'स्वभावान्तरिताः' इत्यपिपाठः।
२११	३	परमेष्ठी	परमेष्ठि
२१३	१०	चैचन्य	चैतन्य
२१४	७	सम्बधं	सम्बन्धं
२१४	१०	स्वाध्यास्त	स्वाध्यायस्त
२१५	१	रयणत्तय	रयणत्तय
२१५	५	बाह्याभ्यन्तर	बाह्याभ्यन्तर
२१८	५	णिच्छियं	णिच्छयं
२१८	१४	परमेष्ठिचा	परमेष्ठचा
२१८	१७	भगवात्	भगवान्
२१८	२०	निःपृह	निष्पृह
२२०	६	विवेकी	विवेकि
२२२	३	ज्ञानोत्पत्ति	ज्ञानोत्पत्ति
२२६	५	कस्मादित	कस्मादिति
२२८	१३	मुक्ते	भुक्ते
२२९	५	संवेरे	संवरे
२३१	१	कमेव	कभावेन
२३२	६	लक्षणं	लक्षणं
२३३	१५	परिहार्थं	परिहारार्थं
२३५	९	पदेश	पदेश (स)
२३६	१८	प्ररिणयाण	परिणयाण
२३६	२५	गच्छांता	गच्छंता
२३८	१९	विणिम्मुक्को	विणिम्मुक्को
२३९	२१	ठाण	ठाण (ताण)
२४८	२/२७	भा.सं. ६४	भा. सं. ६९४

नोट:—'व' के स्थान पर 'ब' और 'ब' के स्थान पर 'व' तथा '९' के स्थान पर '९' छप गया है। भाषा टीका में गाथा के उद्धृत वाक्यों में यदि अशुद्धि हो तो उनको गाथा अनुसार शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

बृहद्द्रव्यसंग्रहः ।

[संस्कृतटीकया हिन्दीटीकया च समेतः]

श्रीब्रह्मदेवकृत-संस्कृतटीका ।

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।
स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥१॥
शुद्धजीवादिद्रव्याणां[1] देशकं च जिनेश्वरम् ।
द्रव्यसंग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥२॥ युग्मम् ।

अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्ति-सम्बन्धिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थ-करचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःख-भयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रिय-

---

निःसीमज्ञानादिकशक्तियुक्त जो शुद्ध प्रबुद्ध वसुकर्ममुक्त है ।
प्रणाम करता हूँ जिनेन्द्रदेव को त्रिलोक-वंद्य जो युक्तियुक्त है ॥

भावार्थ—त्रिलोक से वंदनीय, स्वाभाविक चैतन्य (ज्ञान) व आनन्द (सुख) मयी, कर्म रूपी मल से रहित, तथा अविनश्वर, ऐसे सिद्ध परमात्मा को और शुद्ध जीव आदि छह द्रव्यों का उपदेश देने वाले श्री जिनेन्द्र (अरिहन्त) भगवान को नमस्कार करके मैं (ब्रह्मदेव) द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के सूत्रों की वृत्ति (टीका) को संक्षेप से कहूंगा ॥१–२॥

वृत्त्यर्थ—मालवा देश में धारा नगरी के शासक कलिकालचक्रवर्ती 'भोजदेव' राजा का सम्बन्धी 'श्रीपाल' महामण्डलेश्वर (राज्य के कुछ अंश का शासक) था । उस श्रीपाल के 'आश्रम' नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के मन्दिर में 'सोम' सेठ के लिये 'श्रीनेमिचन्द्र'

---

१. 'तत्त्वानाम्' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्या वृत्तिः प्रारभ्यते। तत्रादौ "जीवमजीवं दव्वं" इत्यादि सप्तविंशतिगाथापर्यन्तं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः। तदनन्तरं "आसवबंधण" इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादनमुख्यतया द्वितीयो महाधिकारः। ततः परं "सम्मद्दंसणणाणं" इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गकथनमुख्यत्वेन[1] तृतीयोऽधिकारश्च। इत्यष्टाधिकपञ्चाशद्गाथाभिरधिकारत्रयं ज्ञातव्यम्।

सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लघु द्रव्यसंग्रह का पहले २६ गाथाओं में निर्माण किया था। वह सोम सेठ ने शुद्ध आत्म-द्रव्य के संवेदन से उत्पन्न होनेवाले सुखामृत रस के आस्वाद से विपरीत जो नरकादि के दुख से भयभीत था और परमात्मा की भावना से प्रगट होने वाले सुखरूपी अमृत रस का प्यासा था, भेद-अभेद रूप रत्नत्रय (निश्चय व्यवहार रूप रत्नत्रय-सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) भावना का बहुत प्रेमी था, भव्य जनों में श्रेष्ठ था तथा राजकोष (राज-खजाने) का कोषाध्यक्ष (खजानची) आदि अनेक राज-कार्यों का अधिकारी था। फिर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उस लघु द्रव्यसंग्रह को विशेष तत्त्वज्ञान कराने के लिये बढ़ाकर ५८ गाथाओं में रचा, उस बड़े द्रव्यसंग्रह के अधिकारों का विभाजन करते हुये मैं (ब्रह्मदेव) वृत्ति आरम्भ करता हूँ।

उस बृहद्द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्र में पहले "जीवमजीवं दव्वं" इस गाथा से लेकर "जीवदियं आयासं" इस सत्ताईसवीं गाथा तक जीव १; पुद्गल २; धर्म ३; अधर्म ४; आकाश ५ और काल ६ इन छः द्रव्यों का तथा जीव १; पुद्गल २; धर्म ३; अधर्म ४ और आकाश ५ इन पाँचों अस्तिकायों का वर्णन करने वाला षड्द्रव्य पंचास्तिकायप्रतिपादक नामक पहला अधिकार है। इसके बाद "आसवबंधणसंवर" इस गाथा से लेकर "सुहअसुहभावजुत्ता" इस अड़तीसवीं गाथा तक जीव १; अजीव २; आस्रव ३; बंध ४; संवर ५; निर्जरा ६ और मोक्ष ७ इन सातों तत्त्वों का और जीव १; अजीव २; आस्रव ३; बंध ४; संवर ५; निर्जरा ६; मोक्ष ७; पुण्य ८ और पाप ९ इन नव पदार्थों का मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला "सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक" नामक दूसरा महा अधिकार है। तदनन्तर "सम्मद्दंसणणाणं" इस गाथा से लेकर अगली बीस गाथाओं तक मुख्यता से मोक्षमार्ग का वर्णन करने वाला तीसरा अधिकार है। इस प्रकार अट्ठावन गाथाओं द्वारा तीन अधिकार जानने चाहियें।

१; 'मुख्यतया' इति पाठान्तरम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम् । ततः परं "अज्जीवो पुण णेओ" इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तमजीवद्रव्यकथनम् । ततः परं "एवं छब्भेयमिदं" एवं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायविवरणम् । इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारत्रयमवबोद्धव्यम् । तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा । जीवादिनवाधिकारसूचनरूपेण "जीवो उवओगमओ" इत्यादि द्वितीयसूत्रगाथा । तदनन्तरं नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति । तत्राप्यादौ जीवसिद्ध्यर्थं "तिक्कालं चदुपाणा" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयकथनार्थं "उवओगो दुवियप्पो" इत्यादिगाथात्रयम्, ततः परममूर्त्तत्वकथनेन "वण्णरसपंच" इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्वप्रतिपादनरूपेण "पुग्गलकम्मादीणं" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं भोक्तृत्वनिरूपणार्थं "ववहारा सुहदुक्खं" इत्यादिसूत्रमेकम्, ततः परं स्वदेहप्रमितिसिद्ध्यर्थं "अणुगुरुदेहपमाणो" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, ततोऽपि संसारिजीवस्वरूपकथनेन

उन तीनों अधिकारों में भी आदि का जो पहला अधिकार है उस में १४ गाथा द्वारा "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" इस गाथा तक जीवद्रव्य का व्याख्यान है । उसके आगे "अज्जीवो पुण णेओ" इस गाथा से लेकर "लोया यासपदेसे" गाथा तक की आठ गाथाओं में अजीवद्रव्य का वर्णन है । तदनन्तर "एवं छब्भेयमिदं" इस गाथा से लेकर पाँच गाथाओं में "जावदियं आयासं" इस गाथा तक पाँच अस्तिकायों का वर्णन करने वाला तीसरा अन्तराधिकार है । इस तरह प्रथम अधिकार में तीन अन्तराधिकार समझने चाहियें । प्रथम अधिकार के पहले अन्तराधिकार में जो चौदह गाथाएँ हैं उनमें नमस्कार की मुख्यता से पहली गाथा है । जीव आदि नव ९ अधिकारों के सूचना रूप से "जीवो उवओगमओ" दूसरी सूत्र गाथा है । इसके पश्चात् नौ अधिकारों का विशेष वर्णन करने रूप बारह गाथाएँ हैं । उन १२ सूत्रों में भी प्रथम ही जीव की सिद्धि के लिये "तिक्काले चदुपाणा" इत्यादि एक गाथा है । इसके बाद ज्ञान और दर्शन इन दोनों उपयोगों को कहने के लिये "उवओगो दुवियप्पो" इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं । तदनन्तर जीव की अमूर्त्तता का कथन रूप "वण्णरसपंचगंधा" एक गाथासूत्र है । तत्पश्चात् जीव के कर्मकर्तृता का प्रतिपादन करने रूप "पुग्गलकम्मादीणं" एक गाथासूत्र है । इसके पीछे जीव के कर्मफलों के भोक्तापने का कथन करने के लिये "ववहारा सुहदुक्खं" इत्यादिक एक गाथा है । उसके पीछे जीव को अपने देह-प्रमाण सिद्ध करने के लिये "अणुगुरुदेहपमाणो" एक गाथासूत्र है । इसके बाद संसारी जीव के स्वरूप का कथन करने रूप "पुढविजल तेउवाऊ" आदि तीन गाथासूत्र हैं । इसके अनन्तर "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" गाथा के पूर्वार्ध में जीव के सिद्ध-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"पुढविजलतेउवाऊ" इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तरं "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" इति प्रभृतिगाथापूर्वार्धेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभावः। इति नमस्कारगादिचतुर्दशगाथामेलापकेन प्रथमाधिकारे समुदायपातनिका।

अथेदानीं गाथापूर्वार्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्धेन च मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठम्।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

जीवमजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम्।
देवेन्द्रवृन्दवंद्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥ १ ॥

व्याख्या—'वंदे' इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। 'वंदे' एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनालक्षणभावस्तवनेन तथा च असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च 'वंदे' नमस्करोमि।

स्वरूप का कथन किया है और उत्तरार्ध में जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का वर्णन किया है। इस प्रकार नमस्कारगाथा से लेकर जो चौदह गाथासूत्र हैं, उनका मेल करने से प्रथम अधिकार में समुदाय रूप से पातनिका का कथन है।

अब गाथा के पूर्वार्ध द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन कहता हूं, और गाथा के उत्तरार्ध से मङ्गल के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करता हूँ, इस अभिप्राय को मन में रखकर भगवान "श्रीनेमिचन्द्र आचार्य" प्रथम सूत्र कहते हैं :—

गाथार्थ—मैं (नेमिचन्द्र आचार्य) जिस जिनवरों में प्रधान ने जीव और अजीव द्रव्य का वर्णन किया, उस देवेन्द्रादिकों के समूह से वंदित तीर्थङ्कर परमदेव को सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

वृत्त्यर्थः—'वंदे' इत्यादि पदों का क्रियाकारकभावसंबन्ध से पदखंडना रीतिद्वारा व्याख्यान किया जाता है। "वंदे" एक देश शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से निज-शुद्ध आत्मा का आराधन करने रूप भावस्तवन से और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उस निज-शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करने वाले वचनरूप द्रव्यस्तवन से नमस्कार करता हूं। तथा परमशुद्ध निश्चयनय से वन्द्यवन्दक भाव नहीं है। (अर्थात् एकदेश शुद्धनिश्चयनय और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वंद्यवन्दकभावो नास्ति । स कः कर्ता ? अहं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः । कथं वन्दे ? "सव्वदा" सर्वकालम् । केन ? "सिरसा" उत्तमाङ्गेन । "तं" कर्मतापन्नं । तं कं ? वीतरागसर्वज्ञम् । किं विशिष्टम् ? 'देविंदविंदवंदं' मोक्षपदाभिलाषिदवेन्द्रादिवन्द्यम्, "भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा । कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ ॥ १ ॥" इति गाथाकथितलक्षणेन्द्राणां शतेन वन्दितं[1] देवेन्द्रवृन्दवन्द्यम् । "जेण" येन भगवता । किं कृतं ? "णिद्दिट्ठं"[2] निर्दिष्टं कथितं प्रतिपादितम् । किं ? "जीवमजीवं दव्वं" जीवाजीवद्रव्यद्वयम् । तद्यथा,—सहजशुद्धचैतन्यादिलक्षणं जीवद्रव्यं, तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तथैव चिच्चमत्कारलक्षणशुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायानां, परमचिज्ज्योतिःस्वरूपशुद्धजीवादिसप्ततत्त्वानां निर्दोषपरमात्मादिनवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम् । पुनरपि कथम्भूतेन[2] भगवता ? "जिणवरवसहेण" जितमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वराः गणधर-

---

असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जिनेन्द्रदेव वन्दनीय हैं और मैं वन्दना करने वाला हूं किन्तु परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वन्द्यवन्दक भाव नहीं है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् और मेरा आत्मा समान है ।) वह नमस्कार करने वाला कौन है ? मैं द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ का निर्माता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव हूं । कैसे नमस्कार करता हूं ? "सव्वदा" सदा, "शिरसा" शिर झुका करके नमस्कार करता हूं । "तं" वन्दना क्रिया के कर्मपने को प्राप्त । किसको नमस्कार करता हूं ? उस वीतरागसर्वज्ञ को । वह वीतरागसर्वज्ञ देव कैसा है ? "देविंदविंदवंदं" मोक्ष पद के अभिलाषी देवेन्द्रादि से वन्दनीक है । 'भवनवासी देवों के ४० इन्द्र, व्यन्तर देवों के ३२ इन्द्र; कल्पवासी देवों के २४ इन्द्र; ज्योतिष्क देवों के चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्यों का १ इन्द्र—चक्रवर्ती तथा तिर्यञ्चों का १ इन्द्र सिंह ऐसे सब मिल कर १०० इन्द्र हैं ॥ १ ॥' इस गाथा में कहे १०० इन्द्रों से वंदनीय है । जिस भगवान् ने क्या किया है ? "णिद्दिट्ठं" कहा है । क्या कहा है ? "जीवमजीवं दव्वं" जीव और अजीव दो द्रव्य कहे हैं । जैसे कि स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य आदि लक्षणवाला जीव द्रव्य है, और इससे विलक्षण गुणी यानी—अचेतन १ पुद्गल; २ धर्म; ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल, इन पांच भेदों वाला अजीव द्रव्य है । तथा चित्चमत्काररूप लक्षणवाला शुद्ध जीव-अस्तिकाय, एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं । परमज्ञान-ज्योति-स्वरूप शुद्ध जीव तथा अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं और दोषरहित परमात्मा जीव आदि नौ पदार्थ हैं; उन सबका स्वरूप कहा है । पुनः वे भगवान् कैसे हैं ? "जिणवरवसहेण" मिथ्यात्व तथा राग आदि को जीतने के कारण असंयतसम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन हैं,

---

१; 'वंद्यत्वात्' इति पाठान्तरम् । २; 'कथम्भूतेन ? केन भगवता जिणवरवसहेण' इति पाठान्तरम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देवास्तेषां जिनवराणां वृषभः प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थंकरपरमदेवस्तेन जिनवरवृषभेणेति। अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः। तथा चोक्तं—"श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः। इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ १ ॥" अत्र गाथापरार्द्धेन—"नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्न शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः ॥ २ ॥" इति श्लोककथितफलचतुष्टयं समीक्षमाणा ग्रन्थकाराः शास्त्रादौ त्रिधा देवतायै त्रिधा नमस्कारं कुर्वन्ति। त्रिधा देवताकथ्यते। केन प्रकारेण ? इष्टाधिकृताभिमतभेदेन। इष्टः स्वकीयपूज्यः (१)। अधिकृतः—ग्रन्थस्यादौ प्रकरणस्य वा नमस्करणीयत्वेन विवक्षितः (२)। अभिमतः—सर्वेषां लोकानां विवादं विना सम्मतः (३)। इत्यादिमङ्गलव्याख्यानं सूचितम्। मङ्गलमित्युपलक्षणम्। उक्तं च—मङ्गलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं। वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ ॥ १ ॥"

उनमें जो वर-श्रेष्ठ हैं वे जिनवर यानी गणधरदेव हैं, उन जिनवरों-गणधरों में भी जो प्रधान है; वह जिनवरवृषभ' अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं। उन जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये हैं, इति।

आध्यात्मिक शास्त्र में यद्यपि सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार करना उचित है तो भी व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर जिनेन्द्र के उपकार-स्मरण करने के लिये अर्हत्परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। ऐसा कहा भी है कि "अर्हत्परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्ष-मार्ग की सिद्धि होती है। इसलिये प्रधान मुनियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में अर्हत्परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है ॥ १ ॥" यहां गाथा के उत्तरार्ध से "१ नास्तिकता का त्याग; २ सभ्य पुरुषों के आचरण का पालन; ३ पुण्य की प्राप्ति और ४ विघ्न-विनाश, इन चार लाभों के लिये शास्त्र के आरम्भ में इष्टदेव की स्तुति की जाती है ॥ १ ॥" इस तरह श्लोक में कहे हुए चार फलों को देखते हुए शास्त्रकार तीन प्रकार के देवता के लिये मन, वचन और काय द्वारा नमस्कार करते हैं। तीन प्रकार के देवता कहे जाते हैं। किस प्रकार ? इष्ट; अधिकृत और अभिमत ये तीन भेद हैं। 'इष्ट'—अपने द्वारा पूज्य वह इष्ट है (१)। 'अधिकृत'—ग्रन्थ अथवा प्रकरण के आदि में नमस्कार करने के लिये जिस की विवक्षा की जाती है वह अधिकृत है (२)। 'अभिमत'—विवाद बिना सब लोगों को सम्मत हो; वह अभिमत है (३)। इस तरह मङ्गल का व्याख्यान किया।

यहाँ मङ्गल यह उपलक्षण पद है। कहा भी है कि "आचार्य १ मङ्गलाचरण; २ शास्त्र बनाने का निमित्त-कारण; ३ शास्त्र का प्रयोजन; ४ शास्त्र का परिमाण यानी श्लोक-संख्या; ५ शास्त्र का नाम और शास्त्र का कर्ता, इन छः अधिकारों को बतला करके शास्त्र का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"वक्खाणउ" व्याख्यातु । स कः ? "आयरिओ" आचार्यः । कं ? "सत्थं" शास्त्रं । "पच्छा" पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वं ? "वागरिय" व्याकृत्य व्याख्याय । कान् ? "छप्पि" षडप्यधिकारान् । कथंभूतान् ? "मङ्गलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं" मङ्गलं निमित्तं हेतुं परिमाणं नाम कर्तृसंज्ञामिति । इति गाथाकथितक्रमेण मङ्गलाद्यधिकारषट्कमपि ज्ञातव्यम् । गाथापूर्वार्धेन तु सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि सूचितानि । कथमिति चेत्?— विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मस्वरूपादिविवरणरूपो वृत्तिग्रन्थो व्याख्यानम् । व्याख्येयं तु तत्प्रतिपादकसूत्रम् । इति व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धो विज्ञेयः । यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्तं तदेवाभिधानं वाचकं प्रतिपादकं भण्यते, अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमात्मादिस्वभावोऽभिधेयो वाच्यः प्रतिपाद्यः । इत्यभिधानाभिधेयस्वरूपं बोधव्यम् । प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम् । परमनिश्चयेन पुनस्तत्फलरूपा केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूता निजात्मोपादानसिद्धानन्तसुखावाप्तिरिति । एवं नमस्कारगाथा व्याख्याता ।

अथ नमस्कारगाथायां प्रथमं यदुक्तं जीवद्रव्यं तत्सम्बन्धे नवाधिकारान्

व्याख्यान करे ॥ १ ॥" इस गाथा में कहे हुए मङ्गल आदि ६ अधिकार भी जानने चाहियें । गाथा के पूर्वार्ध से सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन सूचित किया है । कैसे सूचित किया है ? इसका उत्तर यह है कि निर्मल ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव-धारक जो परमात्मा है, उसके स्वरूप को विस्तार से कहने वाली जो वृत्ति है, वह तो व्याख्यान है और उसके प्रतिपादन करने वाले जो गाथा सूत्ररूप हैं वह व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) हैं । इस प्रकार व्याख्यानव्याख्येयरूप "सम्बन्ध" जानना चाहिये । और जो व्याख्यान करने योग्य सूत्र है वही अभिधान अर्थात् वाचक कहलाता है । तथा अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणों का आधार जो परमात्मा आदि का स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथन करने योग्य विषय है । इस प्रकार "अभिधान-अभिधेय का" स्वरूप जानना चाहिये । व्यवहारनय की अपेक्षा से 'षट्द्रव्य आदि का जानना' इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । और निश्चयनय से अपने निर्लेप शुद्ध आत्मा के ज्ञान से प्रगट हुआ जो विकाररहित परम आनन्दरूपी अमृत रस का आस्वादन करने रूप जो स्वसंवेदन ज्ञान है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । परम निश्चयनय से उस आत्मज्ञान के फलरूप-केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के बिना न होने वाली और निज आत्मारूप उपादान कारण से सिद्ध होने वाली ऐसी जो अनन्त सुख की प्राप्ति है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । इस तरह पहली नमस्कार-गाथा का व्याख्यान किया है ।

अब 'नमस्कारगाथा में जो प्रथम ही जीवद्रव्य कहा गया है, उस जीवद्रव्य के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संक्षेपेण सूचयामीति अभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य कथनसूत्रमिति निरूपयति :—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥

जीवः उपयोगमयः अमूर्त्तिः कर्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥ २ ॥

व्याख्या—"जीवो" शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीवः । "उवओगमओ" शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वात् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति । "अमुत्ति" यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्म्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्त्तस्तथापि परमार्थेनामूर्त्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्त्तः । "कत्ता" यद्यपि

सम्बन्ध में नौ अधिकारों को मैं संक्षेप से सूचित करता हूँ ।' इस अभिप्राय को मन में धारण करके श्रीनेमिचन्द्र आचार्य जीव आदि नौ अधिकारों को कहने वाले सूत्र का निरूपण करते हैं :—

गाथार्थ—जो जीता है; उपयोगमय है; अमूर्तिक है; कर्ता है; अपने शरीर के बराबर है; भोक्ता है; संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थः—"जीवो" यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि, मध्य और अन्त से रहित, निज तथा अन्य का प्रकाशक, अविनाशी उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य लक्षणवाले निश्चय प्राणों से जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अनादिकर्मबन्धन के वश अशुद्ध द्रव्यप्राण और भावप्राण से जीता है; इसलिये जीव है । "उवओगमओ" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पूर्ण निर्मल; केवल ज्ञान व दर्शन दो उपयोगमय जीव है; तो भी अशुद्धनय से क्षायोपशमिक-ज्ञान और दर्शन से बना हुआ है; इस कारण ज्ञानदर्शनोपयोगमय है । "अमुत्ति" यद्यपि जीव व्यवहारनयसे मूर्त्तिककर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाली मूर्त्तिसे सहित होने के कारण मूर्त्तिक है; तो भी निश्चयनय से अमूर्त्तिक, इन्द्रियों के अगोचर, शुद्ध, बुद्धरूप एक स्वभाव का धारक होने से अमूर्त्तिक है । "कत्ता" यद्यपि यह जीव निश्चयनय से क्रियारहित, टंकोत्कीर्ण—अविचल ज्ञायक एक स्वभाव का धारक है; तथापि व्यवहारनयसे मन, वचन, काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भूतार्थनयेन निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं जीवः तथाप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्मकर्तृत्वात् कर्त्ता। "सदेहपरिमाणो" यद्यपि निश्चयेन मद्वज्जशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः। "भोक्ता" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्ता, तथाप्यशुद्धनयेन तथाविधसुखामृतभोजनाभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्ता । "संसारत्थो" यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निःसंसारनित्यानन्दैकस्वभावस्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठतीति संसारस्थः। "सिद्धो" व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धस्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धः। "सो" स एवं गुणविशिष्टो जीवः। "विस्ससोड्ढगई" यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्द्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्ध्वगतिश्चेति। अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन

सहित होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला होनेसे कर्त्ता है। "सदेहपरिमाणो" यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादि कर्मबंधवशात् शरीर कर्म के उदय से उत्पन्न, संकोच तथा विस्तार के अधीन होने से, घट आदि में स्थित दीपक की तरह, अपने देह के बराबर है। "भोक्ता" यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से रागादिविकल्प रूप उपाधियों से रहित तथा अपनी आत्मा से उत्पन्न सुख रूपी अमृत का भोगने वाला है, तो भी अशुद्धनय की अपेक्षा इस प्रकार के सुख अमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न दुख का भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है। "संसारत्थो" यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसार रहित है और नित्य आनन्द एक स्वभाव का धारक है, फिर भी अशुद्धनय की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पाँच प्रकार के संसार में रहता है; इस कारण संसारस्थ है। "सिद्धो" यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज-आत्मा की प्राप्तिस्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है; तोभी निश्चयनय से अनन्त ज्ञान और अनन्त-गुण-स्वभाव होने से सिद्ध है। "सो" वह इस प्रकार के गुणों से युक्त जीव है। "विस्ससोड्ढगई" यद्यपि व्यवहार से चार गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय-वश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है, फिर भी निश्चयनय से केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमें पहुँचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यहाँ पर खंडान्वय के ढंग से शब्दों का अर्थ कहा; तथा शुद्ध, अशुद्ध नयों के विभाग से नय का अर्थ भी कहा है। अब मत का अर्थ कहते हैं। चार्वाक के लिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नयार्थोऽप्युक्तः। इदानीं मतार्थः कथ्यते। जीवसिद्धिश्चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति, संसारस्थव्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थः पुनः "अस्त्यात्मानादिबद्धः" इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयम्, शेषं च हेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः। इति जीवादिनवाधिकारसूचनसूत्रगाथा ॥ २ ॥

अतः परं द्वादशगाथाभिर्नवाधिकारान् विवृणोति, तत्रादौ जीवस्वरूपं कथयतिः—

तिक्काले चदुपाणा इन्दियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ ३ ॥

त्रिकाले चतुःप्राणा इन्द्रियं बलं आयुः आनप्राणश्च।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतस्तु चेतना यस्य ॥ ३ ॥

जीव की सिद्धि की गई है। नैयायिक के लिये जीव का ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण का कथन है। भट्ट तथा चार्वाक के प्रति जीव का अमूर्त स्थापन है, 'आत्मा कर्म का कर्ता है' ऐसा कथन सांख्य के प्रति है। 'आत्मा अपने शरीर प्रमाण है', यह कथन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य इन तीनों के प्रति है। 'आत्मा कर्मों का भोक्ता है' यह कथन बौद्ध के प्रति है। 'आत्मा संसारस्थ है' ऐसा वर्णन सदाशिव के लिये है। 'आत्मा सिद्ध है' यह कथन भट्ट और चार्वाक के प्रति है। 'जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है' यह कथन मण्डलीक मतानुयायी के लिये है। इस तरह मत का अर्थ जानना चाहिये। 'अनादिकाल से कर्मों से बँधा हुआ आत्मा है' इत्यादि आगम का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। शुद्ध नय के आश्रित जो जीव का स्वरूप है वह तो उपादेय यानी—ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है। इस प्रकार हेयोपादेयरूप से भावार्थ भी समझना चाहिये। इस तरह शब्द; नय; मत; आगमार्थ; भावार्थ यथासम्भव व्याख्यान के समय में सब जगह जानना चाहिये। इस तरह जीव आदि नौ अधिकारों को सूचित करने वाली यह दूसरी गाथा है ॥ २ ॥

अब इसके आगे १२ गाथाओं द्वारा नौ अधिकारों का विवरण कहते हैं। उनमें पहले जीव का स्वरूप कहते हैं:—

गाथार्थ—तीन काल में इन्द्रिय; बल; आयु; श्वास-निश्वास इन चारों प्राणों को जो धारण करता है व्यवहारनय से वह जीव है। निश्चयनय से जिसके चेतना है, वही जीव है।३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"तिकाले चदुपाणा" कालत्रये चत्वारः प्राणा भवन्ति । ते के "इंदियबलमाउआणपाणो य" अतीन्द्रियशुद्धचैतन्यप्राणात्प्रतिशत्रुपक्षभूतः क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राणः, अनन्तवीर्यलक्षणबलप्राणादनन्तैकभागप्रमिता मनोवचनकायबलप्राणाः, अनाद्यनन्तशुद्धचैतन्यप्राणविपरीततद्विलक्षणः सादिः सान्तश्चायुः प्राणः, उच्छ्वासपरावर्त्तोत्पन्नखेदरहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरीतसदृश आनपानप्राणः । "ववहारा सो जीवो" इत्थंभूतैश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासंभवं जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात्स जीवः; द्रव्येन्द्रियादिद्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादिः क्षायोपशमिकभावप्राणाः पुनरशुद्धनिश्चयेन, सत्ताचैतन्यबोधादिः शुद्धभावप्राणाः निश्चयेनेति । "णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स" शुद्धनिश्चयनयतः सकाशादुपादेयभूता शुद्धचेतना यस्य स जीवः; एवं "वच्छरक्खभवसारिच्छ, सग्गणिरयपियराय । चुल्लयहंडिय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय ॥ १ ॥" इति दोहककथितनवदृष्टान्तैश्चार्वाकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवसिद्धिव्याख्यानेन गाथा गता । अध्यात्मभाषया नयलक्षणं कथ्यते । सर्वेजीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः; इति शुद्धनिश्चयनयलक्षणम् । रागादय

वृत्त्यर्थः—"तिकाले चदुपाणा" तीन काल में जीव के चार प्राण होते हैं । वे कौन से ? "इंदियबलमाउआणपाणो य" इन्द्रियों के अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसके प्रतिपक्षभूत क्षायोपशमिक (क्षयोपशम से होने वाले) इन्द्रिय प्राण है, अनन्त-वीर्यरूप जो बलप्राण है उसके अनन्तवें भाग के प्रमाण मनोबल, वचनबल और कायबल प्राण हैं; अनादि, अनन्त तथा शुद्ध जो चैतन्य प्राण है उससे विपरीत एवं विलक्षण सादि (आदि सहित) और सान्त (अन्त सहित) आयु प्राण है; श्वासोच्छ्वास के आने जाने से उत्पन्न खेद से रहित जो शुद्ध चित्-प्राण है उससे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है । "ववहारा सो जीवो" व्यवहारनय से, इस प्रकार के चार द्रव्य व भाव प्राणों से जो जीता है; जीवेगा या पहले जी चुका है, वह जीव है । अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं; और अशुद्ध निश्चयनय से भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भावप्राण हैं; और निश्चयनय से सत्ता, चैतन्य, बोध आदि शुद्धभाव जीव के प्राण हैं । "णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स" शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उपादेयभूत यानी ग्रहण करने योग्य शुद्ध चेतना जिसके हो वह जीव है । "वच्छ रक्ख भवसारिच्छ सग्गणिरय पियराय । चुल्लय हंडय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय ।" १. वत्स—जन्म लेते ही बछड़ा पूर्वजन्म के संस्कार से, बिना सिखाये अपने आप ही माता के स्तन पीने लगता है । २. अक्षर—अक्षरों का उच्चारण जीव जानकारी के साथ आवश्यकतानुसार करता है; जड़ पदार्थों में शब्द उच्चारण में यह विशेषता नहीं होती । ३. भव—आत्मा यदि एक स्थायी पदार्थ न हो तो जन्म-ग्रहण किसका होगा ? ४. सादृश्य—आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, हर्ष, विषाद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एव जीवाः इत्यशुद्धनिश्चयनयलक्षणम् । गुणगुणिनोरभेदोऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम् । भेदेऽपि सत्यभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षणं चेति । तथा हि—जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसंज्ञा शुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । जीवस्यमतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरितसंज्ञाऽशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । 'मदीयोदेहमित्यादि' संश्लेषसंबन्धसहितपदार्थपुनरनुपचरितसंज्ञाऽसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । यत्र तु संश्लेषसंबन्धोनास्ति तत्र 'मदीयः पुत्र इत्यादि' उपचरिताभिधानासद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतम् । संक्षेपेणनयषटकं ज्ञातव्यमिति ॥ ३ ॥

अथ गाथात्रयपर्यन्तं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं कथ्यते । तत्र प्रथमगाथायां मुख्यवृत्त्या दर्शनोपयोगव्यख्यानं करोति । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथा-

---

आदि सब जीवों में एक समान दृष्टिगोचर होते हैं। ५–६. स्वर्ग–नरक—जीव यदि स्वतंत्र पदार्थ न हो तो स्वर्ग में जाना तथा नरक में जाना किसके सिद्ध होगा। ७. पितर—अनेक मनुष्य मर कर भूत आदि हो जाते हैं और फिर अपने पुत्र, पत्नी आदि को कष्ट, सुख आदि देकर अपने पूर्व भव का हाल बताते हैं। ८. चूल्हा हंडी—जीव यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच भूतों से बन जाता हो तो दाल बनाते समय चूल्हे पर रक्खी हुई हंडिया में पांचों भूत पदार्थों का संसर्ग होने के कारण वहाँ भी जीव उत्पन्न हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। ९. मृतक—मुर्दा शरीर में पांचों भूत पदार्थ पाये जाते हैं; किन्तु फिर भी उसमें जीव के ज्ञान आदि नहीं होते। इस तरह जीव एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है। इस दोहे में कहे हुए नौ दृष्टान्तों द्वारा चार्वाकमतानुयायी शिष्यों को समझाने के लिए जीव की सिद्धि के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई। अब अध्यातम भाषा द्वारा नय का लक्षण कहते हैं। "सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले हैं।" यह शुद्ध निश्चय नय का लक्षण है। "रागादि ही जीव हैं" यह अशुद्ध निश्चय नय का लक्षण है। "गुण और गुणों का अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना" यह सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। 'भेद होने पर भी अभेद का उपचार" यह असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। विशेष इस प्रकार है—'जीव के केवल ज्ञान आदि गुण हैं' यह अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। जीव के मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं' यह उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है। 'संश्लेष संबंध सहित पदार्थ शरीरादि मेरे हैं' अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। 'जिनका संश्लेष संबंध नहीं हैं, ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं' यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है। यह नय चक्र का मूल है। संक्षेप में यह छह नय जाननी चाहिए ॥ ३ ॥

अब तीन गाथा पर्यन्त ज्ञान तथा दर्शन इन दो उपयोगों का वर्णन करते हैं। उनमें भी पहली गाथा में मुख्य रूप से दर्शनोपयोग का व्याख्यान करते हैं। जहाँ पर यह कथन हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संभवमन्यदपि विवक्षितं लभ्यत इति ज्ञातव्यम् :—

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥ ४ ॥

उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्धा ।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—"उवओगो दुवियप्पो" उपयोगो द्विविकल्पः "दंसणणाणं च" निर्विकल्पकं दर्शनं सविकल्पकं ज्ञानं च, पुनः "दंसणं चदुधा" दर्शनं चतुर्धा भवति "चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं" चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमथ अहो केवलदर्शनमिति विज्ञेयम् । तथाहि—आत्मा हि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिसमस्त-वस्तुसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीनः सन् चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमाद्बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं निर्विकल्पम् संव्यवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनं। तथैव स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीयस्वकीय-

---

कि 'अमुक विषय का मुख्यता से वर्णन करते हैं'; यहाँ पर 'गौणता से अन्य विषय का भी यथासंभव कथन प्राप्त होता है' यह जानना चाहिये:—

गाथार्थः—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान। उनमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ऐसे चार प्रकार का जानना चाहिये ॥ ४ ॥

वृत्त्यर्थः—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान। दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है। दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन, ऐसा जानना चाहिये।

विशेष विवरणः—आत्मा तीन लोक और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों में रहने वाले संपूर्ण द्रव्य सामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवलदर्शन स्वभाव है उसका धारक है; किन्तु अनादि कर्मबन्ध के अधीन होकर चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक पदार्थ के सत्ता सामान्य को जो कि संव्यवहार से प्रत्यक्ष है किन्तु निश्चय से परोक्षरूप है उसको एक देश से विकल्प-रहित जो देखता है वह चक्षुदर्शन है; उसी तरह स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्णइन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और अपनी-अपनी बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक सत्तासामान्य को परोक्षरूप एक देश से जो विकल्परहित देखता है वह अचक्षुदर्शन है। और इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा सहकारी कारण रूप जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् । तथैव च मनइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्सहकारिकारणभूताष्टदलपद्माकारद्रव्यमनोऽवलम्बनाच्च मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेण यत्पश्यति तन्मानसमचक्षुर्दर्शनम् । स एवात्मा यदवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्तवस्तुगतसत्तासामान्यं निर्विकल्परूपेणैकदेशप्रत्यक्षेण यत्पश्यति तदवधिदर्शनम् । यत्पुनः सहजशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसंवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति तदुपादेयभूतं क्षायिकं केवलदर्शनं ज्ञातव्यमिति ।४।

अथाष्टकविकल्पं ज्ञानोपयोगं प्रतिपादयति :—

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५

ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि ।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च ॥ ५ ॥

व्याख्या—"णाणं अट्ठवियप्पं" ज्ञानमष्टविकल्पं भवति । "मदिसुदिओहीअणाणणाणाणि" अत्राष्टकविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति तान्येव शुद्धात्मादितत्त्वविषये

आठ पांखड़ी के कमल के आकार द्रव्य मन है उसके अवलम्बन से मूर्त्त तथा अमूर्त्त समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्तासामान्य को परोक्ष रूप से विकल्परहित जो देखता है वह मानस अचक्षुदर्शन है । वही आत्मा अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त्त वस्तु में सत्तासामान्य को एक देश प्रत्यक्ष से विकल्परहित जो देखता है, वह अवधिदर्शन है । तथा सहज शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप का धारक परमात्म तत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल-दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त्त, अमूर्त्त वस्तु के सत्तासामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्परहित जो देखता है उसको उपादेय रूप क्षायिक केवलदर्शन जानना चाहिये ॥ ४ ॥

अब आठ भेद सहित ज्ञानोपयोग प्रतिपादन करते हैं:—

गाथार्थः—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार का ज्ञान है । इनमें कुअवधि, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं और शेष चार परोक्ष हैं ॥ ५ ॥

वृत्त्यर्थः—"णाणं अट्ठवियप्पं" ज्ञान आठ प्रकार का है । "मदिसुदिओही अणाणणाणाणि" उन आठ प्रकार के ज्ञानों में मति, श्रुत तथा अवधि ये तीन मिथ्यात्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन सम्यग्दृष्टिजीवस्य सम्यग्ज्ञानानि भवन्ति । "मणपज्जवकेवलमवि" मनः पर्ययज्ञानं केवलज्ञानमप्येवमष्टविधं ज्ञानं भवति । "पच्चक्खपरोक्खभेयं च" प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च । अवधिमनःपर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं विभङ्गावधिरपि देशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं; शेषचतुष्टयं परोक्षमिति ।

इतोविस्तरः—आत्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूपस्तावत् । स च व्यवहारेणानादिकर्मबन्धपच्छादितः सन् मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियमनोऽवलम्बनाच्च मुर्तामूर्त्तम् वस्त्वेकदेशेन विकल्पाकारेण परोक्षरुपेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षायोपशमिकं मतिज्ञानम् । किञ्च छद्मस्थानां वीर्यान्तरायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षयो ज्ञानचारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः । संव्यवहारलक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते । संव्यवहारे भवं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि । तथैव श्रुतज्ञाना-

---

के उदय के वश से विपरीताभिनिवेश रूप अज्ञान होते हैं इसीसे कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि [विभंगावधि] इनके नाम हैं; तथा वे ही मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञान आत्मा आदि तत्त्व के विषय में विपरीत श्रद्धा न होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान होते हैं। इस तरह कुमति आदि तीन अज्ञान और मति आदि तीन ज्ञान; ज्ञान के ये ६ भेद हुए तथा "मणपज्जवकेवलमपि" मनःपर्यय और केवल ज्ञान ये दोनों मिलकर ज्ञान के सब आठ भेद हुए। "पच्चक्खपरोक्खभेयं च" प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है। इन आठों में अवधि और मनःपर्यय ये दोनों तथा विभंगावधि तो देश प्रत्यक्ष है और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है; शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं।

विस्तार—जैसे आत्मा निश्चयनय से पूर्ण, विमल अखंड एक प्रत्यक्ष केवल ज्ञानस्वरूप है। वही आत्मा व्यवहारनय से अनादिकालीन कर्मबन्ध से आच्छादित हुआ, मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से मूर्त्त और अमूर्त्त वस्तु को एक देश से विकल्पाकार परोक्ष रूप से अथवा संव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से जो जानता है वह क्षायोपशमिक "मतिज्ञान" है। छद्मस्थों के तो वीर्यान्तराय का क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञान चरित्र आदि की उत्पत्ति में सहकारी कारण है और केवलियों के वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय, ज्ञान चरित्र आदि की उत्पत्ति में सर्वत्र सहकारी कारण है; ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए। अब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं—समीचीन अर्थात् ठीक जो व्यवहार है वह संव्यवहार कहलाता है; संव्यवहार का लक्षण प्रवृत्ति निवृत्ति रूप है। संव्यवहार में जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। जैसे—यह घटका रूप मैंने देखा इत्यादि। ऐसे ही श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्तामूर्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते । किञ्च विशेषः—शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत्, स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षं, यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत् परोक्षम्; यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते । अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवतीति ? परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम्, यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं

नो इन्द्रिय मन के अवलम्बन से प्रकाश और अध्यापक आदि बहिरंग सहकारी कारण के संयोग से मूर्त्ति तथा अमूर्त्तिक वस्तु को; लोक तथा अलोक को व्याप्ति रूप ज्ञान से जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष "श्रुतज्ञान" कहते हैं। इसमें विशेष यह है कि शब्दात्मक जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है ही; तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध कराने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और जो आभ्यन्तर में सुख दुःख विकल्परूप मैं हूं अथवा मैं अनन्त ज्ञान आदि रूप हूं; इत्यादिक ज्ञान है वह ईषत् (किंचित्) परोक्ष है। तथा जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख (सन्मुख) होने से सुखसंवित्ति-सुखानुभव-स्वरूप है और वह निज आत्मज्ञान के आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो रागादि विकल्पसमूह हैं, उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्प है; और अभेद नय से वही ज्ञान 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक् चारित्र के बिना नहीं होता; वह ज्ञान यद्यपि केवल ज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है, तथापि संसारियों को क्षायिक ज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी "प्रत्यक्ष" कहलाता है।

यहां पर शिष्य शंका करता है कि "आद्ये परोक्षम्" इस तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

अब शंका का उत्तर देते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्र में जो श्रुत को परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और 'भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है' यह अपवाद की अपेक्षा से कथन है । यदि तत्त्वार्थसूत्र में उत्सर्ग का कथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा जाता ? और यदि वह सूत्र में परोक्ष ही कहा गया है तो तर्कशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति । तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम् । यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानम्, तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते । यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा । तथैव च स एवात्मा, अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम् । यत्पुनर्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदीहामतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम् । तथैव निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्र्यध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेक समये समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकं सर्वप्रकारोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति ॥ ५ ॥

अथ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसंहारः कथ्यते :—

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् ।
व्यवहारात् शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम् ॥ ६ ॥

कैसे हुआ ? इसलिए जैसे अपवाद व्याख्यान से परोक्षरूप मतिज्ञान को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है वैसे ही अपने आत्मा के सन्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष है तो भी उसको प्रत्यक्ष कहा जाता है । यदि एकान्त से ये मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दुःख आदि का जो स्वसंवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा । किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है । उसी तरह वही आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्तिक पदार्थ जो एक देश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह "अवधिज्ञान" है । तथा जो मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा पर के मन में प्राप्त हुए मूर्त्त पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है वह ईहा मतिज्ञान पूर्वक "मनःपर्यय ज्ञान" है । एवं अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य के यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप एकाग्र ध्यान द्वारा केवल ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर जो उत्पन्न होता है वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव को ग्रहण करने वाला और सब प्रकार से उपादेय (ग्रहण करने योग्य) "केवल ज्ञान" है ॥ ५ ॥

अब ज्ञान, दर्शन दोनों उपयोगों के व्याख्यान का नय-विभाग द्वारा उपसंहार कहते हैं:—

गाथार्थः—व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक है वह सामान्य रूप से जीव का लक्षण है और शुद्ध नय की अपेक्षा जो शुद्ध ज्ञान, दर्शन है वह जीव का लक्षण कहा गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं" अष्टविधं ज्ञानं चतुर्विधं दर्शनं सामान्यं जीवलक्षणं भणितम्। सामान्यमिति को-ऽर्थः संसारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति। तदपि कथमितिचेद् ? विवक्षाया अभावः सामान्यलक्षणमिति वचनात्। कस्मात् सामान्यम् जीवलक्षणं भणितम् ? "ववहारा" व्यवहारात् व्यवहारनयात्। अत्र केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, छद्मस्थ-ज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारः, कुमतिकुश्रुतविभङ्गत्रये पुनरुपचरितासद्भूतव्यवहारः। "सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं" शुद्धनिश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञानदर्शनद्वयं जीवलक्षणमिति। किञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्देन विवक्षितार्थपरिच्छित्तिलक्षणोऽर्थग्रह-णव्यापारो गृह्यते। शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयविवक्षायां पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभ-शुद्धभावनैकरूपमनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति। अत्र सहजशुद्धनिर्विकारपरमानन्दैकलक्ष-

---

वृत्त्यर्थः—"अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं" आठ प्रकार का ज्ञान तथा चार प्रकार का दर्शन सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा गया है।

यहाँ पर सामान्य इस कथन का यह तात्पर्य है कि इस लक्षण में संसारी तथा मुक्त जीव की विवक्षा नहीं है, अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञान दर्शन की भी विवक्षा नहीं है।

सो कैसे ? इस शंका का उत्तर यह है कि "विवक्षा का अभाव ही सामान्य का लक्षण है" ऐसा कहा है। किस अपेक्षा से जीव का सामान्य लक्षण कहा है ? इसका उत्तर यह है कि "ववहारा" अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा है। यहाँ केवल ज्ञान, केवल दर्शन के प्रति शुद्ध-सद्भूत शब्द से वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार है और छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से अशुद्ध-सद्भूत-शब्द से वाच्य उपचरित-सद्भूत-व्यवहार है; तथा कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि इनमें उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय है।

"सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं" शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अखंड केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन ये दोनों जीव के लक्षण हैं। यहाँ ज्ञान दर्शनरूप उपयोग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित पदार्थ के जानने रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा में उपयोग शब्द से शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावना एक रूप अनुष्ठान जानना चाहिये। यहाँ सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्द रूप साक्षात् उपादेय जो अक्षय सुख है उसका उपादान कारण होने से केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दोनों उपादेय हैं। इस प्रकार नैयायिक के प्रति गुण, गुणी अर्थात् ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रस्य साक्षादुपादेयभूतस्यात्मसुखस्योपादानकारणत्वात् केवलज्ञानदर्शनद्वयमुपादेयमिति। एवं नैयायिकं प्रति गुणगुणिभेदैकान्तनिराकरणार्थमुपयोगव्याख्यानेन गाथात्रयं गतम् ॥ ६ ॥

अथामूर्त्तातीन्द्रियनिजात्मद्रव्यसंवित्तिरहितेन मूर्त्तपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च यदुपार्जितं मूर्तं कर्म तदुदयेन व्यवहारेण मूर्तोऽपि निश्चयेनामूर्तो जीव इत्युपदिशति :—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ ७ ॥

वर्णाः रसाः पंच गन्धौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे।
नो संति अमूर्त्तिः ततः व्यवहारात् मूर्त्तिः बन्धतः ॥ ७ ॥

व्याख्या—"वण्ण रस पञ्च गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति" श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः, तिक्तकटुकषायाम्लमधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः, सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकर्कशगुरुलघुसंज्ञा अष्टौ स्पर्शाः, "णिच्छया" शुद्धनिश्चयनयात् शुद्धबुद्धैकस्वभावे शुद्धजीवे न

और आत्मा इन दोनों के एकान्त रूप से भेद के निराकरण के लिये उपयोग के व्याख्यान द्वारा तीन गाथा समाप्त हुईं ॥ ६ ॥

अब अमूर्त्तिक तथा अतीन्द्रिय निज आत्मा के ज्ञान से रहित होने के कारण तथा मूर्त्त जो पांचों इन्द्रियों के विषय हैं उनमें आसक्ति के द्वारा जीव ने जो मूर्त्तिक कर्म उपार्जन किया है उसके उदय मे व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव मूर्त्तिक है तथापि निश्चयनय से अमूर्त्तिक है ऐसा उपदेश देते हैं:—

गाथार्थः—निश्चयनय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं; इसलिये जीव अमूर्त्तिक है और व्यवहारनय की अपेक्षा कर्म-बँध होने के कारण जीव मूर्त्तिक है ॥ ७ ॥

वृत्त्यर्थः—"वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति" सफेद, पीला, नीला, लाल तथा काला ये पांच वर्ण; चरपरा, कडुआ, कषायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस; सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध तथा ठंडा, गर्म, चिकना, रूखा, कड़ा, भारी और हलका यह आठ प्रकार के स्पर्श शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध स्वभाव-धारक शुद्ध जीव में नहीं हैं। "अमुत्ति तदो" इस कारण यह जीव अमूर्त्तिक है अर्थात् मूर्ति-रहित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्ति । "अमुत्ति तदो" ततः कारणादमूर्तः । यद्यमूर्तस्तर्हि तस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् ? "ववहारा मुत्ति" अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो यतः । तदपि कस्मात् ? 'बंधादो" अनन्तज्ञानाद्युपलम्भलक्षणमोक्षविलक्षणादनादिकर्मबन्धनादिति । तथा चोक्तम्—कथंचिन्मूर्तामूर्तजीवलक्षणम्—"बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं । तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स ॥ १ ॥" अयमत्रार्थः—यस्यैवामूर्तस्यात्मनः प्राप्त्यभावादनादिसंसारे भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्तो मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरंतरं ध्यातव्यः । इति भट्टचार्वाकमतं प्रत्यमूर्तजीवस्थापनमुख्यत्वेन सूत्रं गतम् ॥ ७ ॥

अथ निष्क्रियामूर्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावेन कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यवहारादिनयविभागेन कर्ता भवतीति कथयति :—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः ।
चेतनकर्मणां आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥ ८ ॥

शंकाः—यदि जीव अमूर्तिक है तो इस जीव के कर्म का बँध कैसे होता है ?

उत्तरः—"ववहारा मुत्ति" क्योंकि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव मूर्तिक है; अतः कर्म-बँध होता है ।

शंकाः—जीव मूर्त्त भी किस कारण से है ?

उत्तरः—"बंधादो" अनंतज्ञान आदि की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उस मोक्ष से विपरीत अनादि कर्मों के बन्धन के कारण जीव मूर्त्त है । कथंचित् मूर्त्त तथा कथंचित् अमूर्त्त जीव का लक्षण है । कहा भी है :—कर्मबंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उस कर्मबंध की भिन्नता है इसलिये एकान्त से जीव के अमूर्तभाव नहीं है । १ । इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि संसार में भ्रमण किया है उसी अमूर्तिक शुद्धस्वरूप आत्मा को मूर्त्त पांचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार भट्ट और चार्वाक के प्रति जीव को मुख्यता से अमूर्त्त सिद्ध करने वाला सूत्र कहा ॥ ७ ॥

अब "क्रिया-शून्य अमूर्तिक" टंकोत्कीर्ण (टांकी से उकेरी हुई मूर्ति समान अविचल) ज्ञायक एक स्वभाव से जीव यद्यपि कर्म आदि के कर्त्तापने से रहित है फिर भी व्यवहार आदि नय की अपेक्षा कर्त्ता होता है, ऐसा कहते हैं:—

गाथार्थः—आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है; निश्चयनय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध भावों का कर्त्ता है ॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—अत्र सूत्रे भिन्नप्रक्रमरूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपदं गृहीत्वा व्याख्यानं क्रियते। "आदा" आत्मा "पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु" पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतस्तु पुनः, तथाहि—मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्ननुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघटपटादीनां च कर्ता भवति। "णिच्छियदो चेदणकम्माणादा" निश्चयनयतश्चेतनकर्मणां तद्यथा रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचैतन्यभावनारहितेन यदुपार्जितं रागाद्युत्पादकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसंवित्तिमलभमानो भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायः पिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। "सुद्धणया सुद्धभावाणं" शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन

वृत्त्यर्थः—इस सूत्र में भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित संबन्ध से बीच के पद को ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है। "आदा" आत्मा "पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु" व्यवहार नय की अपेक्षा से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है। जैसे—मन, वचन तथा शरीर की क्रिया से रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व की जो भावना है उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिंड रूप नौ कर्म हैं उनका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से बाह्य विषय घट, पट आदि का भी यह जीवकर्त्ता होता है। "णिच्छयणयदो चेदणकम्माणादा" और निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा चेतन कर्मों का कर्त्ता है। वह इस तरह—राग आदि विकल्प उपाधि से रहित निष्क्रिय, परमचैतन्य भावना से रहित होने के कारण जीव ने राग आदि को उत्पन्न करने वाले कर्मों का जो उपार्जन किया है उन कर्मों का उदय होने पर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्द से वाच्य जो रागादि विकल्प रूप चेतन—कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चय नय से कर्त्ता होता है। अशुद्ध निश्चय का अर्थ यह है—कर्म-उपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय (उसी रूप) होने से निश्चय कहा जाता है, इस रीति से अशुद्ध और निश्चय इन दोनों को मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। "सुद्धणया सुद्धभावाणं" जब जीव शुभ, अशुभ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति । किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानाम् एव कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति । यतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजात्मस्वरूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्या । एवं सांख्यमतं प्रत्येकान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ ८ ॥

अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सांसारिकसुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति :—

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ९ ॥

व्यवहारात् सुखदुःखं पुद्गलकर्मफलं प्रभुङ्क्ते ।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः ॥ ९ ॥

व्याख्या—"ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि" व्यवहारात् सुखदुःखरूपं पुद्गलकर्मफलं प्रभुंक्ते । स कः कर्त्ता ? "आदा" आत्मा ।

मन, वचन, काय इन तीनों योगों के व्यापार से रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव से परिणमन करता है तब अनंत ज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावों का छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप से विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से कर्त्ता होता है और मुक्त अवस्था में शुद्ध निश्चय नय से अनंतज्ञानादि शुद्ध भावों का कर्त्ता है । किन्तु परिणमन करते हुए शुद्ध, अशुद्ध भावों का कर्तृत्व जीव में जानना चाहिये और हस्त आदि के व्यापार रूप परिणमनों का कर्तापन न समझना चाहिए । क्योंकि नित्य; निरंजन; निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव के कर्म आदि का कर्तृत्व कहा गया है; इसलिये उस निज शुद्ध आत्मा में ही भावना करनी चाहिये । इस तरह सांख्यमत के प्रति "एकान्त से जीव कर्त्ता नहीं है" इस मत के निराकरण की मुख्यता से गाथा समाप्त हुई ॥ ८ ॥

अब यद्यपि आत्मा शुद्ध नय से विकाररहित परम आनन्द रूप लक्षण वाले ऐसे सुख रूपी अमृत को भोगने वाला है तो भी अशुद्ध नय से सांसारिक सुख-दुःख का भी भोगने वाला है, ऐसा कहते हैं:—

गाथार्थः— व्यवहार नय से आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चय नय से अपने चेतन भाव को भोगता है ॥ ९ ॥

वृत्त्यर्थः—"ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि" व्यवहार नय की अपेक्षा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"णिच्छयणदो चेदणभावं आदस्स" निश्चयनयतश्चेतनभावं भुंक्ते । "खु" स्फुटम् । कस्य सम्बन्धिनमात्मनः स्वस्येति । तद्यथा—आत्माहि निजशुद्धात्मसंवित्ति समुद्भूतपारमार्थिकसुखसुधारसभोजनमलभमान उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं भुंक्ते; तथैवानुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभ्यन्तरे सुखदुःखजनकं द्रव्यकर्म्मरूपं सातासातोदयं भुंक्ते । स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षविषादरूपं सुखदुःखं च भुंक्ते । शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणं सुखामृतं भुंक्त इति । अत्र यस्यैव स्वाभाविकसुखामृतस्य भोजनाभावादिन्द्रियसुखं भुञ्जानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रायः । एवं कर्ता कर्मफलं न भुंक्त इति बौद्धमतनिषेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रं गतम् ॥ ६ ॥

अथ निश्चयेन लोकप्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेदयति :—

से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलों को भोगता है। वह कर्म फलों का भोक्ता कौन है? "आदा" आत्मा। "णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स" और निश्चय नय से तो स्पष्ट रीति से चेतन भाव का ही भोक्ता आत्मा है। वह चेतन भाव किस सम्बन्धी है? आत्मा का अपना ही है। वह ऐसे—अपने शुद्ध आत्मअनुभव से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस का भोजन न प्राप्त करता हुआ आत्मा, उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट, अनिष्ट पांचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है; उसी तरह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अन्तरंग में सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाले द्रव्य कर्म रूप साता-असाता के उदय को भोगता है। तथा अशुद्ध निश्चय नय से वह ही आत्मा हर्ष, विषाद रूप सुख-दुःख को भोगता है और शुद्ध निश्चय नय से तो परमात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनन्द रूप वाले सुखामृत को भोगता है। यहाँ पर जिस स्वाभाविक सुखामृत के भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियों के सुखों को भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है, वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार "कर्त्ता कर्म के फल को नहीं भोगता है" इस बौद्ध मत का खंडन करने के लिये "जीव कर्मफल का भोक्ता है" यह व्याख्यान रूप सूत्र समाप्त हुआ ॥६॥

"आत्मा यद्यपि निश्चय नय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों का धारक है फिर भी व्यवहार नय से अपनी देह के बराबर है" यह बतलाते हैं:—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥ १० ॥

अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्पतः चेतयिता ।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा ॥ १० ॥

व्याख्या—"अणुगुरुदेहपमाणो" निश्चयेनस्वदेहाद्भिन्नस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशेरभिन्नस्य निजशुद्धात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहममत्वमूलभूताहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाप्रभृतिसमस्तरागादिविभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपार्जितं शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहपमाणो भवति । स कः कर्ता ? "चेदा" चेतयिता जीवः । कस्मात् ? "उवसंहारप्पसप्पदो" उपसंहारप्रसर्पतः शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः । कोऽत्र दृष्टान्तः ? यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति । पुनरपि कस्मात् ? 'असमुहदो' असमुद्घातात् वेदनाकषाय-

---

गाथार्थः—समुद्घात के बिना यह जीव व्यवहार नय से संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से असंख्यात प्रदेशों का धारक है ॥ १० ॥

वृत्त्यर्थः—"अणुगुरुदेहपमाणो" निश्चय नय से अपने देह से भिन्न तथा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों की राशि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूल भूत आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञा आदि; समस्त राग आदि विभावों में आसक्ति के होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म उपार्जन किया उसका उदय होने पर अपने छोटे तथा बड़े देह के बराबर होता है। प्रश्नः—शरीर प्रमाण वाला कौन है ? उत्तरः—"चेदा" चेतन अर्थात् जीव है। प्रश्नः—किस कारण से ? उत्तरः—"उवसंहारप्पसप्पदो" संकोच तथा विस्तार स्वभाव से। यानी—शरीर नाम कर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोच रूप जीव के धर्म हैं; उनसे यह जीव अपने देह के प्रमाण होता है। प्रश्नः—यहाँ दृष्टान्त क्या है ? उत्तरः—जैसे दीपक किसी बड़े पात्र से ढक दिया जाता है तो दीपक उस पात्र के भीतर प्रकाशित करता है और यदि छोटे पात्र में रख दिया जाता है तो उस पात्र के भीतर प्रकाशित करता है। प्रश्नः—फिर अन्य किस कारण से यह जीव देहप्रमाण है ? उत्तरः—"असमुहदो" समुद्घात के न होने से। वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक सात समुद्घातों के न होने से जीव शरीर के बराबर होता है। (समुद्घात की दशा में तो जीव देह से बाहर भी रहता है किन्तु समुद्घात के बिना देहप्रमाण ही रहता है)। सात समुद्घातों का लक्षण इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विक्रियामारणान्तिकतैजसाहारककेवलिसंज्ञसप्तसमुद्घातवर्जनात् । तथा चोक्तं सप्त-समुद्घातलक्षणम्—"वेयणकसायवेउव्वियमारणंतिओ समुग्घादो । तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ १ ॥" तद्यथा—"मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमणं देहादो हवदि समुग्घादयं णाम ॥ १ ॥" तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्घातः । १ । तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति कषायसमुद्घातः । २ । मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घातः । ३ । मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति मारणान्तिकसमुद्घातः । ४ । स्वस्य मनोनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजन-प्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव

कहा है—"१. वेदना; २. कषाय; ३. विक्रिया; ४. मारणान्तिक; ५. तैजस; ६. आहार और ७. केवली ये सात समुद्घात हैं।" इनका स्वरूप यों है—"अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के कुछ प्रदेश देह से बाहर निकल कर उत्तरदेह के प्रति जाते हैं उसको समुद्घात कहते हैं।" तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, सो "वेदना" समुद्घात है। १। तीव्र क्रोधादिक कषाय के उदय से अपने धारण किये हुए शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिये शरीर के बाहर जाते हैं उसको "कषाय" समुद्घात कहते हैं। २। किसी प्रकार की विक्रिया (छोटा या बड़ा शरीर अथवा अन्य शरीर) उत्पन्न करने के लिये मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसको "विक्रिया" समुद्घात कहते हैं। ३। मरण के समय में मूल शरीर को न त्याग कर जहाँ इस आत्मा ने आगामी आयु बाँधी है उसके छूने के लिये जो आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो "मारणान्तिक" समुद्घात है। ४। अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोधित संयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्ति वाला; बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण मूल-विस्तार और नौ योजन के अग्र-विस्तार वाला; काहल (दिलाव) के आकार का धारक पुरुष निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधी हो उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलकर द्वारिका नगरी को भस्म करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभस्तेजः समुद्घातः। लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभाकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजः समुद्घातः। ५। समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसंपन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारसमुद्घातः। ६। सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्घातः। ७।

नयविभागः कथ्यते—"ववहारा" अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात्। "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः। 'वा' शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया

पुतला आप भी भस्म हो गया। सो "अशुभ तैजस" समुद्घात है। तथा जगत् को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयमनिधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण; सौम्य आकृति का धारक पुरुष दाएँ कन्धे से निकल कर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जावे यह "शुभ तैजस समुद्घात" है। ५। पद और पदार्थ में जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋद्धि के धारक महर्षि के मस्तक में से मूल शरीर को न छोड़कर, निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकल कर अन्तर्मुहूर्त में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है तब उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कराकर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जावे, सो "आहारक समुद्घात" है। ६। केवलियों के जो दंड कपाट प्रतर लोक पूर्ण होता है, सो सातवां केवलि समुद्घात है। ७।

अब नयों का विभाग कहते हैं। "ववहारा" अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव अपने शरीर के बराबर है तथा "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" निश्चय नय से लोकाकाश प्रमाण जो असंख्य प्रदेश हैं उन प्रमाण असंख्यात प्रदेशों का धारक यह आत्मा है। "असंखदेसो वा" यहाँ जो 'वा' शब्द दिया है उस शब्द से ग्रन्थकर्त्ता ने यह सूचित किया है कि स्वसंवेदन (आत्मअनुभूति) से उत्पन्न हुए केवल ज्ञान की उत्पत्ति की अवस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा लोक; अलोक व्यापक है। किन्तु नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य मत अनुयायी जिस तरह आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः; न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवत्। तथैव पञ्चेन्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकाले स्वसंवेदनलक्षणबोधसद्भावेऽपि बहिर्विषयेन्द्रियबोधाभावाज्जडः, न च सर्वथा सांख्यमतवत्। तथा रागादिविभावपरिणामापेक्षया शून्योऽपि भवति, न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया बौद्धमतवत्। किञ्च—अणुमात्रशरीरशब्देनात्र उत्सेधघनाङ्गुलासंख्येभागप्रमितं लब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरं ग्राह्यम्, न च पुद्गलपरमाणुः। गुरुशरीरशब्देन च योजनसहस्रपरिमाणं महामत्स्यशरीरं मध्यमावगाहेन मध्यमशरीराणि च। इदमत्रतात्पर्यम्—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा संसारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्वं त्यक्त्वा निर्मोहनिजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति। एवं स्वदेहमात्रव्याख्यानेन गाथा गता ॥ १० ॥

अतः परं गाथात्रयेण नयविभागेन संसारिजीवस्वरूपं तदवसाने शुद्धजीवस्वरूपं च कथयति। तद्यथा :—

मानते हैं, वैसा नहीं है। इसी तरह पांचों इन्द्रियों और मन के विषयों के विकल्पों से रहित जो ध्यान का समय है उस समय आत्म-अनुभव रूप ज्ञान के विद्यमान होने पर भी बाहरी विषय रूप इन्द्रिय ज्ञान के अभाव से आत्मा जड़ माना गया है परन्तु सांख्य मत की तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है। इसी तरह आत्मा राग द्वेष आदि विभाव परिणामों की अपेक्षा से (उनके न होने से) शून्य होता है, किन्तु बौद्ध मत के समान अनन्त ज्ञानादि की अपेक्षा शून्य नहीं है।

विशेष—अणुमात्र शरीर आत्मा है, यहाँ अणु शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म-निगोद शरीर है, उस शरीर का ग्रहण करना चाहिये किन्तु पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिये। एवं गुरु शरीर शब्द से एक हजार योजन प्रमाण जो महामत्स्य का शरीर है उसको ग्रहण करना चाहिये, और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों का ग्रहण है। तात्पर्य यह है—जीव देह के साथ ममत्व के निमित्त से देह को ग्रहण कर संसार में भ्रमण करता है, इसलिये देह आदि के ममत्व को छोड़कर निर्मोह अपने शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये। इस प्रकार 'जीव स्वदेह-मात्र है' इस व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥ १० ॥

अब तीन गाथाओं द्वारा नय विभाग पूर्वक संसारी जीव का स्वरूप और उसके अन्त में शुद्ध जीव का स्वरूप कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ ११ ॥

पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्वित्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः ॥ ११ ॥

व्याख्या—"होंति" इत्यादिव्याख्यानं क्रियते । "होंति" अतीन्द्रियामूर्तनिजपरमात्मस्वभावानुभूतिजनितसुखामृतरसस्वभावमलभमानास्तुच्छमपेन्द्रियसुखमभिलषन्ति छद्मस्थाः, तदासक्ताः सन्त एकेन्द्रियादिजीवानां घातं कुर्वन्ति तेनोपार्जितं यत्त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयेन जीवा भवन्ति । कथंभूता भवन्ति ? "पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी" पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । कतिसंख्योपेता ? विविधा आगमकथितस्वकीयस्वकीयान्तर्भेदैर्बहुविधाः । स्थावरनामकर्मोदयेन स्थावरा, एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेन स्पर्शनेन्द्रियसहिता एकेन्द्रियाः, न केवलमित्थंभूताः स्थावरा भवन्ति । "विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा" द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षास्त्रसनामकर्मोदयेन त्रसजीवा भवन्ति । ते च कथंभूताः ? "संखादी" शङ्खादयः । स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वययुक्ताः शङ्खशुक्तिकृम्यादयो द्वीन्द्रियाः । स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियत्रय-

---

गाथार्थः—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं और (ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक हैं) तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं । ११ ।

वृत्त्यर्थः—यहाँ 'होंति' आदि पदों की व्याख्या की जाती है । 'होंति' अल्पज्ञ, जीव अतीन्द्रिय अमूर्तिक अपने परमात्म स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस को न पा करके, इन्द्रियों से उत्पन्न तुच्छ सुख की अभिलाषा करते हैं । उस इन्द्रियजनित सुख में आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवों का घात करते हैं; उस जीव-घात से उपार्जन किये त्रस, स्थावर नाम कर्म के उदय से स्वयं त्रस, स्थावर होते हैं । किस प्रकार होते हैं ? "पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदीविविहथावरेइन्दी" पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति जीव होते हैं । वे कितने हैं ? अनेक प्रकार के हैं । शास्त्र में कहे हुए अपने २ अवान्तर भेद से बहुत प्रकार के हैं । स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर, एकेन्द्रिय जाति कर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं । इस प्रकार से केवल स्थावर ही नहीं होते बल्कि "विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा" दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियों वाले त्रस नाम कर्म के उदय से त्रस जीव भी होते हैं । वे कैसे हैं ? "संखादी" शंख आदि । स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों वाले शंख, कृमि, सीप आदि दो इन्द्रिय जीव हैं । स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

युक्ताः कुन्थुपिपीलिकायूकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ता दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियपञ्चयुक्ता मनुष्यादयः पञ्चेन्द्रिया इति । अयमत्रार्थः—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखमलभमाना इन्द्रियसुखासक्ता एकेन्द्रियादिजीवानां वधं कृत्वा त्रसस्थावरा भवन्तीत्युक्तं पूर्वं तस्मात्त्रसस्थावरोत्पत्तिविनाशार्थं तत्रैव परमात्मनि भावना कर्त्तव्येति । ११ ।

तदेव त्रसस्थावरत्वं चतुर्दशजीवसमासरूपेण व्यक्तीकरोति :—

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ १२ ॥

समनस्काः अमनस्काः ज्ञेयाः पंचेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे ।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाः सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ॥ १२ ॥

व्याख्या:—"समणा अमणा" समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविल-

---

तीन इन्द्रियों वाले कुन्थु, पिपीलिका (कीड़ी), जूं, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र इन चार इन्द्रियों वाले डांस, मच्छर, मक्खी, भौंरा, वर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियों वाले मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं। सारांश यह है कि निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको न पाकर जीव इन्द्रियों के सुख में आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा करते हैं उससे त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं, इस कारण त्रस, स्थावरों में जो उत्पत्ति होती है, उसको मिटाने के लिये उसी पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा में भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

अब उसी त्रस तथा स्थावर पन को १४ जीवसमासों द्वारा प्रकट करते हैं:—

गाथार्थः—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो तरह के जानने चाहियें, शेष सब जीव मन रहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं। और ये सब जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त होते हैं। (पंचेन्द्रिसंज्ञी, पंचेन्द्रिय असंज्ञी, दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से जीव समास १४ होते हैं)। ॥ १२ ॥

वृत्त्यर्थः—"समणा अमणा" समस्त शुभ अशुभ विकल्पों से रहित जो परमात्मरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते, तेन सह ये वर्त्तन्ते ते समनस्काः संज्ञिनः, तद्विपरीता अमनस्का असंज्ञिनः। "णेया" ज्ञेया ज्ञातव्याः। "पंचिंदिय" ते संज्ञिनस्तथैवासंज्ञिनश्च पञ्चेन्द्रियाः। एवं संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव। "णिम्मणा परे सव्वे" निर्मनस्काः पञ्चेन्द्रियात्सकाशात् परे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः। "बादरसुहमेइंदी" बादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि यदष्टपत्रपद्माकारं द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादिग्राहकं भावमनश्चेति तदुभयाभावादसंज्ञिन एव। "सव्वे पज्जत्त इदरा य" एवमुक्तप्रकारेण संज्ञ्यसंज्ञिरूपेण पञ्चेन्द्रियद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रयं बादरसूक्ष्मरूपेणैकेन्द्रियद्वयं चेति सप्त भेदाः। "आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो। चत्तारिपंचछप्पियएइंदियवियलसण्णिसण्णीणं। १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण ते सर्वे प्रत्येकं स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिसंभवात्सप्त पर्याप्ताः सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति। एवं चतुर्दशजीवसमासा ज्ञातव्यास्तेषां च "इंदियकायाऊणिय पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा। वेइंदियादिपुण्णे वचिमणो सण्णि-

---

द्रव्य उससे विलक्षण अनेक तरह के विकल्पजालरूप मन है, उस मन से सहित जीव को 'समनस्कसंज्ञी' कहते हैं। तथा मन से शून्य अमनस्क यानी असंज्ञी "णेया" जानने चाहियें। "पंचिंदिया" पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों होते हैं। ऐसे संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते हैं। नारकी, मनुष्य और देव संज्ञीपंचेन्द्रिय ही होते हैं। "णिम्मणा परे सव्वे" पंचेन्द्रिय से भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चारन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते हैं। "बादरसुहमेइंदी" बादर और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे भी आठ पांखंडी के कमल के आकार जो द्रव्य मन और उस द्रव्य मन के आधार से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि का ग्राहक भावमन, इन दोनों प्रकार के मन न होने से असंज्ञी ही हैं। "सव्वे पज्जत्त इदरा य" इस तरह उक्त प्रकार से संज्ञी और असंज्ञी दोनों पंचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय तथा बादर सूक्ष्म दो तरह के एकेन्द्रिय ये सात भेद हुए। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये ६ पर्याप्तियां हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां होती हैं। विकलेन्द्रिय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के बिना पांच पर्याप्तियां होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियां होती हैं।

इस गाथा में कहे हुए क्रम से ये जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों के पूर्ण होने से सातों पर्याप्त हैं और अपनी पर्याप्तियां पूरी न होने की दशा में सातों अपर्याप्त भी होते हैं। ऐसे चौदह जीव समास जानने चाहियें। 'इन्द्रिय, काय, आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुण्णेव । १ । दस सण्णीणं पाणा सेसेगूणंति मस्सवे ऊणा । पज्जतेसिदरेसु य सत्तदुगे सेसगेगूणा । २।" इति गाथाद्वयकथितक्रमेण यथासंभवमिन्द्रियादिदश-प्राणाश्च विज्ञेयाः । अत्रैतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः ॥१२॥

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पश्चादशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणास्थानचतुर्दशगुणस्थानसहिता भवन्ती-ति प्रतिपादयति :—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात् ।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्व्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात् ॥ १३ ॥

व्याख्याः—"मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया" यथा पूर्वसूत्रोदि-

---

अपर्याप्त दोनों ही के होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त के ही होता है। वचन बल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि के ही होता है । मनोबल प्राण संज्ञीपर्याप्त के ही होता है।१। 'पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पञ्चेन्द्रियों के १० प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियों के मन के बिना ९ प्राण, चौइन्द्रियों के मन और कर्ण इन्द्रिय के बिना ८ प्राण, तीन इन्द्रियों के मन, कर्ण और चक्षु के बिना ७ प्राण, दो इन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु और घ्राण के बिना ६ प्राण और एकेन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचन बल के बिना ४ प्राण होते हैं। अपर्याप्त जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पंचेन्द्रियों के श्वासोच्छ्वास, वचनबल और मनोबल के बिना ७ प्राण होते हैं और चौइन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक क्रम से एक एक प्राण घटता हुआ है । २।' इन दो गाथाओं द्वारा कहे हुये क्रम से यथासंभव इन्द्रियादिक दश प्राण समझने चाहियें। अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्तियों तथा प्राणों से भिन्न अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥ १२ ॥

अब शुद्ध पारिणामिक परम भाव का ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं तो भी अशुद्धनय से चौदह मार्गणा स्थान और चौदह गुणस्थानों सहित होते हैं, ऐसा बतलाते हैं :—

गाथार्थ—संसारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुण स्थानों के भेद से चौदह २ प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।

वृत्त्यर्थः—"मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया" जिस प्रकार पूर्व गाथा में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तचतुर्दशजीवसमासैर्भवन्ति मार्गणागुणस्थानैश्च तथा भवन्ति संभवन्तीति विज्ञेया ज्ञातव्याः । कतिसंख्योपेतैः ? "चउदसहि" प्रत्येकं चतुर्दशभिः । कस्मात् ? "असुद्धणया" अशुद्धनयात् सकाशात् । इत्थंभूताः के भवन्ति ? "संसारी" सांसारिजीवाः । "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" त एव सर्वे संसारिणः शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः । कस्मात् ? शुद्धनयात् शुद्धनिश्चयनयादिति । अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति । "मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य । विरया पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य । १ । उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी या । चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा । २ ।" इदानीं तेषामेव गुणस्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते । तथाहि — सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वात्पतितो

कहे हुए १४ जीव समासों से जीवों के १४ भेद होते हैं उसी तरह मार्गणा और गुणस्थानों से भी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये । मार्गणा और गुणस्थानों से कितनी संख्या वाले होते हैं ? "चउदसहि" प्रत्येक से १४-१४ संख्या वाले हैं । किस अपेक्षा से ? "असुद्धणया" अशुद्ध नयकी अपेक्षा से । मार्गणा और गुणस्थानों से अशुद्ध नयकी अपेक्षा चौदह-चौदह प्रकार के कौन होते हैं ? "संसारी" संसारी जीव होते हैं । "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" वेही सब संसारी जीव शुद्ध यानी-स्वाभाविक शुद्ध ज्ञायक रूप एक-स्वभाव-वाले हैं । किस अपेक्षा से ? शुद्ध नय से अर्थात् शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से ।

अब शास्त्रप्रसिद्ध दो गाथाओं द्वारा गुणस्थानों के नाम कहते हैं । "मिथ्यात्व १, सासादन २, मिश्र ३, अविरतसम्यक्त्व ४, देशविरत ५, प्रमत्तविरत ६, अप्रमत्तविरत ७, अपूर्वकरण ८, अनिवृत्तिकरण ९, सूक्ष्मसांपराय १०, उपशान्तमोह ११, क्षीणमोह १२, सयोगिकेवली १३ और अयोगिकेवली १४ इस तरह क्रम से चौदह गुणस्थान जानने चाहियें ।२।" अब इन गुणस्थानों में से प्रत्येक का संक्षेप से लक्षण कहते हैं । वह इस प्रकार स्वाभाविक शुद्ध केवल ज्ञान केवल दर्शन रूप अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निजपरमात्मा आदि षट द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थों में तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित वीतराग सर्वज्ञद्वारा कहे हुए नयविभाग से जिस जीव के श्रद्धान नहीं है वह जीव "मिथ्यादृष्टि" होता है ।१। पाषाणरेखा (पत्थर में उकेरी हुई लकीर) के समान जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक के उदय से प्रथम–औपशमिक सम्यक्त्व से, गिरकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, तब तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्त्ती सासादनः । निजशुद्धात्मादितत्त्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते यः स दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधिगुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानवर्त्ती भवति । अथ मतं—येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं तथा सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादिवैनयिकमिथ्यादृष्टिः संशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेष इति ? अत्र परिहारः—"स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा संशयरूपेण भक्तिं करुते निश्चयो नास्ति । मिश्रस्य पुनरुभयत्र निश्चयोऽस्तीति विशेषः ।" स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् । यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनि-

---

इन दोनों के बीच के परिणाम वाला जीव "सासादन" होता है । २ । जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्वों को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य मत के अनुसार भी मानता है वह मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड़ मिले हुए पदार्थ की भांति "मिश्रगुण स्थान वाला" है । ३ । शंका—"चाहे जिससे हो मुझे तो एक देव से मतलब है अथवा सब ही देव वन्दनीय हैं, निन्दा किसी भी देव की न करनी चाहिये" इस प्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है; तब उनमें तथा मिश्रगुणस्थानवर्त्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि—वैनयिक मिथ्यादृष्टि तथा संशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवों में तथा सब शास्त्रों में से किसी एक की भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मानकर संशय रूप से भक्ति करता है; उसको किसी एक देव में निश्चय नहीं है । और मिश्रगुणस्थानवर्त्ती जीव के दोनों में निश्चय है । बस, यही अन्तर है ? जो "स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुण का आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं" इस तरह सर्वज्ञ देवप्रणीत निश्चय व व्यवहार नय को साध्य-साधक भाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानकषाय के उदय से; मारने के लिये कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भांति आत्मनिन्दादि सहित होकर इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता है; यह "अविरत सम्यग्दृष्टि" चौथे गुण स्थानवर्त्ती का लक्षण है । ४ । पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषायों के उदय का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिलक्षणेषु "दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तराइभत्ते य। बम्हारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य। १।" इति गाथाकथितैकादशनिलयेषु वर्तते स पञ्चम-गुणस्थानवर्ती श्रावको भवति। ५। स एव सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीय-कषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमु-त्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रह-निवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्त्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमाद-सहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तसंयतो भवति। ६। स एव जलरेखादिसदृश-संज्वलनकषायमन्दोदये सति निष्प्रमादशुद्धात्मसंवित्तिमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमाद-रहितः सन्सप्तमगुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्तसंयतो भवति। ७। स एवातीवसंज्वलन-कषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञो-ऽष्टमगुणस्थानवर्त्ती भवति। ८। दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिरूपसमस्तसङ्कल्प-विकल्परहितनिजनिश्चलपरमात्मचैकाग्र्यध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेक-समये ये परस्परं पृथक्कर्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणोपश-

---

अभाव होने पर अन्तरंग में निश्चय नय से एक देश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुख के अनुभव लक्षण तथा बाह्य विषयों में हिंसा; झूठ; चोरी; अब्रह्म और परिग्रह इनके एक देश त्याग रूप पाँच अणुव्रतों में और "दर्शन; व्रत; सामयिक; प्रोषध; सचित्तविरत; रात्रि-भुक्ति त्याग; ब्रह्मचर्य; आरम्भ त्याग; परिग्रह त्याग; अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग।१।" इस गाथा में कहे हुए श्रावक के एकादश स्थानों में से किसी एक में बर्तने वाला है वह "पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक" होता है। ५। जब वही सम्यग्दृष्टि; धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण तीसरी कषाय के उदय का अभाव होने पर निश्चय नय से अंतरंग में राग आदि उपाधि-रहित; निज-शुद्ध अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण रूप और बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रूप से हिंसा; असत्य; चोरी; अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रूप ऐसे पाँच महाव्रतों का पालन करता है; तब वह बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्त्ती 'प्रमत्तसंयत" होता है। ६। वही; जलरेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमाद रहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करने वाले व्यक्त अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर; सप्तम गुण-स्थानवर्त्ती "अप्रमत्तसंयत" होता है। ७। वही; अतीव संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर; अपूर्व परमआल्हाद एक सुख के अनुभव रूप 'अपूर्वकरण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्त्ती" होता है। ८। देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की वांछादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिकक्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमक्षपणासमर्था नवमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । ९ । सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन सूक्ष्मकृष्टिगतलोभकषायस्योपशमकाः क्षपकाश्च दशमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति ।१०। परमोपशममूर्तिनिजात्मस्वभावसंवित्तिबलेन सकलोपशान्तमोहा एकादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । ११ । उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषाया द्वादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । १२ । मोहक्षपणानन्तरमन्तर्मुहूर्तकालं स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणैकत्ववितर्कावीचारद्वितीयशुक्लध्याने स्थित्वा तदन्त्यसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रयं युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति। १३ । मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति । १४ । तदनन्तरं च निश्चयरत्नत्रयात्मककारणभूतसमयसारसंज्ञेन परमयथाख्यातचारित्रेण चतुर्दशगुणस्थानातीताः ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहिताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतनिर्नामनिर्गोत्राद्यनन्तगुणाः सिद्धाः भवन्ति ।

के भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपक संज्ञा के धारक; अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि इक्कीस प्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ "नवम गुणस्थानवर्त्ती" जीव हैं। ९। सूक्ष्म परमात्मतत्त्व भावना के बल से जो सूक्ष्म कृष्टि रूप लोभ कषाय के उपशमक और क्षपक हैं वे दशम "गुणस्थानवर्त्ती" हैं। १०। परम उपशममूर्त्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने वाले ग्यारहवें "गुणस्थानवर्त्ती" होते हैं। ११। उपशमश्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषाय रहित शुद्ध आत्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे बारहवें "गुणस्थानवर्त्ती" होते हैं। १२। मोह के नाश होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभव रूप एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान में स्थिर होकर उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण; दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों को एक साथ एक काल में सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान किरणों से लोक अलोक के प्रकाशक तेरहवें "गुणस्थानवर्त्ती" जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं। १३। और मन, वचन, कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग है उससे रहित चौदहवें "गुणस्थानवर्त्ती" "अयोगी जिन" होते हैं। १४। तदन्तर निश्चय रत्नत्रयात्मक कारणभूत समयसार नामक जो परम यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों से रहित, ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों में गर्भित निर्नाम (नाम रहित) निर्गोत्र (गोत्र रहित) आदि, अनन्त गुण सहित सिद्ध होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति ? परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति । अत्र दृष्टान्तः । यथा—चौरव्यापारभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेवलिनां निष्क्रिय-शुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावात् मोक्षं गच्छति । इति चतुर्दशगुणस्थानव्याख्यानं गतम् । इदानीं मार्गणाः कथ्यन्ते । "गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसाय-णाणे य । संयम दंसण लेस्सा भविया समत्तसण्णि आहारे । १ ।" इति गाथा-कथितक्रमेण गत्यादिचतुर्दशमार्गणा ज्ञातव्याः । तद्यथा—स्वात्मोपलब्धिसिद्धि-विलक्षणा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभेदेन चतुर्विधा गतिमार्गणा भवति । १ । अतीन्द्रियशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूता ह्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन पञ्चप्रकारेन्द्रि-

---

यहाँ शिष्य पूछता है कि केवल ज्ञान हो जाने पर जब मोक्ष के कारण भूतरत्नत्रय की पूर्णता हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, सयोगी और अयोगी इन दो गुण स्थानों में रहने का कोई समय ही नहीं है ?

इस शंका का परिहार करते हैं कि केवल ज्ञान हो जाने पर यथाख्यात चारित्र तो हो जाता है किन्तु परम यथाख्यात चारित्र नहीं होता है। यहाँ दृष्टान्त है—जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता, किन्तु उसको चोर के संसर्ग का दोष लगता है, उसी तरह सयोग केवलियों के चारित्र के नाश करने वाले चारित्रमोह के उदय का अभाव है तो भी निष्क्रिय शुद्ध आत्मा के आचरण से विलक्षण जो तीन योगों का व्यापार है वह चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है। तीनों योगों से रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्त समय को छोड़कर शेष चार अघातिया कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघातिया कर्मों का मन्द उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव हो जाने से अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब चौदह मार्गणाओं को कहते हैं "गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार । १ ।" इस तरह क्रम से गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये। निज आत्मा की प्राप्ति से विलक्षण नारक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति भेद से गतिमार्गणा चार प्रकार की है—१. अतीन्द्रिय; शुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेद से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यमार्गणा । २ । अशरीरात्मतत्त्वविसदृशी पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदेन षड्भेदा कायमार्गणा । ३ । निर्व्यापारशुद्धात्मपदार्थविलक्षणमनोवचनकाययोगभेदेन त्रिधा योगमार्गणा, अथवा विस्तरेण सत्यासत्योभयानुभयभेदेन चतुर्विधो मनोयोगो वचनयोगश्च, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणकायभेदेन सप्तविधो काययोगश्चेति समुदायेन पञ्चदशविधा वा योगमार्गणा । ४ । वेदोदयोद्भवरागादिदोषरहितपरमात्मद्रव्याद्भिन्ना स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिधा वेदमार्गणा । ५ । निष्कषायशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलक्रोधलोभमायामानभेदेन चतुर्विधा कषायमार्गणा, विस्तरेण कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा ।६। मत्यादिसंज्ञापञ्चकं कुमत्याद्यज्ञानत्रयं चेत्यष्टविधा ज्ञानमार्गणा । ७ । सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन चारित्रं पञ्चविधम्, संयमासंयमस्तथैवासंयमश्चेति प्रतिपक्षद्वयेन सह सप्तप्रकारा संयममार्गणा । ८ । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणा । ९ । कषायोदयरञ्जित-

---

इन्द्रियमार्गणा पाँच प्रकार की है । २ । शरीर रहित आत्मतत्त्व से भिन्न पृथिवी; जल; अग्नि; वायु; वनस्पति और त्रस काय के भेद से कायमार्गणा छह तरह की होती है । ३। व्यापार रहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विलक्षण मनोयोग; वचनयोग तथा काययोग के भेद से योगमार्गणा तीन प्रकार की है अथवा विस्तार से सत्यमनोयोग; असत्यमनोयोग; उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग के भेद से चार प्रकार का मनोयोग है । ऐसे ही सत्य; असत्य; उभय; अनुभय इन चार भेदों से वचनयोग भी चार प्रकार का है एवं औदारिक; औदारिकमिश्र; वैक्रियिक; वैक्रियिकमिश्र; आहारक; आहारकमिश्र और कार्मण ऐसे काययोग सात प्रकार का है । सब मिलकर योगमार्गणा १५ प्रकार की हुई । ४ । वेद के उदय से उत्पन्न होने वाले रागादिक दोषों से रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्त्रीवेद; पुंवेद और नपुंसकवेद ऐसे तीन प्रकार की वेदमार्गणा है । ५ । कषाय रहित शुद्ध आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल क्रोध; मान; माया; लोभ भेदों से चार प्रकार की कषायमार्गणा है । विस्तार से अनन्तानुबन्धी; अप्रत्याख्यानावरण; प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन भेद से १६ कषाय और हास्यादिक भेद से ९ नोकषाय ये सब मिलकर पचीस प्रकार की कषायमार्गणा है । ६ । मति; श्रुत; अवधि; मनःपर्यय और केवल; पांच ज्ञान तथा कुमति; कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान इस तरह ८ प्रकार की ज्ञानमार्गणा है । ७ । सामायिक; छेदोपस्थापन; परिहारविशुद्धि; सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पांच प्रकार का चारित्र और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्षी; ऐसे संयममार्गणा सात प्रकार की है । ८ । चक्षु; अचक्षु; अवधि और केवलदर्शन इन भेदों से दर्शनमार्गणा चार प्रकार की है । ९ । कषायों के उदय से रंगी हुई जो मन; वचन; काय की प्रवृत्ति है उससे भिन्न जो परमात्मद्रव्य है; उस परमात्मद्रव्य से विरोध करने वाली कृष्ण; नील; कापोत; पीत; पद्म और शुक्ल ऐसे ६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योगप्रवृत्तिविसदृशपरमात्मद्रव्यप्रतिपन्थिनी[1] कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदेन षड्विधा लेश्यामार्गणा । १० । भव्याभव्यभेदेन द्विविधा भव्यमार्गणा । ११ । अत्राह शिष्यः—शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुणस्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्याभव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणित इति पूर्वापरविरोधः ? अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुणस्थानमार्गणानिषेधः कृतः, इदानीं पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारिणामिकभावरूपं मार्गणामध्येऽपि घटते । ननु—शुद्धाशुद्धभेदेन पारिणामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव ? नैवं यद्यपि सामान्यरूपेणोत्सर्गव्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभावः कथ्यते तथाप्यपवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति । तथाहि—"जीवभव्याभव्यत्वानि च" इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणितः, तत्र शुद्धचैतन्यरूपं जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसंज्ञः शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुनः कर्मजनितदशप्राणरूपं

प्रकार की लेश्यामार्गणा है । १० । भव्य और अभव्य भेद से भव्यमार्गणा दो प्रकार की है । ११ ।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि—"शुद्धपारिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थानों से रहित है" ऐसा पहले कहा गया है और अब यहाँ भव्य अभव्य रूप से मार्गणा भी आपने पारिणामिक भाव कहा; सो यह तो पूर्वापरविरोध है ? अब इस शंका का समाधान करते हैं—पूर्व प्रसंग में तो शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा से गुणस्थान और मार्गणा का निषेध किया है और यहाँ पर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूप से भव्य तथा अभव्य ये दोनों मार्गणा में भी घटित होते हैं। यदि कदाचित् ऐसा कहो कि "शुद्ध अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार का नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है" तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि, यद्यपि सामान्य रूप से पारिणामिक भाव शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है, तथापि अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण "जीवभव्याभव्यत्वानि च" (अ. २ सू. ७) इस तत्त्वार्थसूत्र में जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदों से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा है। उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणों रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेद से तीन तरह का है और ये तीनों विनाशशील होने के कारण पर्याय के

१. "प्रतिपक्षी" इति पाठान्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवत्वं, भव्यत्वम्, अभव्यत्वं चेति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्वशुद्धपारिणामिकभाव उच्यते। अशुद्धत्वं कथमिति चेत्? यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रयं व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथापि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रयं, मुक्तजीवे पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वरः, इति भावार्थः। औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रसंज्ञिविपक्षत्रयभेदेन सह षड्विधा ज्ञातव्या। १२। संज्ञित्वासंज्ञित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना संज्ञ्यसंज्ञिभेदेन द्विधा संज्ञिमार्गणा। १३। आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा। १४। इति चतुर्दशमार्गणास्वरूपं ज्ञातव्यम्। एवं "पुढविजलतेयवाऊ" इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादत्रयेण च "गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओय। उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा

आश्रित होने से ये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते हैं। "इसकी अशुद्धता किस प्रकार से है?" इस शंका का उत्तर यह है। यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनय से संसारी जीव में हैं, तथापि "सव्वेसुद्धा हु सुद्धणया" इस वचन से ये तीनों भाव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नहीं हैं, और मुक्त जीवों में तो सर्वथा ही नहीं हैं; इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भाव में से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यान के समय ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है, ध्यानरूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है; और शुद्ध पारिणामिक द्रव्यरूप होने के कारण अविनाशी है, यह सारांश है। सम्यक्त्व के भेद से सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकार की है। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक। और मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों के साथ छह प्रकार की भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिए।१२। संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व से विलक्षण परमात्मस्वरूप से भिन्न संज्ञिमार्गणा 'संज्ञी तथा असंज्ञी भेद से' दो प्रकार की है।१३। आहारक अनाहारक जीवों के भेद से आहारमार्गणा भी दो प्रकार की है।१४। इस प्रकार चौदह मार्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिये। इस रीति से "पुढविजलतेयवाऊ" इत्यादि दो गाथाओं और तीसरी गाथा "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" के तीन पदों से "गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा चौदह मार्गणा और उपयोगों से इस प्रकार क्रमशः बीस प्ररूपणा कही हैं। १।" इत्यादि गाथा में कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके बीज-पद की सूचना ग्रन्थकारने की है। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इस तृतीय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भणिया । १ ।" इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रयबीजपदं सूचितम् । "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति । अत्र गुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं क्षायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं कारणसमयसारस्वरूपं तत्तस्यैवोपादेयभूतस्य विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन साधकत्वात्पारम्पर्येणोपादेयं, शेषं तु हेयमिति । यच्चाध्यात्मग्रन्थस्य बीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव । अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथनमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥१३॥

अथेदानीं गाथापूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुत्तरार्द्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभावं च कथयति :—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा: ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥ १४ ॥

निष्कर्माणः अष्टगुणाः किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः ।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः ॥ १४ ॥

गाथा के चौथे पाद से शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीनों प्राभृतों का बीजपद सूचित किया है । यहां गुणस्थान और मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों तथा क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्मा के स्वरूप हैं, अतः साक्षात् उपादेय हैं; और जो शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप कारण समयसार है वह उसी उपादेय-भूतका विवक्षित एक देश शुद्धनय द्वारा साधक होने से परम्परा से उपादेय हैं, इसके सिवाय और सब हेय हैं । और जो अध्यात्म ग्रन्थ का बीज-पदभूत शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा है वह तो उपादेय ही है । इस प्रकार जीवाधिकार में शुद्ध, अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल में तीन गाथा समाप्त हुईं ॥ १३ ॥

अब निम्नलिखित गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धों के स्वरूप का और उत्तरार्द्ध द्वारा उनके ऊर्ध्वगमन स्वभाव का कथन करते हैं :—

गाथार्थः—सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं और (ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण) लोक के अग्रभाग में स्थित हैं नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से युक्त हैं ॥१४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'सिद्धा' सिद्धा भवन्तीति क्रियाध्याहारः । किं विशिष्टाः ? "णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो" निष्कर्माणोऽष्टगुणाः किञ्चिदूनाश्चरमदेहतः सकाशादिति सूत्रपूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुक्तम् । ऊर्ध्वगमनं कथ्यते "लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता" ते च सिद्धा लोकाग्रस्थिता नित्या उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः । अतो विस्तरः—कर्मारिविध्वंसकस्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन ज्ञानावरणादिमूलोत्तरगतसमस्तकर्मप्रकृतिविनाशकत्वादष्टकर्मरहिताः "सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं । अगुरुलहुअव्वबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण तेषामष्टकर्मरहितानामष्टगुणाः कथ्यन्ते । तथाहि—केवलज्ञानादिगुणास्पदनिजशुद्धात्मैवोपादेयं इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं यत्पूर्वं तपश्चरणावस्थायां भावितं तस्य फलभूतं समस्तजीवादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितपरिणतिरूपं परमक्षायिकसम्यक्त्वं भण्यते । पूर्वं छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेषपरिच्छेदकं केवलज्ञानम् । निर्विकल्पस्वशुद्धात्मसत्तावलोकनरूपं यत्पूर्वं दर्शनं भावितं तस्यैव फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतसामान्यग्राहकं

वृत्त्यर्थः—"सिद्धा" सिद्ध होते हैं, इस रीति से यहां "भवन्ति" इस क्रिया का अध्याहार करना चाहिये। सिद्ध किन विशेषणों से विशिष्ट होते हैं? "णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो" कर्मों से रहित, आठ गुणों से सहित और अन्तिम शरीर से कुछ छोटे ऐसे सिद्ध हैं। इस प्रकार सूत्र के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धों का स्वरूप कहा। अब उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं। "लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता" वे सिद्ध लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से संयुक्त हैं। अब विस्तार से इसकी व्याख्या करते हैं:—कर्म शत्रुओं के विध्वंसक अपने शुद्ध आत्मसंवेदन के बल के द्वारा ज्ञानावरण आदि समस्त मूल व उत्तर कर्म प्रकृतियों के विनाश करने से आठों कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं। तथा "सम्यक्त्व, ज्ञान दर्शन वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं।। १।" इस गाथा में कहे क्रम से. आठ कर्म रहित सिद्धों के आठ गुण कहे जाते हैं। केवल ज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है; इस प्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण की अवस्था में भावित किया था उसके फलस्वरूप समस्त जीव आदि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (विरुद्ध अभिप्राय) से रहित परिणामरूप परम क्षायिक "सम्यक्त्व" गुण सिद्धों के कहा गया है। पहले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अवस्था में भावना किये हुए निर्विकार स्वानुभवरूप ज्ञान के फलस्वरूप एक ही समय में लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए विशेषों को जानने वाला "केवल ज्ञान" गुण है। समस्त विकल्पों से रहित अपनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केवलदर्शनम् । कस्मिंश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति घोरपरीषहोपसर्गादौ निजनिरञ्जनपरमात्मध्याने पूर्वं यत् धैर्यमवलम्बितं तस्यैव फलभूतमनन्तपदार्थपरिच्छित्तिविषये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम् । सूक्ष्मातीन्द्रियकेवलज्ञानविषयत्वात्सिद्धस्वरूपस्य सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकदीपप्रकाशे नानादीपप्रकाशवदेकसिद्धक्षेत्रे सङ्करव्यतिकरदोषपरिहारेणानन्तसिद्धावकाशदानसामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते । यदि सर्वथागुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधःपतनं, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहताकेतूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते । सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसंवेदनं कृतं पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुखं भण्यते । इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम् । विस्तररुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्वं, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वं, निर्नामत्वं, निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्व-

---

शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन रूप जो दर्शन पहले भावित किया था उसी दर्शन के फलरूप एक काल में लोक अलोक के संपूर्ण पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करने वाला "केवलदर्शन" गुण है। आत्मध्यान से विचलित करनेवाले किसी अतिघोर परिषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय जो पहले अपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अवलम्बन किया उसी के फलरूप अनन्त पदार्थों के जानने में खेद के अभावरूप "अनन्तवीर्य" गुण है। सूक्ष्मअतीन्द्रिय केवलज्ञानका विषय होने के कारण सिद्धों के स्वरूपको "सूक्ष्मत्व" कहते हैं। यह पांचवां गुण है। एक दीप के प्रकाश में जैसे अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्रमें संकर तथा व्यतिकर दोषसे रहित जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देनेकी सामर्थ्य है वह "अवगाहन" गुण है। यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहे के गोले के समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो वायुसे प्रेरित आककी रुईकी तरह वह सदा इधर उधर घूमता रहेगा, किन्तु सिद्धोंका स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके "अगुरुलघु" गुण कहा जाता है। स्वाभाविक शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा राग आदि विभावों से रहित सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया था उसी के फलस्वरूप अव्याबाधरूप "अनन्त सुख" गुण सिद्धों में कहा गया है। इस प्रकार सम्यक्त्व आदि आठ गुण मध्यमरुचि वाले शिष्यों के लिये हैं। विस्ताररुचि वाले शिष्य के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुरहितता आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण इस तरह जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहियें। और संक्षेपरुचि शिष्य के लिये विवक्षित अभेद नयकी अपेक्षा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः । संक्षेपरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विवक्षिताभेदनयेनानन्तज्ञानादिचतुष्टयम्, अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यं, केवलज्ञानदर्शनद्वयं, साक्षादभेदनयेन शुद्धचैतन्यमेवैको गुण इति । पुनरपि कथंभूताः सिद्धाः ? चरमशरीरात् किञ्चिदूना भवन्ति । तत् किञ्चिदूनत्वं शरीरोपाङ्गजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेव क्षणे सयोगिचरमसमये त्रिंशत्प्रकृति-उदयविच्छेदमध्ये शरीरोपाङ्गनामकर्मविच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे जातमिति ज्ञातव्यम् । कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति ? तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं; जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां संबन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति । कस्मादिति चेत्, पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव । तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसन्तानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे

सुख तथा अनन्त वीर्य ये चार गुण अथवा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुखरूप तीन गुण अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो गुण हैं। और साक्षात् अभेदनयसे एक शुद्ध चैतन्य गुण ही सिद्धों का है। पुनः वे सिद्ध कैसे होते हैं ? चरम (अन्तिम) शरीरसे कुछ छोटे होते हैं। वह जो किंचित्-ऊनता है सो शरीरोपाङ्गसे उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों के अपूर्ण (खाली स्थान) होनेसे जिस समय सयोगी गुणस्थानके अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ उनमें शरीरोपाङ्ग कर्म का भी विच्छेद हो गया, अतः उसी समय किंचित् ऊनता हुई है। ऐसा जानना चाहिए।

कोई शंका करता है कि जैसे दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिए ? इस शंका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है। किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यात-प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण-विस्तार स्वभाव नहीं है।

यदि यों कहो कि जीव के प्रदेश पहले लोकके बराबर फैले हुए, आवरणरहित रहते हैं फिर जैसे प्रदीपके आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशों के भी आवरण हुआ है ? ऐसा नहीं है। किन्तु जीवके प्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तानरूप चले आये हुये शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विस्तारो न भवति । अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्रं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीय-जलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति । यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति ये केचन वदन्ति, तन्निषेधार्थं पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामात् चेति हेतुचतुष्टयेन तथाविधकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबीजवदग्नि-शिखावच्चेति दृष्टान्तचतुष्टयेन च स्वभावोर्द्ध्वगमनं ज्ञातव्यं, तच्च लोकाग्र-पर्यन्तमेव, न च परतो धर्मास्तिकायाभावादिति । 'नित्या' इति विशेषणं तु, मुक्तात्मनां कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति पुनरागमनं भवतीति सदाशिववादिनो वदन्ति, तन्निषेधार्थं विज्ञेयम् । 'उत्पादव्ययसंयुक्तत्वं' विशेषणं,

---

के आवरणसहित ही रहते हैं। इस कारण जीव के प्रदेशों का संहार नहीं होता, तथा विस्तार व संहार शरीर नामक नामकर्म के अधीन ही है, जीवका स्वभाव नहीं है। इस कारण जीव के शरीर का अभाव होनेपर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता। इस विषय में और भी उदाहरण देते हैं कि जैसे किसी मनुष्यकी मुट्ठी के भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र बंधा (भिंचा) हुआ है, अब वह वस्त्र, मुट्ठी खोल देने पर पुरुष के अभाव में संकोच तथा विस्तार नहीं करता; जैसा उस पुरुषने छोड़ा वैसाही रहता है । अथवा गीली मिट्टीका बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता जाता है, किन्तु जब वह सूख जाता है तब जलका अभाव होने से संकोच व विस्तार को प्राप्त नहीं होता । इसी तरह मुक्त जीव भी, पुरुष के स्थानभूत अथवा जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में, संकोच विस्तार नहीं करता ।

कोई कहते हैं कि "जीव जिस स्थान में कर्मों से मुक्त हो जाता है वहां ही रहता है," इसके निषेध के लिये कहते हैं कि पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बंध का नाश होने से तथा गति के परिणाम से, इन चार हेतुओं से तथा घूमते हुए कुम्हार के चाक के समान, मिट्टी के लेप से रहित तुम्बी के समान, एरंड के बीज के समान तथा अग्नि की शिखा के समान, इन चार दृष्टान्तों से जीव के स्वभाव से ऊर्ध्व (ऊपर को) गमन समझना चाहिये। वह ऊर्ध्वगमन लोक के अग्रभाग तक ही होता है उससे आगे नहीं होता; क्योंकि उसके आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है।

सिद्ध नित्य हैं। यहाँ जो नित्य विशेषण है सो सदाशिववादी जो यह कहते हैं कि "१०० कल्प प्रमाण समय बीत जाने पर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवों का संसार में आगमन होता है।" इस मत का निषेध करने के लिये है, ऐसा जानना चाहिये।

उत्पाद, व्यय–संयुक्तपना जो सिद्धों का विशेषण है, वह सर्वथा अपरिणामिता के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथैवापरिणामित्वनिषेधार्थमिति । किञ्च विशेषः निश्चलाविनश्वरशुद्धात्मस्वरूपाद्भिन्नं सिद्धानां नारकादिगतिषु भ्रमणं नास्ति कथमुत्पादव्ययत्वमिति ? तत्र परिहारः—आगमकथितागुरुलघुषट्स्थानपतितहानिवृद्धिरूपेण येऽर्थपर्यायास्तदपेक्षया अथवा येन येनोत्पादव्यवध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्, अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः, शुद्धजीवद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । एवं नयविभागेन नवाधिकारैर्जीवद्रव्यं ज्ञातव्यम् अथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति । तद्यथा—स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा, तद्विलक्षणोऽन्तरात्मा । अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा । अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तं, निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः, शुद्ध-

---

निषेध के लिये है । यहाँ पर यदि कोई शंका करे—कि सिद्ध निरन्तर निश्चल अविनश्वर शुद्ध आत्म-स्वरूप से भिन्न नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करते हैं इसलिये सिद्धों में उत्पाद व्यय कैसे हों ? इसका परिहार यह है—कि आगम में कहे गये अगुरुलघु गुण के षट्-हानि वृद्धि रूप से अर्थ पर्याय होती हैं; उनकी अपेक्षा सिद्धों में उत्पाद व्यय है । अथवा ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप से प्रति समय परिणमते हैं उन उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है इस कारण भी उत्पाद व्यय सिद्धों में घटित होता है । अथवा सिद्धों में व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य है । इस प्रकार नय-विभाग से नौ अधिकारों द्वारा जीव द्रव्य का स्वरूप समझना चाहिये ।

अथवा वही जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इन भेदों से तीन प्रकार का भी होता है । निज शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ सुख से विरुद्ध इन्द्रिय सुख में आसक्त बहिरात्मा है; उससे विलक्षण अन्तरात्मा है । अथवा देहरहित निज शुद्ध आत्म द्रव्य की भावना रूप भेद-विज्ञान से रहित होने के कारण देह आदि पर द्रव्यों में जो एकत्व भावना से परिणत है (देह को ही आत्मा समझने वाला) बहिरात्मा है । बहिरात्मा से विरुद्ध (निज शुद्ध आत्मा को आत्मा जानने वाला) अन्तरात्मा है । अथवा हेय उपादेय का विचार करने वाला जो "चित्त", तथा निर्दोष परमात्मा से भिन्न राग आदि "दोष", और शुद्ध चैतन्य लक्षण का धारक "आत्मा", इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चित्त, दोष, आत्मा इन तीनों में अथवा वीतराग सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थों में जिसके परस्पर सापेक्ष नयों द्वारा श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है और उस बहिरात्मा से भिन्न अन्तरात्मा है । ऐसा बहिरात्मा, अन्तरात्मा का लक्षण समझना चाहिए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्यलक्षण आत्मा, इत्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसदृशोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्तरात्मनोर्लक्षणं ज्ञातव्यम्। परमात्मलक्षणं कथ्यते—सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः। "शिवं परमकल्याणं निर्वाणं [1] ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्त्तितः। १।" इति श्लोककथितलक्षणः शिवः। कामक्रोधादिदोषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः। इत्यादिपरमागमकथिताष्टोत्तरसहस्रसंख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः। एवमेतेषु त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा

अब परमात्माका लक्षण कहते हैं—क्योंकि पूर्णनिर्मल केवलज्ञान द्वारा सर्वज्ञ समस्त लोकालोकको जानता है या अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक में व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा "विष्णु" कहा जाता है। परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खंडित न हो सका अतः वह "परम ब्रह्म कहलाता है। केवलज्ञान आदि गुणरूपी ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञापालन करते हैं, अतः वह परमात्मा "ईश्वर" होता है। केवलज्ञान शब्द से वाच्य 'सु' उत्तम 'गत' यानी ज्ञान जिसका वह "सुगत" है। अथवा शोभायमान अविनश्वर मुक्ति पद को प्राप्त हुआ सो "सुगत" है। तथा "शिव यानी परम कल्याण, निर्वाण एवं अक्षय ज्ञानरूप मुक्तिपद को जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है। १।" इस श्लोक में कहे गये लक्षण का धारक होने के कारण वह परमात्मा अनन्त ज्ञान आदि गुणों का धारक 'जिन' कहलाता है। इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार आठ नामों से कहे जाने योग्य जो है, उसको परमात्मा जानना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर कहे गये इन तीनों आत्माओं में जो मिथ्या-दृष्टि भव्य जीव है उस में केवल बहिरात्मा तो व्यक्ति-रूप से रहता है।

१, 'शांतम्' इति पाठान्तरम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति। यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत्? परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते। भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः। एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति। अथ त्रिधात्मानं गुणस्थानेषु योजयति। मिथ्यासासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः, अविरतगुणस्थाने

और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं, भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूप से भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव में बहिरात्मा व्यक्ति रूप से और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से ही रहते हैं; भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य में अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूप से नहीं रहते। कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव में परमात्मा शक्ति रूप से रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे है? इसका उत्तर यह है कि अभव्य जीव में परमात्मशक्ति की केवल ज्ञान आदि रूप से व्यक्ति न होगी इसलिये उसमें अभव्यत्व है। शुद्ध नय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्या दृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में शक्ति रूप से भी केवल ज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश यह है कि भव्य, अभव्य ये दोनों अशुद्ध नय से हैं। इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा में नय विभाग से तीनों आत्माओं को बतलाया उसी प्रकार शेष तेरह गुण स्थानों में भी घटित करना चाहिये। इस प्रकार बहिरात्मा की दशा में अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूप से रहते हैं और भावी नैगमनय से व्यक्ति रूप से भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिये। अन्तरात्मा की अवस्था में बहिरात्मा भूतपूर्व नय से घृत के घट के समान और परमात्मा का स्वरूप शक्ति रूप से तथा भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूप से भी जानना चाहिये। परमात्म अवस्था में अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नय की अपेक्षा जानने चाहियें। अब तीनों तरह के आत्माओं को गुण स्थानों में योजित करते हैं—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में तारतम्य न्यूनाधिक भाव से बहिरात्मा जानना चाहिए; अविरत गुण स्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है और क्षीणकषाय गुणस्थान में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः, सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात्परमात्मेति । अत्र बहिरात्मा हेयः, उपादेयभूतस्यानन्तसुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेयः, परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः । एवं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकप्रथमाधिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्थलैर्जीवद्रव्यकथनरूपेण प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ १४ ॥

अतः परं यद्यपि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यमुपादेयं भवति तथापि हेयरूपस्याजीवद्रव्यस्य गाथाष्टकेन व्याख्यानं करोति । कस्मादिति चेत् ? हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति हेतोः । तद्यथा—

अजीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रुवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु) ॥ १५ ॥

अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्मः आकाशम् ।
कालः पुद्गलः मूर्त्तः रूपादिगुणः अमूर्त्ताः शेषाः तु ॥ १५ ॥

उत्कृष्ट अन्तरात्मा है । अविरत और क्षीणकषाय गुण स्थानों के बीच में जो सात गुणस्थान हैं उनमें मध्यम-अन्तरात्मा है । सयोगी और अयोगी इन दोनों गुणस्थानों में विवक्षित एक देश शुद्ध नय की अपेक्षा सिद्ध के समान परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा है ही । यहाँ बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत (परमात्मा)के अनन्त सुखका साधक होने से अन्तरात्मा उपादेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है; ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार छह द्रव्य और पंच अस्तिकाय के प्रतिपादन करने वाले प्रथम अधिकार में नमस्कार गाथा आदि चौदह गाथाओं द्वारा, ९ मध्य स्थलों द्वारा जीव द्रव्य के कथन रूप प्रथम अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

उसके पश्चात् यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा द्रव्य ही उपादेय है तो भी हेय रूप अजीव द्रव्य का आठ गाथाओं द्वारा निरूपण करते हैं । क्यों करते हो ? क्योंकि पहले हेयतत्त्व का ज्ञान होनेपर फिर उपादेय पदार्थ स्वीकार होता है । अजीव द्रव्य इस प्रकार है—

गाथार्थः— पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये अजीवद्रव्य जानने चाहियें । इनमें रूप आदि गुणों का धारक पुद्गल मूर्त्तिमान् है और शेष चारों द्रव्य अमूर्त्तिक हैं ॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"अज्जीवो पुण णेओ" अजीवः पुनर्ज्ञेयः । सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं शुद्धोपयोगः, मतिज्ञानादि पो विकलोऽशुद्धोपयोग इति द्विविधोपयोगः, अव्यक्तसुखदुःखानुभवनरूपा कर्मफलचेतना, तथैव मतिज्ञानादिमनःपर्ययपर्यन्तमशुद्धोपयोग इति, स्वेहापूर्वेष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेषरागद्वेषपरिणमनं कर्मचेतना, केवलज्ञानरूपा शुद्धचेचना इत्युक्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेयः । 'पुण' पुनः पश्चाज्जीवाधिकारानन्तरं । "पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं कालो" स च पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यभेदन पञ्चधा । पूरणगलनस्वभावत्वात्पुद्गल इत्युच्यते । गतिस्थित्यवगाहवर्त्तनालक्षणा धर्माधर्माकाशकालाः, "पुग्गल मुत्तो" पुद्गलो मूर्त्तः । कस्मात् "रूवादिगुणो" रूपादिगुणसहितो यतः । "अमुत्ति सेसा हु" रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्ति पुद्गलाच्छेषाश्चत्वार इति । तथाहि—यथा अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणचतुष्टयं सर्वजीवसाधारणं तथा रूपरसगन्धस्पर्शगुणचतुष्टयं सर्वपुद्गलसाधारणं, यथा च शुद्धबुद्धैकस्वभावसिद्धजीवे अनन्तचतुष्टयमतीन्द्रियं तथैव शुद्धपुद्गलपरमाणुद्रव्ये

वृत्त्यर्थः—"अज्जीवो पुण णेओ" अजीव पदार्थ जानना चाहिये । पूर्ण व निर्मल केवल ज्ञान, केवल दर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मति ज्ञान आदि रूप विकल अशुद्ध उपयोग है; इस तरह उपयोग दो प्रकार का है । अव्यक्त सुखदुःखानुभव स्वरूप "कर्मफलचेतना" है । तथा मतिज्ञान आदि मनःपर्यय तक चारों ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग है । निज चेष्टा पूर्वक इष्ट, अनिष्ट विकल्प रूप से विशेष रागद्वेष रूप परिणाम "कर्मचेतना" है । केवल ज्ञान रूप "शुद्ध चेतना" है । इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतना ये जिसमें नहीं हैं वह "अजीव" है ऐसा जानना चाहिये । "पुण" जीव अधिकार के पश्चात् अजीव अधिकार है । "पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं कालो" वह अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के भेद से पाँच प्रकार का है । पूरण तथा गलन स्वभाव सहित होने से पुद्गल कहा जाता है (पूरने और गलने के स्वभाव वाला पुद्गल है) । कर्म से गति; स्थिति; अवगाह और वर्त्तना लक्षण वाले धर्म; अधर्म; आकाश और काल ये चारों द्रव्य हैं । (गति में सहायक धर्म; ठहरने में सहायक अधर्म; अवगाह देने वाला आकाश, वर्त्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है) । "पुग्गल मुत्तो" पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है । क्योंकि पुद्गल "रूवादिगुणो" रूप आदि गुणों से सहित है । "अमुत्ति सेसा हु" पुद्गल के सिवाय शेष धर्म; अधर्म; आकाश और काल ये चारों द्रव्य रूप आदि गुणों के न होने से अमूर्त्तिक हैं । जैसे अनन्त ज्ञान; अनन्त दर्शन; अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवों में साधारण हैं; उसी प्रकार रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गलों में साधारण हैं । जिस प्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावधारी सिद्ध में अनन्त चतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूपादिचतुष्टयमतीन्द्रियं, यथा रागादिस्नेहगुणेन कर्मबन्धावस्थायां ज्ञानादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं तथा स्निग्धरूक्षत्वगुणेन द्व्यणुकादिबंधावस्थायां रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं, यथा निःस्नेहनिजपरमात्मभावनाबलेन रागादिस्निग्धत्वविनाशे सत्यनंतचतुष्टयस्य शुद्धत्वं तथा जघन्यगुणानां बन्धो न भवतीति वचनात्परमाणुद्रव्ये स्निग्धरूक्षत्वगुणस्य जघन्यत्वे सति रूपादिचतुष्टयस्य शुद्धत्वमवबोद्धव्यमित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावव्यञ्जनपर्यायान्प्रतिपादयतिः—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः ।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः ॥ १६ ॥

व्याख्या—शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया भवन्ति । अथ विस्तरः—भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविधः शब्दः । तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति । तत्राप्यक्षरात्मकः

परमाणु में रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय हैं । जिस तरह राग आदि स्नेह गुण से कर्मबन्ध की दशा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इन चारों गुणों की अशुद्धता है; उसी तरह स्निग्ध रूक्षत्व गुण से द्वि-अणुक आदि बंध दशा में रूप आदि चारों गुणों की अशुद्धता है । जैसे स्नेहरहित निज परमात्मा की भावना के बल से राग आदि स्निग्धता का विनाश हो जाने पर अनन्त चतुष्टय की शुद्धता है; उसी तरह "जघन्य गुणों का बन्ध नहीं होता है" इस वचन के अनुसार परमाणु में स्निग्ध रूक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूप आदि चारों गुणों की शुद्धता समझनी चाहिए, ऐसा अभिप्राय है ॥ १५ ॥

अब पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायों को वर्णन करते हैं—

गाथार्थः—शब्द; बन्ध; सूक्ष्म; स्थूल; संस्थान; भेद; तम; छाया; उद्योत और आतप सहित सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं ॥ १६ ॥

वृत्त्यर्थः—शब्द; बन्ध; सूक्ष्मता; स्थूलता; संस्थान; भेद; तम; छाया आतप और उद्योत इन सहित पुद्गल द्रव्य की पर्याय होती हैं । अब इसको विस्तार से बतलाते हैं—भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसे शब्द दो तरह का है । उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक तथा अन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा । अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च । अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैश्रसिकभेदेन द्विविधः । "ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः ।१।" इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भवः प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति । विश्रसा स्वभावेन भवो वैश्रसिको मेघादिप्रभवो बहुधा । किञ्च शब्दातीतनिजपरमात्मभावनाच्युतेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च जीवेन यदुपार्जितं सुस्वरदुःस्वरनामकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीवसंयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति । बन्धः कथ्यते—मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बंधः स केवलः पुद्गलबंधः, यस्तु कर्मनोकर्मरूपः स जीवपुद्गलसंयोगबंधः । किञ्च विशेषः—कर्मबंधपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबंधः, तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबंधः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबंध एव । बिल्वाद्यपेक्षया बदरादीनां सूक्ष्मत्वं, परमाणोः

क्षरात्मक रूप से दो तरह का है। उनमें भी अक्षरात्मक भाषा; संस्कृत-प्राकृत और उन के अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रिय आदि तिर्यंच जीवों में तथा सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि में है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैश्रसिक के भेद से दो तरह का है। उनमें "वीणा आदि के शब्द को तत, ढोल आदि के शब्द को वितत, मंजीरे तथा ताल आदि के शब्द को घन और बंसी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं। १।" इस श्लोक में कहे हुए क्रम से प्रायोगिक (प्रयोग से पैदा होने वाला) शब्द चार तरह का है; "विश्रसा" अर्थात् स्वभाव से होने वाला वैश्रसिक शब्द बादल आदि से होता है वह अनेक तरह का है। विशेष—शब्द से रहित निज परमात्मा की भावना से छूटे हुए तथा शब्द आदि मनोज्ञ-अमनोज्ञ पंच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नाम कर्म का बंध किया उस कर्म के उदय के अनुसार यद्यपि जीव में शब्द दिखता है तो भी वह शब्द जीव के संयोग से उत्पन्न होने के निमित्त से व्यवहार नय की अपेक्षा 'जीव का शब्द' कहा जाता है; किन्तु निश्चय नय से तो वह शब्द पुद्गल मयी ही है। अब बंध को कहते हैं—मिट्टी आदि के पिंड रूप जो बहुत प्रकार का बंध है वह तो केवल पुद्गल बंध है। जो कर्म, नोकर्म रूप बंध है वह जीव और पुद्गल के संयोग से होनेवाला बंध है। विशेष यह है—कर्मबन्ध से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य बंध है और उसी तरह अशुद्ध निश्चय नय से जो वह रागादिक रूप भावबन्ध कहा जाता है; यह भी शुद्ध निश्चय नय से पुद्गल का ही बन्ध है। बेल आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साक्षादिति; बदराद्यपेक्षया बिल्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कंधे सर्वोत्कृष्टमिति। समचतुरस्रन्यग्रोधसातिककुब्जवामनहुण्डभेदेन षट्प्रकारसंस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्यास्ति तथाप्यसंस्थानाच्चिच्चमत्कारपरिणतेर्भिन्नत्वान्निश्चयेन पुद्गलसंस्थानमेव; यदपि जीवादन्यत्र वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव। गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः। दृष्टिप्रतिबंधकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते। वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा च छाया विज्ञेया। उद्योतश्चंद्रविमाने खद्योतादितिर्यग्जीवेषु च भवति। आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकांतमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः। अयमत्रार्थः—यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिलक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जनपर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबंधवशात् स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानंदैकलक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्टा नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्गलस्यापि निश्चयनयेन शुद्धपरमाणववस्थालक्षणे स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधो भवतीति वचनाद्रागद्वेषस्थानीयबंध-

---

की अपेक्षा बेर आदि फलों में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है (परमाणु की सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा से नहीं है)। बेर आदि की अपेक्षा बेल आदि में स्थूलता (बड़ापन) है; तीन लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सबसे अधिक स्थूलता है। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुँडक ये ६ प्रकार के संस्थान व्यवहार नय से जीव के होते हैं। किन्तु संस्थान शून्य चेतन चमत्कार परिणाम से भिन्न होने के कारण निश्चय नय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल का ही होता है जो जीव से भिन्न गोल, त्रिकोन, चौकोर आदि प्रगट, अप्रगट अनेक प्रकार के संस्थान हैं, वे भी पुद्गल के ही हैं। गेहूं आदि के चून रूप से तथा घी, खांड आदि रूप से अनेक प्रकार का 'भेद' (खंड) जानना चाहिये। दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार है उसको "तम" कहते हैं। पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछाईं रूप जो है उसे "छाया" जानना चाहिये। चन्द्रमा के विमान में तथा जुगनू आदि तिर्यञ्च जीवों में "उद्योत" होता है। सूर्य के विमान में तथा अन्यत्र भी सूर्यकांत विशेष मणि आदि पृथ्वीकाय में "आतप" जानना चाहिये। सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव के निज-आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्ध-स्वरूप में स्वभाव-व्यञ्जन पर्याय विद्यमान है फिर भी अनादि कर्मबंधन के कारण पुद्गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थानभूत राग द्वेष परिणाम होने पर स्वाभाविक-परमानन्दरूप एक स्वास्थ्य भाव से भ्रष्ट हुए जीवोंके मनुष्य, नारक आदि विभाव-व्यंजन-पर्याय होते हैं; उसी तरह पुद्गल में निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशारूप स्वभाव-व्यञ्जन-पर्याय के विद्यमान होते हुए भी "स्निग्ध तथा रूक्षता से बन्ध होता है।" इस वचन से राग और द्वेष के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योग्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणाच्छब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षण आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः । एवमजीवाधिकारमध्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टययुक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितशब्दादिपर्यायसहितस्य संक्षेपेणाणुस्कंधभेदभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १६ ॥

अथ धर्मद्रव्यमाख्याति :—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥ १७ ॥

गतिपरिणतानां धर्म्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति ॥ १७ ॥

व्याख्या—गतिपरिणतानां धर्मो जीवपुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति । दृष्टान्तमाह—तोयं यथा मत्स्यानाम् । स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति तानिति । तथाहि—यथा सिद्धो भगवानमूर्त्तोऽपि निष्क्रियस्तथैवाप्रेरकोऽपि

स्थानीय बंध योग्य स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होने पर पहले बतलाये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव-व्यञ्जन-पर्याय जाननी चाहियें ।

इस प्रकार अजीव अधिकार में "अज्जीवो" आदि पूर्व गाथा में कहे गये रूप-रसादि चारों गुणों से युक्त तथा यहां गाथा में कथित शब्द आदि पर्याय सहित अणु, स्कन्ध आदि पुद्गल द्रव्य का संक्षेप से निरूपण करने वाली दो गाथायें समाप्त हुईं ॥ १६ ॥

अब धर्मद्रव्य को कहते हैं :—

गाथार्थः—गमन में परिणत पुद्गल और जीवोंको गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है.—जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है । गमन न करते हुए (ठहरे हुए) पुद्गल व जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता ॥ १७ ॥

वृत्त्यर्थः—चलते हुए जीव तथा पुद्गलों को चलने में सहकारी धर्मद्रव्य होता है । इसका दृष्टांत यह है कि जैसे मछलियों के गमन में सहायक जल है । परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता । तथैव, जैसे सिद्ध भगवान् अमूर्त्त हैं, क्रिया-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानां निश्चयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणपरिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति । तथा निष्क्रियोऽमूर्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः । एवं धर्मद्रव्य-व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ १७ ॥

अथाधर्मद्रव्यमुपदिशति :—

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ १८ ॥

स्थानयुतानां अधर्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी ।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति ॥ १८ ॥

व्याख्या—स्थानयुक्तानामधर्मः पुद्गलजीवानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति । तत्र दृष्टान्तः—छाया यथा पथिकानाम् । स्वयं गच्छतो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति । तद्यथा—स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरूपं परमस्वास्थ्यं यद्यपि निश्चयेन

रहित हैं तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी "मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञानादि गुणरूप हूं" इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्धभक्ति के धारक और निश्चय से निर्विकल्पक ध्यानरूप अपने उपादान कारण से परिणत भव्यजीवों को वे सिद्ध भगवान सिद्ध गति में सहकारी कारण होते हैं । ऐसे ही क्रियारहित, अमूर्त्त प्रेरणारहित धर्मद्रव्य भी अपने अपने उपादान कारणों से गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी कारण होता है । जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल आदि सहायक कारण होने का लोक प्रसिद्ध दृष्टांत है, यह अभिप्राय है । इस तरह धर्म द्रव्य के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥ १७ ॥

अब अधर्मद्रव्य को कहते हैं :—

गाथार्थः—ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है । जैसे छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी है । गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को अधर्मद्रव्य नहीं ठहराता ॥ १८ ॥

वृत्त्यर्थ :—ठहरे हुए पुद्गल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है । उसमें दृष्टान्त—जैसे छाया पथिकों को ठहरने में सहकारी कारण है । परन्तु स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गलों को अधर्मद्रव्य नहीं ठहराता है । सो ऐसे है—यद्यपि निश्चय नय से आत्म-अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम स्वास्थ्य है वह निज रूप में स्थिति का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूपे स्थितिकारणं भवति तथा "सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोऽहं । देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ।१।" इति गाथाकथितसिद्धभक्तिरूपेणेह पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम् । लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वेति सूत्रार्थः । एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता ॥ १८ ॥

अथाकाशद्रव्यमाह :—

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विजानीहि आकाशम् ।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—जीवादीनामवकाशदानयोग्यमाकाशं विजानीहि हे शिष्य ! किं विशिष्टं ? "जेण्हं" जिनस्येदं जैनं, जिनेन प्रोक्तं वा जैनम् । तच्च लोकालोका-

---

कारण है; परन्तु "मैं सिद्ध हूं; शुद्ध हूं; अनन्तज्ञान आदि गुणों का धारक हूँ; शरीर प्रमाण हूँ; नित्य हूं; असंख्यात प्रदेशी हूँ तथा अमूर्त्तिक हूं । १ ।" इस गाथा में कही हुई सिद्ध भक्ति के रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जैसे भव्य जीवों के लिए बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी तरह अपने २ उपादान कारण से अपने आप ठहरते हुए जीव पुद्गलों को अधर्मद्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है। लोक व्यवहार से जैसे छाया अथवा पृथिवी ठहरते हुए यात्रियों आदि को ठहरने में सहकारी होती है उसी तरह स्वयं ठहरते हुए जीव पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य सहकारी होता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य के कथन द्वारा यह गाथा समाप्त हुई ॥ १८ ॥

अब आकाशद्रव्य को कहते हैं :—

गाथार्थ :—जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसको जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाशद्रव्य जानो । लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से आकाश दो प्रकार का है ॥ १९ ॥

वृत्त्यर्थः—हे शिष्य ! जीवादिक द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य समझो । वह आकाश, लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदों से दो तरह का है । अब इसको विस्तार से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काशभेदेन द्विविधमिति । इदानीं विस्तर :—सहजशुद्धसुखामृतरसास्वादेन परम-समरसीभावेन भरितावस्थेषु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमिता-संख्येयस्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितासद्-भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते इत्युक्तोऽस्ति । स च ईदृशो मोक्षो यत्र प्रदेशे परमध्यानेनात्मा स्थितः सन् कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति नान्यत्र । ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा ऊर्ध्वगमनस्वभावेन गत्वा मुक्तात्मानो यतो लोकाग्रे तिष्ठन्तीति तत-उपचारेण लोकाग्रमपि मोक्षः प्रोच्यते, यथा तीर्थभूत-पुरुषसेवितस्थानमपि भूमिजलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति । सुखबोधार्थं कथित-मास्ते । यथा तथैव सर्वद्रव्याणि यद्यपि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचंद्र-सिद्धान्तदेवानामिति ॥ १६ ॥

तमेव लोकाकाशं विशेषेण द्रढयति :—

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति ॥ २० ॥

धर्माधर्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके ।
आकाशे सः लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः ॥ २० ॥

कहते हैं—स्वाभाविक, शुद्ध सुखरूप अमृत रस के आस्वाद रूप परमसमरसी भाव से परिपूर्ण तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश अपनी आत्मा के हैं; उन प्रदेशों में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्ध जीव रहते हैं; तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से सिद्ध मोक्षशिला (ऊपरी तनुवात वलय) में रहते है, ऐसा कहा जाता है । ऐसा पहले कह चुके हैं । जिस स्थान में आत्मा परमध्यान से कर्मरहित होता है, ऐसा मोक्ष वहाँ ही है; अन्यत्र नहीं । ध्यान करने के स्थान में कर्म-पुद्गलों को छोड़कर तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गमन कर मुक्त जीव चूंकि लोक के अग्र-भाग में जाकर निवास करते हैं इस कारण लोक का अग्रभाग भी उपचार से मोक्ष कहलाता है, जैसे कि तीर्थभूत पुरुषों द्वारा सेवित भूमि, पर्वत, गुफा जल आदि स्थान भी उपचार से तीर्थ होते हैं । यह वर्णन सुगमता से समझाने के लिये किया है । जैसे सिद्ध अपने प्रदेशों में रहते हैं उसी प्रकार निश्चयनय से सभी द्रव्य यद्यपि अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं; तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश में सब द्रव्य रहते हैं; ऐसा भगवान् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव का अभिप्राय जानना चाहिए ॥ १६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकः। तथा चोक्तं—लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति। तस्माल्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति। अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी। हे भगवन्! केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति। स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हतो न धृतो न च रक्षितः। तथैवासंख्यातप्रदेशस्तत्रासंख्यातप्रदेशे लोकेऽनन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति? भगवानाह—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगूढरसनागगद्याणके बहुसुवर्णवद्भस्मघटमध्ये सूचिकोष्ट्रदुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादसंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानमवगाहो न विरुध्यते। यदि पुनरित्थंभूतावगाहनशक्ति-

---

उसी लोकाकाश को विशेष रूप से दृढ़ करते हैं :—

गाथार्थ :—धर्म; अधर्म; काल; पुद्गल और जीव ये पाँचों द्रव्य जितने आकाश में हैं वह "लोकाकाश" है और उस लोकाकाश के बाहर "अलोकाकाश" है ॥ २० ॥

वृत्त्यर्थ :—धर्म; अधर्म; काल; पुद्गल और जीव जितने आकाश में रहते हैं उतने आकाश का नाम "लोकाकाश" है। ऐसा कहा भी है कि—जहाँ पर जीव आदि पदार्थ देखने में आते हैं वह लोक है। उस लोकाकाश से बाहर जो अनन्त आकाश है वह "अलोकाकाश" है।

यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन! केवल ज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है और उस आकाश के भी अनन्तवें भाग में, सबके बीच में लोक है और वह लोक (काल की दृष्टि से) आदि अन्त रहित है; न किसी का बनाया हुआ है; न किसी से कभी नष्ट होता है, न किसी के द्वारा धारण किया हुआ है और न कोई उसकी रक्षा करता है। वह लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों का धारक है। उस असंख्यात प्रदेशी लोक में असंख्यात प्रदेशी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालाणु लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य कैसे रहते हैं?

भगवान् उत्तर में कहते हैं—एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है, अथवा एक गूढ़ रस विशेष से भरे शीसे के बर्तन में बहुत सा सुवर्ण समा जाता है; अथवा भस्म से भरे हुए घट में सुई और ऊँटनी का दूध आदि समा जाते हैं; इत्यादि दृष्टान्तों के अनुसार विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक में पूर्वोक्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

र्न भवति तर्ह्यसंख्यातप्रदेशेष्वसंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावास्तथा व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा प्रत्यक्षविरोधादागमविरोधाच्चेति। एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥ २० ॥

अथ निश्चयव्यवहारकालस्वरूपं कथयति :—

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २१ ॥

द्रव्यपरिवर्तनरूपः यः सः कालः भवेत् व्यवहारः।
परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः ॥ २१ ॥

व्याख्या—"दव्वपरिवट्टरूवो जो" द्रव्यपरिवर्त्तरूपो यः "सो कालो हवेइ ववहारो" स कालो भवति व्यवहाररूपः। स च कथंभूतः? "परिणामादीलक्खो" परिणामक्रियापरत्वापरत्वेन लक्ष्यत इति परिणामादिलक्ष्यः। इदानीं निश्चयकालः कथ्यते "वट्टणलक्खो य परमट्ठो" वर्त्तनालक्षणश्च परमार्थकाल इति। तद्यथा—

जीव पुद्गलादिक के भी समा जाने में कुछ विरोध नहीं आता। यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न होवे तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास हो सकेगा। ऐसा होने पर जैसे शक्ति रूप शुद्ध निश्चयनय से सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं; वैसे ही व्यक्ति रूप व्यवहारनय से भी हो जायें, किन्तु ऐसे हैं नहीं। क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध है। इस तरह आकाश द्रव्य के निरूपण से दो सूत्र समाप्त हुए ॥ २० ॥

अब निश्चयकाल तथा व्यवहारकाल के स्वरूप का वर्णन करते हैं :—

गाथार्थ :—जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है, सो व्यवहारकाल है, वर्त्तना-लक्षण वाला जो काल है वह निश्चय काल है ॥ २१ ॥

वृत्त्यर्थ :—"दव्वपरिवट्टरूवो जो" जो द्रव्य परिवर्त्तन रूप है 'सो कालो हवेइ ववहारो' वह व्यवहार रूप काल होता है। और वह कैसा है? "परिणामादीलक्खो" परिणाम; क्रिया; परत्व; अपरत्व से जाना जाता है; इसलिये परिणामादि से लक्ष्य है। अब निश्चयकाल को कहते हैं—"वट्टणलक्खो य परमट्ठो" जो वर्त्तनालक्षण वाला है वह परमार्थ (निश्चय) काल है। विशेष—जीव तथा पुद्गल का परिवर्त्तनरूप जो नूतन तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवपुद्गलयोः परिवर्त्तो नवजीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः। तथाचोक्तं संस्कृतप्राभृतेन— "स्थितिः कालसंज्ञका" तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थिति सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः। यत एव पर्याय-सम्बन्धिनी स्थितिर्व्यवहारकालसंज्ञां भजते तत एव जीवपुद्गलसम्बन्धिपरिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया गोदोहनपाकादिपरिस्पन्दलक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूरासन्नचलनकालकृतपरत्वापरत्वेन च लक्ष्यते ज्ञायते यः, स परिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण इत्युच्यते। अथ द्रव्यरूपनिश्चयकालमाह। स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेवपरिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधस्तन-शिलावत्, शीतकालाध्ययने अग्निवत्, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते। सैव लक्षणं यस्य स वर्त्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः, इति व्यवहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च विज्ञेयम्।

कश्चिदाह "समयरूप एव निश्चयकालस्तस्मादन्यः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चय-

---

जीर्ण पर्याय है- उस पर्याय की जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है; वह स्थिति है स्वरूप जिसका, वह द्रव्यपर्याय रूप व्यवहारकाल है। ऐसा ही संस्कृत-प्राभृत में भी कहा है—"जो स्थिति है, वह कालसंज्ञक है"। सारांश यह है—द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है; वह स्थिति ही "व्यवहारकाल" है; वह पर्याय व्यवहार-काल नहीं है। और क्योंकि पर्यायसम्बन्धिनी स्थिति 'व्यवहारकाल" है इसी कारण जीव व पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशान्तर में आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसीलिये वह व्यवहारकाल परिणाम; क्रिया; परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला कहा जाता है। अब द्रव्य रूप निश्चयकाल को कहते हैं— अपने-अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को, जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है, अथवा शीतकाल में छात्रों को पढ़ने के लिये अग्नि सहकारी है, उसी प्रकार जो पदार्थों के परिणमन में सहकारता है. उसको "वर्त्तना" कहते हैं। वह वर्त्तना ही है लक्षण जिसका, वह वर्त्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप "निश्चयकाल" है। इस तरह व्यवहारकाल तथा निश्चयकाल का स्वरूप जानना चाहिये।

यहाँ कोई कहता है—कि समय रूप ही निश्चयकाल है; उस समय से भिन्न अन्य कोई कालाणु द्रव्य रूप निश्चयकाल नहीं है; क्योंकि वह देखने में नहीं आता। इसका उत्तर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालो नास्त्यदर्शनात् ?" तत्रोत्तरं दीयते—समयस्तावत्कालस्तस्यैव पर्यायः। स कथं पर्याय इति चेत् ? पर्यायस्योत्पन्नप्रध्वंसित्वात्। तथाचोक्तं "समओ उप्पण्ण पद्धंसी"। स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूपपर्यायकालस्योपादानकारणभूतं द्रव्यं तेनापि कालरूपेण भाव्यम्। इन्धनाग्निसहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवत्, अथ कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरंगनिमित्तोत्पन्नस्य मृण्मयघटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवत्, अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादानकारणवदिति। तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। अथ मतं "समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरविम्बमुपादानकारणमिति।" नैवम्। यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्ध—स्निग्धरूक्षादिस्पर्श—मधुरादिरसविशेषरूपा

देते हैं—कि समय तो काल की ही पर्याय है। यदि यह पूछो कि समय काल की पर्याय कैसे है ? तो उत्तर यह है, पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होना है। 'समय' भी उत्पन्न व नष्ट होता है, इसलिये पर्याय है। पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती; उस समय रूप पर्याय काल का (व्यवहार काल का) उपादान कारणभूत द्रव्य भी कालरूप ही होना चाहिए। क्योंकि जैसे ईंधन, अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न भात (पके चावल) का उपादान कारण चावल ही होता है; अथवा कुम्भकार, चाक, चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारणों से उत्पन्न जो मिट्टी की घट पर्याय है उसका उपादान कारण मिट्टी का पिंड ही है; अथवा नर, नारक आदि जो जीव की पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव है; इसी तरह समय घड़ी आदि काल का भी उपादान कारण काल ही होना चाहिए। यह नियम भी इसलिये है कि "अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता है" ऐसा वचन है।

कदाचित् ऐसा कहो कि "समय, घड़ी आदि कालपर्यायों का उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में मंदगति से परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है; तथा निमेषरूप कालपर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पुटों का विघटन अर्थात् पलक का गिरना उठना उपादान कारण है; ऐसे ही घड़ी रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में घड़ी की सामग्रीरूप जल का कटोरा और पुरुष के हाथ आदि का व्यापार उपादान कारण है; दिन रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का विम्ब उपादान कारण है।" ऐसा नहीं है, जिस तरह चावलरूप उपादान कारण से उत्पन्न भात पर्याय के उपादान कारण में प्राप्त गुणों के समान ही सफेद, काला आदि वर्ण; अच्छी या बुरी गन्ध; चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श; मीठा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणा दृश्यन्ते । तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरविम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति, न च तथा । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात् । किं बहुना । योऽसावनाद्यनिधनस्तथैवामूर्त्तो नित्यः समयाद्युपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहितः कालाणुद्रव्यरूपः स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयघटिकाप्रहरादिविवक्षितव्यवहारविकल्परूपस्तस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति । अयमत्र भावः । यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यम् न च कालस्तेन स हेय इति । २१ ।

अथ निश्चयकालस्यावस्थानक्षेत्रं द्रव्यगणनां च प्रतिपादयति :—

आदि रस; इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं; वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र-पलक विघटन, जल कटोरा, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्य का बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घड़ी, दिन आदि जो कालपर्याय हैं उनके भी सफेद, काला आदि गुण मिलने चाहियें; परन्तु समय घड़ी आदि में ये गुण नहीं दीख पड़ते, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है ऐसा वचन है।

बहुत कहने से क्या लाभ। जो आदि तथा अन्त से रहित अमूर्त्त है, नित्य है, समय आदि का उपादानकारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्यरूप है, वह निश्चयकाल है और जो आदि तथा अन्त से सहित है; समय, घड़ी, पहर आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है, वह उसी द्रव्यकाल का पर्याय रूप व्यवहारकाल है। सारांश यह कि यद्यपि यह जीव काललब्धि के वश से अनन्त सुख का भाजन होता है, तो भी विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव का धारक जो निज परमात्म तत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान आचरण और संपूर्ण बाह्य द्रव्यों की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण वाला तपश्चरणरूप जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप चार प्रकार की निश्चय आराधना है, वह आराधना ही उस जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण जाननी चाहिए उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये वह कालद्रव्य हेय है ॥ २१ ॥

अब निश्चयकाल के रहने का क्षेत्र तथा काल द्रव्य की संख्या का प्रतिपादन करते हैं:—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ २२ ॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः ।
रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि ॥ २२ ॥

व्याख्या—"लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का" लोकाकाशप्रदेशेष्वेकैकेषु ये स्थिता एकैकसंख्योपेता "हु" स्फुटं । क इव ? "रयणाणं रासीइव" परस्परतादात्म्यपरिहारेण रत्नानां राशिरिव । "ते कालाणू" ते कालाणवः । कति संख्योपेताः ? "असंखदव्वाणि" लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति । तथाहि—यथा अंगुलिद्रव्यस्य यस्मिन्नेव क्षणे वक्रपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव क्षणे पूर्वप्राञ्जलपर्यायविनाशोऽङ्गुलिरूपेण ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः । यथैव च केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति वा द्रव्यसिद्धिः । तथा कालाणोरपि मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना व्यक्तीकृतस्य कालाणूपादानकारणोत्पन्नस्य य एव वर्तमानसमयस्योत्पादः स एवातीतसमयापेक्षया विनाशस्तदुभया-

---

गाथार्थ :— जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर समान परस्पर भिन्न हो कर एक-एक स्थित हैं वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ॥ २२ ॥

वृत्त्यर्थ :—"लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का" एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर जो एक-एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूप से स्थित हैं। किस के समान हैं ? "रयणाणं रासी इव" परस्पर में तादात्म संबंध के अभाव के कारण रत्नों की राशि के समान भिन्न-भिन्न स्थित हैं। "ते कालाणू" वे कालाणु हैं। कितनी संख्या के धारक हैं ? "असंखदव्वाणि" लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात द्रव्य हैं। विशेष—जैसे जिस क्षण में अंगुली रूप द्रव्य के टेढ़ी रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है उसी क्षण में उसके सीधे आकार रूप पर्याय का नाश होता और अंगुली रूप से वह अंगुली दोनों दशाओं में ध्रौव्य है। इस तरह उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों से युक्त द्रव्य के स्वरूप की सिद्धि है। तथा जैसे केवल ज्ञान आदि की प्रकटता रूप कार्य समयसार का (परम-आत्मा का) उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यान रूप जो कारण समयसार है, उसका नाश होता है और उन दोनों का आधारभूत जो परमात्मा द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य है; इस तरह से भी द्रव्य की सिद्धि है। उसी तरह कालाणु के भी, जो मन्दगति में परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रगट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए जो यह वर्त्तमान समय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धारकालाणुद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युत्पादव्यय ध्रौव्यात्मककालद्रव्यसिद्धिः। लोकबहिर्भागेकालाणुद्रव्याभावात्कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेत् ? अखण्डद्रव्यत्वादेकदेशदण्डाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्, तथैवैकदेशमनोहरस्पर्शनेन्द्रियविषयानुभवसर्वाङ्गसुखवत्, लोकमध्यस्थितकालाणुद्रव्यधारणैकदेशेनापि सर्वत्र परिणमनं भवतीति कालद्रव्यं शेषद्रव्याणां परिणतेः सहकारिकारणं भवति । कालद्रव्यस्य किं सहकारिकारणमिति ? यथाकाशद्रव्यमशेषद्रव्याणामाधारः स्वस्यापि, तथा कालद्रव्यमपि परेषां परिणतिसहकारिकारणं स्वस्यापि । अथ मतं यथा कालद्रव्यं स्वस्योपादानकारणं परिणतेः सहकारिकारणं च भवति तथा सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण किं प्रयोजनमिति ? नैवम् ; यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेनप्रयोजनं नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणां साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहका-

---

का उत्पाद है; वही बीते हुए समय की अपेक्षा विनाश है और उन वर्त्तमान तथा अतीत दोनों समय का आधारभूत कालद्रव्यत्व से ध्रौव्य है। इस तरह उत्पाद; व्यय; ध्रौव्य रूप काल द्रव्य की सिद्धि है।

शंका :—"लोक के बाहरी भाग में कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश में परिणमन कैसे हो सकता है ?" इस शंका का उत्तर यह है—आकाश अखंड द्रव्य है इस लिये जैसे चाक के एक कोने में डन्डे की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है; अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का प्रिय अनुभव एक अंग में करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है; उसी प्रकार लोक आकाश में स्थित जो कालाणु द्रव्य है वह आकाश के एक देश में स्थित है तो भी सर्व अखण्ड आकाश में परिणमन होता है; इसी प्रकार काल द्रव्य शेष सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है।

शंका :—जैसे काल द्रव्य, जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है वैसे ही काल द्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण कौन है ? उत्तर—जिस तरह आकाश द्रव्य शेष सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है; इसी तरह कालद्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है।

शंका :—जैसे कालद्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है; वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने २ परिणमन के सहकारी कारण रहें। उन द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य से क्या प्रयोजन है ? समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि, यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति; स्थिति; अवगाहन के लिये सहकारी कारणभूत जो धर्म; अधर्म; आकाश द्रव्य हैं उनकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। विशेष :—काल का कार्य तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिकारणभूतैः प्रयोजनं नास्ति । किञ्च, कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते; धर्मादीनां पुनरागमकथनमेव, प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते; ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभावः प्राप्नोति । ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव, स चागमविरोधः । किञ्च, सर्वद्रव्याणां परिणतिसहकारित्वं कालस्यैव गुणः, घ्राणेन्द्रियस्य रसास्वादनमिवान्यद्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्तुं नायाति द्रव्यसंकरदोषप्रसंगादिति ।

कश्चिदाह—यावत्कालेनैकाकाशप्रदेशं परमाणुरतिक्रामति ततस्तावत् कालेन समयो भवतीत्युक्तमागमे एकसमयेन चतुर्दशरज्जुगमने यावंत आकाशप्रदेशास्तावन्तः समयाः प्राप्नुवन्ति । परिहारमाह—एकाकाशप्रदेशातिक्रमेण यत् समयव्याख्यानं कृतं तन्मन्दगत्यपेक्षया, यत्पुनरेकसमये चतुर्दशरज्जुगमनव्याख्यानं तत्पुनः शीघ्रगत्यपेक्षया । तेन कारणेन चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमयः । तत्र दृष्टान्तः—कोऽपि देवदत्तो योजनशतं मन्दगत्या दिनशतेन गच्छति । स एव विद्याप्रभावेण शीघ्रगत्या दिनेनैकेनापि गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति । किन्त्वेक एव दिवसः । तथा चतुर्दशरज्जुगमनेऽपि शीघ्रगमनेनैक एव समयः ।

घड़ी, दिन आदि प्रत्यक्ष से दीख पड़ता है; किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम (शास्त्र) के कथन से ही माना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता । इसलिए जैसे कालद्रव्य का अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यों का भी अभाव प्राप्त होता है । और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे । केवल दो ही द्रव्यों के मानने पर आगम से विरोध आता है । सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होना यह केवल कालद्रव्य का ही गुण है । जैसे नाक से रस का आस्वाद नहीं हो सकता; ऐसे ही अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य द्रव्य के द्वारा नहीं किया जाता । क्योंकि ऐसा मानने से द्रव्यसंकर दोष का प्रसंग आवेगा (अन्य द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्य में चला जायेगा) ।

अब कोई कहता है—जितने काल में "आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम समय है"; ऐसा शास्त्र में कहा है तो एक समय में परमाणु के चौदह रज्जु गमन करने पर, जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने ही समय होने चाहियें ? शंका का निराकरण करते हैं—आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है; सो तो मन्दगति की अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से है । इसलिये शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है । इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है, तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किञ्च—स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभवं दृष्टम् श्रुतं च मनसि स्मृत्वा तद्विषयाभिलाषं करोति तदपध्यानं भण्यते तत्प्रभृतिसमस्त-जालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतराग-चारित्रं भवति । यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति भण्यते । तदेव कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम् । कालस्तु तदभावे सहकारिकारणमपि न भवति ततः स हेय इति । तथाचोक्तम्—"किं पल्लविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले । सिज्झिहंहि जेवि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥" इदमत्र तात्पर्यम्—कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतराग-सर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विवादो न कर्तव्यः । कस्मादिति चेत् ? विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति ॥ २२ ॥

एवं कालद्रव्यव्याख्यानमुख्यतया पञ्चमस्थले सूत्रद्वयं गतं । इतिगाथा-ष्टकसमुदायेन पंचभिः स्थलैः पुद्गलादिपंचविधाजीवद्रव्यकथनरूपेण द्वितीयो अन्तराधिकारः समाप्तः ।

करने में सौ दिन हो गये ? किन्तु एक ही दिन लगेगा । इसी तरह शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है ।

तथा स्वयं विषयों के अनुभव से रहित भी यह जीव अन्य के द्वारा अनुभव किए हुए, देखे हुए, सुने हुए विषय को मन में स्मरण करके विषयों की इच्छा करता है उसको अपध्यान कहते हैं । उस विषय-अभिलाषा आदि समस्त विकल्पों से रहित और आत्म-अनुभव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्दरूप सुख के रस आस्वाद से सहित वीतराग चारित्र होता है और जो उस वीतराग चारित्र से अविनाभूत है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व है । वह निश्चय सम्यक्त्व ही तीनों कालों में मुक्ति का कारण है । काल तो उस निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में वीतराग चारित्र का सहकारी कारण भी नहीं होता; इस कारण कालद्रव्य हेय है । ऐसा कहा भी है—' बहुत कहने से क्या; जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं व होंगे; वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है ।" यहाँ तात्पर्य यह है कि काल-द्रव्य तथा अन्य द्रव्योंके विषयमें परम-आगम के अविरोध से ही विचारना चाहिए; 'वीतराग सर्वज्ञ का वचन प्रमाण है" ऐसा मन में निश्चय करके उनके कथन में विवाद नहीं करना चाहिए । क्योंकि विवाद में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन राग-द्वेषों से संसार की वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार कालद्रव्य के व्याख्यान की मुख्यता से पांचवे स्थल में दो गाथा हुई । इस प्रकार आठ गाथाओं के समुदाय रूप पांचवे स्थल से पुद्गलादि पांच प्रकार के अजीव द्रव्य के कथन द्वारा दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः परं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायव्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथापूर्वार्द्धेन षड्द्रव्यव्याख्यानोपसंहार उत्तरार्धेन तु पंचास्तिकायव्याख्यानप्रारम्भः कथ्यते :—

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥ २३ ॥

एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदतः द्रव्यम् ।
उक्तं कालवियुक्तम् ज्ञातव्याः पञ्च अस्तिकायाः तु ॥ २३ ॥

व्याख्या—"एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं" एवं पूर्वोक्त-प्रकारेण षड्भेदमिदं जीवाजीवप्रभेदतः सकाशाद्द्रव्यमुक्तं कथितं प्रतिपादितम् । "कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु" तदेव षड्विधं द्रव्यं कालेन वियुक्तं रहितं ज्ञातव्याः पञ्चास्तिकायास्तु पुनरिति ॥ २३ ॥

पञ्चेति संख्या ज्ञाता तावदिदानीमस्तित्वं कायत्वं च निरूपयति :—

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥ २४ ॥

सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणन्ति जिनवराः यस्मात् ।
काया इव बहुदेशाः तस्मात् कायाः च अस्तिकायाः च ॥ २४ ॥

अब इसके पश्चात् पांच गाथाओं में पंचास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं और उनमें भी प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में छहों द्रव्यों के व्याख्यान का उपसंहार और उत्तरार्ध से पंचास्तिकाय के व्याख्यान का आरम्भ करते हैं :—

गाथार्थ :—इस प्रकार जीव और अजीव के प्रभेद से यह द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के बिना शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय जानने चाहियें ॥ २३ ॥

वृत्त्यर्थ :—"एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं" पूर्वोक्त प्रकार से जीव तथा अजीव के भेद से ये द्रव्य छह प्रकार के कहे गये हैं । "कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु" वे ही छह प्रकार के द्रव्य कालरहित अर्थात् काल के बिना (शेष पांच द्रव्यों को) पांच अस्तिकाय समझना चाहिये ॥ २३ ॥

अस्तिकाय की पांच संख्या तो जान ली हैं, अब उनके अस्तित्व और कायत्व का निरूपण करते हैं :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा" सन्ति विद्यन्ते यत एते जीवाद्याकाशपर्यन्ताः पञ्च तेन कारणेनैतेऽस्तीति भणंति जिणवराः सर्वज्ञाः। "जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य" यस्मात्काया इव बहुप्रदेशास्तस्मात्कारणात्कायाश्च भणंति जिनवराः। "अत्थिकाया य" एवं न केवलं पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव कायत्वेन युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति किन्तूभयमेलापकेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति। इदानीं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति। तथाहिशुद्धजीवास्तिकाये सिद्धत्वलक्षणः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वादयः सामान्यगुणाश्च। तथैवाव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादो रागादिविभावरहितपरमस्वास्थ्यरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणैर्गुणपर्यायैरुत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सत्तारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो

गाथार्थ :—"चूंकि विद्यमान हैं इसलिये जिनेश्वर ने इनको 'अस्ति' कहा है और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं इसलिये इनको 'काय' कहा है। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होते हैं ॥ २४ ॥

वृत्त्यर्थ :—"संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा" जीव से आकाश तक पांच द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये सर्वज्ञ देव इनको 'अस्ति' कहते हैं। "जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य" और क्योंकि काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं; इस कारण जिनेश्वरदेव इनको 'काय' कहते हैं। "अत्थिकाया य" इस प्रकार अस्तित्व से युक्त ये पांचों द्रव्य केवल 'अस्ति' ही नहीं हैं और कायत्व से युक्त होने से केवल 'काय' भी नहीं हैं; किन्तु अस्ति और काय इन दोनों को मिलाने से "अस्तिकाय" संज्ञा के धारक हैं।

अब इन पांचों के संज्ञा लक्षण तथा प्रयोजन आदि से यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्व के साथ अभेद है यह दर्शाते हैं :—

जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व रूप शुद्ध द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय है; केवल ज्ञान आदि विशेष गुण हैं तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं। तथा मुक्ति दशा में अव्याबाध अनन्तसुख आदि अनन्तगुणों की प्रकटता रूप कार्य समयसार का उत्पाद, रागादि विभाव रहित परम स्वास्थ्य रूप कारण समय-सार का व्यय (नाश) और उत्पाद तथा व्यय इन दोनों का आधारभूत परमात्मा रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नास्ति। कस्मादिति चेत् ? मुक्तात्मसत्तायां गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययध्रौव्याणां चास्तित्वं सिद्ध्यति, गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यसत्तायाश्च मुक्तात्मास्तित्वं सिद्ध्यतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति। कायत्वं कथ्यते—बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितासंख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं भण्यते। यथा शुद्धगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह मुक्तात्मनः सत्तारूपेण निश्चयेनाभेदो दर्शितस्तथा यथासंभवं संसारिजीवेषु पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु च द्रष्टव्यः। कालद्रव्यं विहाय कायत्वं चेति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

अथ कायत्वव्याख्याने पूर्वं यत्प्रदेशास्तित्वं सूचितं तस्य विशेषव्याख्यानं करोतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति प्रतिपादयति :—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ २५ ॥

द्रव्यपने से ध्रौव्य है। इस प्रकार पहले कहे लक्षण सहित गुण तथा पर्यायों से और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य के साथ मुक्त अवस्था में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्ता रूप से और प्रदेश रूप से भेद नहीं है। क्योंकि मुक्त जीवों की सत्ता होने पर गुण तथा पर्यायों की और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता सिद्ध होती है, एवं गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की सत्ता से मुक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस तरह गुण पर्याय आदि से मुक्त आत्मा की और मुक्त-आत्मा से गुण पर्याय की परस्पर सत्ता सिद्ध होती है। अब इनके कायपना कहते हैं—बहुत से प्रदेशों के समूह को देखकर जैसे शरीर को काय कहते हैं (जैसे शरीर में अधिक प्रदेश होने के कारण शरीर को काय कहते हैं) उसी प्रकार अनंतज्ञान आदि गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश के बराबर असंख्यात शुद्ध प्रदेशों का समूह, संघात अथवा मेल को देखकर मुक्त जीव में भी कायत्व कहा जाता है। जैसे शुद्ध गुण, पर्यायों से तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित मुक्त-आत्मा के निश्चयनय की अपेक्षा सत्ता रूप से अभेद बताया गया है, वैसे ही संसारी जीवों में तथा पुद्गल; धर्म; अधर्म; आकाश और काल द्रव्यों में भी यथासंभव परस्पर अभेद देख लेना चाहिये। कालद्रव्य को छोड़कर अन्य सब द्रव्यों के कायत्व रूप से भी अभेद है। यह गाथा का अभिप्राय है ॥ २४ ॥

अब कायत्व के व्याख्यान में जो पहले प्रदेशों का अस्तित्व सूचित किया है उसका विशेष व्याख्यान करते हैं यह तो अगली गाथा की एक भूमिका है; और किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं, दूसरी भूमिका यह प्रतिपादन करती है :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवन्ति असंख्याः जीवे धर्माधर्मयोः अनन्ताः आकाशे ।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्य एकः न तेन सः कायः ॥ २५ ॥

व्याख्या—"होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे" भवन्ति लोकाकाशप्रमिता-संख्येयप्रदेशाः प्रदीपवदुपसंहारविस्तारयुक्तेऽप्येकजीवे, नित्यं स्वभावविस्तीर्णयो-र्धर्माधर्मयोरपि । "अणंत आयासे" अनन्तप्रदेशा आकाशे भवन्ति । "मुत्ते तिविह पदेसा" मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानन्ताणूनां पिण्डाः स्कन्धास्त एव त्रिविधाः प्रदेशा भण्यन्ते, न च क्षेत्रप्रदेशाः । कस्मात् ? पुद्गलस्यानन्तप्रदेशक्षेत्रे अवस्थानाभावादिति । "कालस्सेगो" कालाणुद्रव्यस्यैक एव प्रदेशः । "ण तेण सो काओ" तेन कारणेन स कायो न भवति । कालस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्तिं प्रदर्शयति । तद्यथा—किञ्चिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादान-कारणभूतं शुद्धात्मद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव । यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादान-कारणभूतं संसारिजीवद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपादानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति । अथवा

गाथार्थ :—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त हैं। पुद्गल संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी तीनों प्रकार वाले हैं । काल के एक ही प्रदेश है इसलिये काल 'काय' नहीं है ॥ २५ ॥

वृत्त्यर्थ :—"होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे" दीपक के समान संकोच तथा विस्तार से युक्त एक जीव में भी और सदा स्वभाव से फैले हुए धर्म, अधर्म द्रव्यों में भी लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश होते हैं। 'अणंत आयासे" आकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं। "मुत्ते तिविह पदेसा" मूर्त—पुद्गल द्रव्य में जो संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त परमा-णुओं के पिंड अर्थात् स्कन्ध हैं, वे ही तीन प्रकार के प्रदेश कहे जाते हैं; न कि क्षेत्र-प्रदेश तीन प्रकार के हैं। क्योंकि पुद्गल अनन्त प्रदेश वाले क्षेत्र में नहीं रहता। 'कालस्सेगो" कालद्रव्य का एक ही प्रदेश है। "ण तेण सो काओ" इसी कारण कालद्रव्य 'काय' नहीं है ।

कालद्रव्य के एक प्रदेशी होने में युक्ति बतलाते हैं। यथा—जैसे अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारण भूत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्याय के प्रमाण ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायों का उपादान कारण भूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य, देव आदि पर्याय के प्रमाण ही है। उसी प्रकार कालद्रव्य भी समयरूप काल पर्याय के विभाग से उपादान रूप अविभागी एक प्रदेश ही होता है। अथवा मंदगति से गमन करते हुए पुद्गल परमाणु के एक आकाश के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन्दगत्या गच्छतः पुद्गलपरमाणोरेकाकाशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति ततो ज्ञायते तदप्येकप्रदेशमेव ।

कश्चिदाह—पुद्गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारणं धर्मद्रव्यं तिष्ठति, कालस्य किमायातम् ? नैवं वक्तव्यम्—धर्मद्रव्ये गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्यानां जलवन्मनुष्याणां शकटारोहणादिवत्सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति इति । अथ मतं कालद्रव्यं पुद्गलानां गतिसहाकारिकारणं कुत्र भणितमास्ते ? तदुच्यते—"पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणादु" इत्युक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पञ्चास्तिकायप्राभृते । अस्यार्थः कथ्यते—धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जीवानाम् कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं भवन्ति, अणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां तु कालद्रव्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथैकप्रदेशस्यापि पुद्गलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति :—

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥ २६ ॥

प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है; इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है ।

यहाँ कोई कहता है कि—पुद्गल परमाणु की गति में सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य विद्यमान है ही; इसमें काल द्रव्य का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ऐसा नहीं है । क्योंकि गति के सहकारी कारण धर्मद्रव्य के विद्यमान रहते भी मत्स्यों की गति में जल के समान तथा मनुष्यों की गति में गाड़ी पर बैठना आदि के समान पुद्गल की गति में और भी बहुत से सहकारी कारण होते हैं । कदाचित् कोई यह कहे कि "कालद्रव्य पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है" यह कहाँ कहा है ? सो कहते हैं—श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने "पंचास्तिकाय प्राभृत" की गाथा ९८ में" पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणादु" ऐसा कहा है । इसका अर्थ यह है—कि धर्मद्रव्य के विद्यमान होने पर भी जीवों की गति में कर्म, नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदों वाले पुद्गलों के गमन में कालद्रव्य सहकारी कारण होता है ॥ २५ ॥

पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तो भी उपचार से उसको काय कहते हैं, अब ऐसा उपदेश देते हैं :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति ।
बहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः ॥ २६ ॥

व्याख्या—"एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो" एकप्रदेशोऽपि पुद्गलपरमाणुर्नानास्कन्धरूपबहुप्रदेशतः सकाशाद्बहुप्रदेशो भवति। "उवयारा" उपचाराद् व्यवहारनयात् "तेण य काओ भणंति सव्वण्हु" तेन कारणेन कायमिति सर्वज्ञा भणन्तीति। तथाहि—यथायं परमात्मा शुद्धनिश्चयनयेन द्रव्यरूपेण शुद्धस्तथैकोऽप्यनादिकर्मबन्धवशात्स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषाभ्यां परिणम्य नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण व्यवहारेण बहुविधो भवति। तथा पुद्गलपरमाणुरपि स्वभावेनैकोऽपि शुद्धोऽपि रागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षगुणाभ्यां परिणम्य द्व्यणुकादिस्कन्धरूपविभावपर्यायैर्बहुविधोबहुप्रदेशो भवति तेन कारणेन बहुप्रदेशलक्षणकायत्वकारणत्वादुपचारेण कायो भण्यते। अथ मतं यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादिस्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवत्विति ?

गाथार्थ :—एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गल परमाणु को 'काय' कहते हैं ॥ २६ ॥

वृत्त्यर्थ :—"एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो" यद्यपि पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी है तथापि अनेक प्रकार के द्विअणुक आदि स्कन्ध रूप बहुत प्रदेशों के कारण बहुप्रदेशी होता है। "उवयारा" उपचार से अथवा व्यवहारनय से। "तेण य काओ भणंति सव्वण्हु" इसी कारण सर्वज्ञ देव उस पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं। जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्य रूप से शुद्ध तथा एक है तो भी अनादिकर्मबन्धन के कारण स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के स्थानीय (बजाय) राग, द्वेष रूप परिणमन करके व्यवहारनय के द्वारा मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्याय रूप अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभाव से एक और शुद्ध है तो भी रागद्वेष के स्थानभूत जो बन्ध के योग्य स्निग्ध, रूक्ष गुणों के द्वारा परिणमन करके द्वि-अणुक आदि स्कन्ध रूप जो विभाव पर्याय हैं उनके द्वारा अनेक प्रकार का बहुत प्रदेशों वाला हो जाता है। इसीलिये बहु-प्रदेशता रूप कायत्व का कारण होने से पुद्गल परमाणु को सर्वज्ञ भगवान् व्यवहार से काय कहते हैं।

यदि कोई ऐसा कहे कि जैसे द्रव्य रूप से एक भी पुद्गल परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कन्ध पर्याय द्वारा बहु-प्रदेश रूप कायत्व सिद्ध हुआ है; ऐसे ही द्रव्य रूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है। इसका परिहार करते हैं कि स्निग्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्र परिहारः—स्निग्धरूक्षहेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति । तदपि कस्मात् ? स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति । अणुत्वं पुद्गलसंज्ञा, कालस्याणुसंज्ञा कथमिति चेत् ? तत्रोत्तरम्—अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गला उच्यन्ते निश्चयेन तु वर्णादिगुणानां पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुवृत्त्या पुनरणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः । तद्यथा—परमेण प्रकर्षेणाणुः । अणुः कोऽर्थः ? सूक्ष्म, इति व्युत्पत्त्या परमाणुः । स च सूक्ष्मवाचकोऽणुशब्दो निर्विभागपुद्गलविवक्षायां पुद्गलाणुं वदति । अविभागिकालद्रव्यविवक्षायां तु कालाणुं कथयतीत्यर्थः ।२६।

अथ प्रदेशलक्षणमुपलक्षयति :—

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

यावतिकं आकाशं अविभागिपुद्गलाणुवष्टब्धम् ।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम् ॥ २७ ॥

रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य में अभाव है इसलिये वह काय नहीं हो सकता । ऐसा भी क्यों ? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है। काल में स्निग्ध रूक्ष नहीं है अतः उनके बिना बन्ध नहीं होता ।

कदाचित् यह पूछो कि 'अणु' यह तो पुद्गल की संज्ञा है, काल की 'अणु' संज्ञा कैसे हुई ? इसका उत्तर यह है कि—'अणु' इस शब्द द्वारा व्यवहारनय से पुद्गल कहे जाते हैं और निश्चयनय से तो वर्ण आदि गुणों के पूरण तथा गलन के सम्बन्ध से पुद्गल कहे जाते हैं; वास्तव में 'अणु' शब्द सूक्ष्म का वाचक है, जैसे परम अर्थात् अत्यन्त रूप से जो अणु हो सो 'परमाणु' है । अणु का क्या अर्थ है ? "सूक्ष्म" इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द 'अतिसूक्ष्म' पदार्थ को कहता है और वह सूक्ष्मवाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा (कहने की इच्छा) में पुद्गल अणु को कहता है और अविभागी कालद्रव्य के कहने की जब इच्छा होती है तब 'कालाणु' को कहता है ॥ २६ ॥

अब प्रदेश का लक्षण कहते है :—

गाथार्थ :—जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है उसको सब परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो ॥ २७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे" यावत्प्रमाणमाकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना विष्टब्धं व्याप्तं तदाकाशं खु स्फुटं प्रदेशं जानीहि । हे शिष्य ! कथंभूतं "सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं" सर्वाणूनां सर्वपरमाणूनां सूक्ष्मस्कन्धानां च स्थानदानस्यावकाशदानस्याहं योग्यं समर्थमिति । यत एवेत्थंभूतावगाहनशक्तिरस्त्याकाशस्य तत एवासंख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाशं लभन्ते । तथा चोक्तम्, जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम् "एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ १ ॥ ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो । सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ॥२॥" अथ मतं मूर्तपुद्गलानां विभागो भेदो भवतु नास्ति विरोधः, अमूर्ताखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथं विभागकल्पनेति ? तन्न । रागाद्युपाधिरहितस्वसंवेदनप्रत्यक्षभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्तस्य मुनियुगलस्यावस्थानक्षेत्रमेकमनेकं वा । यद्येकं, तर्हि द्वयोरेकत्वं प्राप्नोति, न च तथा । भिन्नं चेत्तदा निर्विभागद्रव्यस्यापि विभागकल्पनमायातं घटाकाशपटाकाशमित्यादिवदिति ॥२७॥ एवं सूत्रपञ्चकेन पञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधिकारत्रयसमुदायेन षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोधिकारः समाप्तः।

वृत्त्यर्थ :—"जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे" हे शिष्य ! जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से घिरा है उसको स्पष्ट रूप से प्रदेश जानो । वह प्रदेश "सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं" सब परमाणु और सूक्ष्म स्कन्धों को स्थान देने के लिये समर्थ है, क्योंकि ऐसी अवगाहन शक्ति आकाश में है । इसी कारण असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव तथा उन जीवों से भी अनन्तगुणे पुद्गल समा जाते हैं । इसी प्रकार जीव और पुद्गल के विषय में भी अवकाश देने की सामर्थ्य आगम में कही है । "एक निगोद शरीर में द्रव्य-प्रमाण से भूतकाल के सब सिद्धों से भी अनंतगुणे जीव देखे गये हैं । १ । यह लोक सब तरफ से विविध तथा अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलों द्वारा अतिसघन भरा हुआ है । २ ।"

यदि किसी का ऐसा मत हो कि "मूर्तिमान् पुद्गलों के तो अणु तथा स्कन्ध आदि विभाग हों, इसमें तो कुछ विरोध नहीं; किन्तु अखंड, अमूर्तिक आकाश की विभाग कल्पना कैसे हो सकती है ?" यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि राग आदि उपाधियों से रहित निज-आत्म-अनुभव की प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न सुख रूप अमृत रस के आस्वादन से तृप्त ऐसे दो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चूलिका

अतः परं पूर्वोक्तषड्द्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तरव्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—

परिणामि जीव-मुत्तं, सपदेसं एय-खेत्त-किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता, सव्वगदमिदरंहि यपवेसे ॥ १ ॥
दुण्णि य एयं एयं, पंच त्तिय एय दुण्णि चउवरो य।
पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तवं णेयं ॥२॥ (युग्मम्)

व्याख्या—"परिणामि" इत्यादिव्याख्यानं क्रियते। "परिणाम" परि-

मुनियों के रहने का स्थान एक है अथवा अनेक ? यदि दोनों का निवासक्षेत्र एक ही है तब तो दोनों एक हुए; परन्तु ऐसा है नहीं। यदि भिन्न मानों तो घट का आकाश तथा पट का आकाश की तरह विभागरहित आकाश द्रव्य की भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई ॥ २७ ॥

इस तरह पांच सूत्रों द्वारा पंच अस्तिकायों का निरूपण करने वाला तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव विरचित द्रव्य संग्रह ग्रन्थ में नमस्कारादि २७ गाथाओं से तीन अन्तर अधिकारों द्वारा छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय प्रतिपादन करने वाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ

——

चूलिका

इसके अनन्तर अब छह द्रव्यों का उपसंहार रूप से विशेष व्याख्यान करते हैं:—

गाथार्थ :—छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं; चेतन द्रव्य एक जीव है, मूर्त्तिक एक पुद्गल है, प्रदेशसहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पांच द्रव्य हैं, एक-एक संख्या वाले धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य हैं। क्षेत्रवान् एक आकाश द्रव्य है, क्रिया सहित जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, नित्यद्रव्य-धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच हैं, कर्त्ता-एक जीव द्रव्य है, सर्वगत (सर्व व्यापक) द्रव्य एक आकाश है (एक क्षेत्र अवगाह होने पर भी) इन छहों द्रव्य का परस्पर प्रवेश नहीं है। इस प्रकार छहों मूलद्रव्यों के उत्तर गुण जानने चाहियें ॥ १ ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थ :—"परिणामि" इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान करते हैं "परिणाम"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणमाभ्यां कृत्वा, शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनीति। "जीव" शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः। व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा जीवः। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। "मुत्त" अमूर्त शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्त्तिरुच्यते, तत्सद्भावान्मूर्त्तः पुद्गलः। जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तमपि, शुद्धनिश्चयनयेनामूर्त्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि। "सपदेसं" लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि। कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशत्वलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्। 'एय' द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति। जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति। 'खेत्त' सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकम्। शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि। 'किरियाय' क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ। धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि

स्वभाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा परिणाम से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं; शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) विभावव्यंजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं। "जीव"-शुद्ध निश्चयनय से निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव रूप शुद्ध चैतन्य को 'प्राण' कहते हैं, उस शुद्ध चैतन्य रूप प्राण से जो जीता है वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मों के उदय से प्राप्त द्रव्य तथा भाव रूप चार प्रकार के जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास नामक प्राण से जो जीता है, जीवेगा और पहले जीता था वह जीव है। पुद्गल आदि पांच द्रव्य अजीव रूप हैं। "मुत्त" शुद्ध आत्मा से विलक्षण स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण वाला मूर्त्ति कहा जाता है, उस मूर्त्ति के सद्भाव से पुद्गल मूर्त्त है। जीवद्रव्य अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से मूर्त्त है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य भी अमूर्त्तिक हैं। "सपदेसं" लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों को धारण करने से पंचास्तिकाय नामक जीव आदि पांच द्रव्य बहु-प्रदेशी हैं और बहु-प्रदेश रूप कायत्व के न होने से कालद्रव्य अप्रदेश (एक-प्रदेशी) है। "एय" द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं। "खेत्त" सब द्रव्यों को स्थान देने का सामर्थ्य होने से क्षेत्र एक आकाश द्रव्य है, शेष पांच द्रव्य क्षेत्र नहीं हैं। "किरियाय" एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन रूप हिलने वाली अथवा चलने वाली जो क्रिया है, वह क्रिया जिनमें है ऐसे क्रियावान् जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनर्निष्क्रियाणि। 'णिच्चं' धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि, तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च; जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिस्वरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये। 'कारणं' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्यशरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्त्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवंति। जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपंचद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम्। 'कत्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बंधमोक्षद्रव्यभावरूपपुण्यपापघटपटादीनामकर्त्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबंधयोः कर्त्तातत्फलभोक्ता च भवति। विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तु परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्त्ता तत्फलभोक्ता चेति। शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति। पुद्गलादिपंचद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्, वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादि-

---

आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रियाशून्य हैं। "णिच्च" धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्याय के कारण अनित्य हैं, फिर भी मुख्य रूप से इनमें विभावव्यंजन पर्याय नहीं होती इसलिये ये नित्य हैं, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भी नित्य है। जीव, पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य हैं। तो भी अगुरुलघुगुण के परिणाम रूप स्वभाव पर्याय की अपेक्षा तथा विभावव्यंजन पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। 'कारण' पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्यों में से व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के शरीर, वचन, मन, श्वास, निःश्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है और गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्त्तना रूप कार्य क्रम से धर्म आदि चार द्रव्य करते हैं; इस कारण पुद्गलादि पांच द्रव्य 'कारण' हैं। जीवद्रव्य यद्यपि गुरु, शिष्य आदि रूप से आपस में एक दूसरे का उपकार करता है फिर भी पुद्गलादि पांच द्रव्यों के लिये जीव कुछ भी नहीं करता, इसलिये 'अकारण' है। "कत्ता" शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव यद्यपि बंध मोक्ष के कारणभूत द्रव्य-भाव रूप पुण्य, पाप, घट, पट आदि का कर्त्ता नहीं है किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुभ, अशुभ उपयोगों में परिणत हो कर पुण्य, पाप बंध का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता होता है। तथा विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज शुद्ध आत्मा द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप शुद्धोपयोग से परिणत होकर यह जीव मोक्ष का भी कर्त्ता और उसके फल का भोगने वाला होता है। यहाँ सब जगह शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामों के परिणमन का ही कर्त्ता जानना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूपेणाकर्तृत्वमेव । 'सव्वगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते । लोकव्याप्त्यपेक्षया धर्माधर्मौ च । जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं, नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति, पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवति, कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । "इदरंहि यपवेसे" यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति। अत्र षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थः ।

अत ऊर्ध्वं पुनरपि षड्द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति। तत्र शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुनः पञ्चपरमेष्ठिन एव । तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव । तत्रापि निश्चयेन

पुद्गल आदि पांच द्रव्यों के तो अपने-अपने परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है और वास्तव में पुण्य, पाप आदि की अपेक्षा अकर्तापना ही है ॥ "सव्वगदं" लोक और अलोक व्यापक होने की अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है, लोक में सर्वव्यापक होने की अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत हैं। जीवद्रव्य एक जीव की अपेक्षा से लोकपूर्ण समुद्घात के सिवाय असर्वगत है किन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वगत ही है। पुद्गल द्रव्य लोकव्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है, एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा तो कालद्रव्य सर्वगत नहीं है किन्तु लोक प्रदेश के बराबर अनेक कालाणुओं की अपेक्षा कालद्रव्य लोक में सर्वगत है । "इदरंहि यपवेसे" यद्यपि व्यवहारनय से सब द्रव्य एक क्षेत्र में रहने के कारण आपस में प्रवेश करके रहते हैं, फिर भी निश्चयनय से चेतना आदि अपने २ स्वरूप को नहीं छोड़ते । इसका सारांश यह है कि इन छह द्रव्यों में वीतराग, चिदानन्द, एक शुद्ध बुद्ध आदि गुण स्वभाव वाला और शुभ, अशुभ मन, वचन और काय के व्यापार से रहित निज शुद्ध-आत्म-द्रव्य ही उपादेय है।

तदनन्तर फिर भी छह द्रव्यों में से क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका विशेष विचार करते हैं। वहाँ शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शक्ति रूप से शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक सभी जीव उपादेय हैं और व्यक्ति रूप से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी अर्हन्त-सिद्ध ये दो ही उपादेय हैं। इन दो में भी निश्चयनय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय हैं। परम-निश्चयनय से तो भोगों की इच्छा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध एव । परमनिश्चयेन तु भोगाकांक्षादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमसमाधिकाले सिद्धसदृशः स्वशुद्धात्मैवोपादेयः शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम् । शुद्धबुद्धैकस्वभाव इति कोऽर्थः ? मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाद्बुद्धः । इति शुद्धबुद्धैकलक्षणम् सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

चूलिकाशब्दार्थः कथ्यते—चूलिका विशेषव्याख्यानम्, अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानम् चेति ।

॥ इति षड्द्रव्यचूलिका समाप्ता ॥

आदि समस्त विकल्पों से रहित परमध्यान के समय सिद्ध-समान निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है । अन्य सब द्रव्य हेय हैं, यह तात्पर्य है । "शुद्धबुद्धैकस्वभाव" इस पद का क्या अर्थ है ? इसको कहते हैं—मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विभावों से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है । तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों से सहित होने के कारण आत्मा बुद्ध है । इस तरह "शुद्धबुद्धैकस्वभाव" पद का अर्थ सर्वत्र समझना चाहिए ।

अब 'चूलिका' शब्द का अर्थ कहते हैं—किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को, कहे हुए विषय में जो अनुक्त विषय हैं उनके व्याख्यान को अथवा उक्त, अनुक्त विषय से मिले हुए कथन को 'चूलिका' कहते हैं ।

इस प्रकार छह द्रव्यों की चूलिका समाप्त हुई ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयः अधिकारः

अतः परं जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामास्रवादिसप्तपदार्थानामेकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ "आसवबंधण" इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमास्रवपदार्थव्याख्यानरूपेण "आसवदि जेण" इत्यादि गाथात्रयम्, ततः परं बन्धव्याख्यानकथनेन "वज्झदि कम्मं" इति प्रभृतिगाथाद्वयं, ततोऽपि संवरकथनरूपेण "चेदणपरिणामो" इत्यादिसूत्रद्वयं, ततश्च निर्जराप्रतिपादनरूपेण "जहकालेण तवेण य" इति प्रभृतिसूत्रमेकं, तदनन्तरं मोक्षस्वरूपकथनेन "सव्वस्स कम्मणो" इत्यादि सूत्रमेकं, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन "सुहअसुह" इत्यादि सूत्रमेकं चेत्येकादशगाथाभिः स्थलसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपातनिका।

अत्राह शिष्यः — यद्येकान्तेन जीवाजीवौ परिणामिनौ भवतस्तदा संयोगपर्यायरूप एक एव पदार्थः, यदि पुनरेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा जीवाजीवद्रव्यरूपौ द्वावेव पदार्थौ, तत आस्रवादिसप्तपदार्थाः कथं घटन्त इति । तत्रोत्तरं — कथंचित्परिणामित्वाद् घटन्ते । कथंचित्परिणामित्वमिति कोऽर्थः ? यथा स्फटिक-

---

दूसरा अधिकार

[भूमिका]

इसके पश्चात् जीव और पुद्गल द्रव्य के पर्याय रूप आस्रव आदि ७ पदार्थों का ११ गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम "आसवबंधण" इत्यादि अधिकार सूचन रूप २८ वीं एक गाथा है। उसके पश्चात् आस्रव के व्याख्यान रूप 'आसवदि जेण' इत्यादि तीन गाथायें हैं। तदनन्तर "वज्झदि कम्मं जेण" इत्यादि दो गाथाओं में बंध पदार्थ का निरूपण है। तत्पश्चात् "चेदणपरिणामो" इत्यादि ३४, ३५ वीं गाथाओं में संवर पदार्थ का कथन है। फिर निर्जरा के प्रतिपादन रूप "जह कालेण तवेण य" इत्यादि ३६ वीं एक गाथा है। उसके बाद मोक्ष के निरूपण रूप "सव्वस्स कम्मणो" इत्यादि ३७ वीं एक गाथा है। तदनन्तर पुण्य, पाप पदार्थों के कथन करने वाली "सुहअसुह" इत्यादि एक गाथा है। इस तरह ११ गाथाओं द्वारा सप्त स्थलों के समुदाय सहित द्वितीय अधिकार की भूमिका समझनी चाहिये।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि यदि जीव, अजीव यह दोनों द्रव्य सर्वथा एकान्त से परिणामी ही हैं तो संयोग पर्याय रूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं तो जीव, अजीव द्रव्य रूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं; इसलिये आस्रव आदि सात पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं ? इसका उत्तर—कथंचित् परिणामी होने से सात पदार्थों का कथन संगत होता है। "कथंचित् परिणामित्व" का क्या अर्थ है ? वह इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मणिविशेषो यद्यपि स्वभावेन निर्मलस्तथापि जपापुष्पाद्युपाधिजनितं पर्यायान्तरं परिणतिं[1] गृह्णाति । यद्यप्युपाधिं गृह्णाति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वभावं न त्यजति तथा जीवोऽपि यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्तथाप्यनादिकर्मबन्धपर्यायवशेन रागादिपरद्रव्योपाधिपर्यायं गृह्णाति । यद्यपि परपर्यायेण परिणामति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वरूपं न त्यजति । पुद्गलोऽपि तथेति । परस्परसापेक्षत्वं कथंचित्परिणामित्वशब्दस्यार्थः । एवं कथंचित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोगपरिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्था घटन्ते । ते च पूर्वोक्तजीवाजीवपदार्थाभ्यां सह नव भवन्ति ततः एव नव पदार्थाः । पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोरास्रवपदार्थस्य, बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते । हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्वबलेन भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन नवपदार्थाः सप्ततत्त्वानि वा सिद्धानि तथापि तैः किं प्रयोजनम् । यथैवाभेदनयेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्यान्तर्भावो जातस्तथैव विशेषाभेदनयविवक्षायामास्रवादिपदार्थानामपि जीवाजीवद्वयमध्येऽन्तर्भावे कृते जीवा-

---

है—जैसे स्फटिकमणि यद्यपि स्वभाव से निर्मल है फिर भी जपापुष्प (लाल फूल) आदि के संसर्ग से लाल आदि अन्य पर्याय रूप परिणमती है (बिलकुल सफेद स्फटिक मणि के साथ जब जपाफूल होता है तब वह उस फूल की तरह लाल रंग का हो जाता है ।) स्फटिक मणि यद्यपि लाल उपाधि ग्रहण करती है फिर भी निश्चयनय से अपने सफेद निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ती । इसी तरह जीव भी यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्वाभाविक शुद्ध-चिदानन्द-स्वभाव वाला है फिर भी अनादि कर्म-बंध रूप पर्याय के कारण राग आदि परद्रव्यजनित उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है । यद्यपि जीव पर पर्याय रूप परिणमन करता है तो भी निश्चयनय से अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के विषय में जानना चाहिये । परस्पर अपेक्षा सहित होना यही "कथंचित्परिणामित्व" शब्द का अर्थ है । इस प्रकार कथंचित् परिणामित्व सिद्ध होने पर, जीव और पुद्गल के संयोग परिणति से बने हुए आस्रव आदि सप्त पदार्थ घटित होते हैं और वे सात पदार्थ पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्यों सहित ९ हो जाते हैं इसलिये नौ पदार्थ कहे जाते हैं । अभेदनय की अपेक्षा से पुण्य और पाप पदार्थ का आस्रव पदार्थ में या बन्ध पदार्थ में अन्तर्भाव करने से सात तत्त्व कहे जाते हैं । शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्व के बल से भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा ९ पदार्थ तथा ७ तत्त्व सिद्ध हो गये किन्तु इनसे प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ ? जैसे अभेदनय की अपेक्षा पुण्य, पाप इन दो पदार्थों का सात पदार्थों में अंतर्भाव हुआ है उसी तरह विशेष अभेदनय की अपेक्षा से आस्रवादि पदार्थों का भी जीव,

---

१ 'परिणमति' इति पाठान्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवौ द्वावेव पदार्थाविति । तत्र परिहारः—हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादिपदार्थाः व्याख्येया भवन्ति । तदेव कथयति—उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षः, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं चेति । इदानीं हेयतत्त्वं कथ्यते—आकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम् । तस्य कारणं संसारः, संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति । एवं हेयोपादेयतत्त्वव्याख्याने कृते सति सप्ततत्त्वनवपदार्थाः स्वयमेव सिद्धाः ।

इदानीं कस्य पदार्थस्य कः कर्त्तेति कथ्यते—निजनिरञ्जनशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादपराङ्मुखो बहिरात्मा भण्यते । स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति । क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकांक्षादिनिदानबंधेन भाविकाले पापानुबंधिपुण्यपदार्थस्यापि

अजीव इन दो पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से जीव तथा अजीव ये दो पदार्थ सिद्ध होते हैं ? इन दोनों शंकाओं का परिहार करते हैं कि—'कौन तत्त्व हेय है और कौन तत्त्व उपादेय है' इस विषय का परिज्ञान कराने के लिये आस्रव आदि पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं । इसी को कहते हैं, अविनाशी अनन्तसुख उपादेय तत्त्व है । उस अक्षय अनन्त सुख का कारण मोक्ष है, मोक्ष के कारण संवर और निर्जरा हैं । उन संवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला निजात्म तत्त्व का सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय है तथा उस निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहाररत्नत्रय है । अब हेयतत्त्व को कहते हैं—आकुलता को उत्पन्न करने वाला, नरकगति आदि का दुःख तथा निश्चय से इन्द्रियजनित सुख भी हेय यानी त्याज्य है, उसका कारण संसार है और संसार के कारण आस्रव तथा बंध ये दो पदार्थ हैं, और उस आस्रव का तथा बंध का कारण पहले कहे हुए व्यवहार, निश्चयरत्नत्रय से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र हैं । इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्व का निरूपण करने पर सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ स्वयं सिद्ध हो गये ।

अब किस पदार्थ का कर्त्ता कौन है ? इस विषय का कथन करते हैं । निज निरंजन शुद्ध आत्मा से उत्पन्न परम-आनन्द रूप सुखामृत-रस-आस्वाद से रहित जो जीव है वह बहिरात्मा कहलाता है । वह बहिरात्मा आस्रव, बंध और पाप इन तीन पदार्थों का कर्त्ता है । किसी समय जब कषाय और मिथ्यात्व का उदय मन्द हो, तब आगामी भोगों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्ता भवति । यस्तु पूर्वोक्तबहिरात्मनो विलक्षणः सम्यग्दृष्टिः स संवरनिर्जरामोक्षपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति । रागादिविभावरहितपरमसामायिके यदा स्थातुं समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुबंधितीर्थंकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति । कर्तृत्वविषये नयविभागः कथ्यते । मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपाणामास्रवबंधपुण्यपापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति । सम्यग्दृष्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति । परमशुद्धनिश्चयेन तु "ण वि उप्पज्जइ, ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खुकरेइ । जिउ परमत्थें जोइया, जिणवरु एउँ भणेइ ।" इति वचनाद्बन्धमोक्षौ न स्तः । स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते—स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एतद्भूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनर्द्र-

---

इच्छा आदि रूप निदान बंध से पापानुबन्धी पुण्यपदार्थ का भी कर्त्ता होता है । जो बहिरात्मा से विपरीत लक्षण का धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है और यह सम्यग्दृष्टि जीव, जब राग आदि विभावों से रहित परम सामायिक में स्थित नहीं रह सकता, उस समय विषयकषायों से उत्पन्न होनेवाले दुर्ध्यान से बचने के लिये तथा संसार की स्थिति का नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ का भी कर्त्ता होता है । अब कर्तृत्व के विषय में नयों का विभाग निरूपण करते हैं । मिथ्यादृष्टि जीव के जो पुद्गल द्रव्य पर्याय रूप आस्रव, बंध तथा पुण्य, पाप पदार्थों का कर्त्तापन है, सो अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा है और जीव-भाव पुण्य-पाप पर्याय रूप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनय से है तथा सम्यक्दृष्टि जीव जो द्रव्य रूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थ का कर्त्ता है, सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है तथा संवर, निर्जरा मोक्षस्वरूप जीवभाव पर्याय का 'कर्त्ता', विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय से है और परम शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा तो न बंध है न मोक्ष है । जैसा कहा भी है—"यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध तथा न मोक्ष को करता है, इस प्रकार श्री जिनेन्द्र कहते हैं" । पूर्वोक्त विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय को आगमभाषा से क्या कहते हैं ? सो दिखाते हैं—निज शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप से जो होगा उसे 'भव्य' कहते हैं, इस प्रकार के भव्यत्व नामक पारिणामिक भाव से सम्बन्ध रखने वाली व्यक्ति कही जाती अर्थात् भव्य पारिणामिक भाव की व्यक्ति यानी प्रकटता है और अध्यात्म भाषा में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं चेति। यतः एव भावना मुक्तिकारणं ततः एव शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मादिति चेत्? ध्यानभावनापर्यायो विनश्वरः स च द्रव्यरूपत्वादविनश्वर इति। इदमत्र तात्पर्यं—मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहितनिजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखसंवित्तिरूपा च भावना मुक्तिकारणं भवति। ता च कोऽपि जनः केनापि पर्यायनामान्तरेण भणतीति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणानेकांतव्याख्यानेनास्रवबंधपुण्यपापपदार्थाः जीवपुद्गलसंयोगपरिणामरूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते। संवरनिर्जरामोक्षपदार्थाः पुनर्जीवपुद्गलसंयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षितस्वभावपर्यायेणेति स्थितम्। तद्यथा—

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः ॥२८॥

उसी को 'द्रव्यशक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में भावना' कहते हैं। अन्य पर्याय नामों से इसी द्रव्यशक्ति रूप पारिणामिक भाव की भावना को निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते हैं। क्योंकि भावना मुक्ति का कारण है, इसलिये शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय यानी ध्यान करने योग्य है, ध्यान या भावना रूप नहीं होता। ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है, 'ध्यान या भावना' पर्याय है अतएव विनाशिक है। 'ध्येय' है, वह भावना पर्याय रहित द्रव्य रूप होने से विनाश रहित है। यहां तात्पर्य यह है—मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पों से रहित निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द रूप एक सुख अनुभव रूप जो भावना है वही मुक्ति का कारण है। उसी भावना को कोई पुरुष किसी अन्य नामों (निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग आदि) के द्वारा कहता है।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर कहने से आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम स्वरूप जो विभाव पर्याय हैं उससे उत्पन्न होते हैं। और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ, जीव और पुद्गल के संयोग रूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं, यह निर्णीत हुआ।

गाथार्थ :—जीव, अजीव की पर्याय रूप जो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप (ऐसे शेष सात पदार्थ) हैं; इनको संक्षेप से कहते हैं॥ २८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—'आसव' निरास्रवस्वसंवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रवः। 'बंधण' बंधातीतशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः। 'संवर' कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः। 'णिज्जर' शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीभूतकर्मपुद्गलानामेकदेशगलनं निर्जरा। 'मोक्खो' जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य विघटने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष इति। 'सपुण्णपावा जे' पुण्यपापसहिता ये, 'ते वि समासेण पभणामो' यथा जीवाजीवपदार्थौ व्याख्यातौ पूर्वं तथा तानप्यास्रवादिपदार्थान् समासेन संक्षेपेण प्रभणामो वयं; ते च कथंभूताः? "जीवाजीवविसेसा" जीवाजीवविशेषाः। चैतन्यभावरूपा जीवस्य विशेषाः। चैतन्याभावरूपा अजीवस्य विशेषाः। विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः? पर्यायाः। चैतन्याः अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थः। एवमधिकारसूत्रगाथा गता॥ २८॥

अथ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ भावास्रवद्रव्यास्रवस्वरूपं सूचयति :—

वृत्त्यर्थ :—'आसव' आस्रव रहित निज आत्मानुभव से विलक्षण जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है उससे जो शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन है सो आस्रव है। 'बन्धण' बन्धरहित शुद्ध आत्मोपलब्धि रूप भावना से छूटे हुए जीव का जो कर्म के प्रदेशों के साथ परस्पर मेल है, सो बन्ध है। 'संवर' कर्म-आस्रव को रोकने में समर्थ स्वानुभव में परिणत जीव के जो शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का निरोध है, वह संवर है। 'णिज्जर' शुद्धोपयोग की भावना के बल से शक्तिहीन हुए कर्मपुद्गलों के एक देश गलने को निर्जरा कहते हैं। 'मोक्खो' जीव, पुद्गल के बन्ध को नाश करने में समर्थ निज शुद्ध आत्मा की उपलब्धि रूप परिणाम है, वह मोक्ष है। 'सपुण्णपावा जे' पुण्य, पाप सहित जो आस्रव आदि पदार्थ हैं, 'ते वि समासेण पभणामो' उनको भी, जैसे पहले जीव, अजीव कहे हैं, उसी प्रकार संक्षेप से कहते हैं। वे कैसे हैं? 'जीवाजीवविसेसा' जीव तथा अजीव के विशेष (पर्याय) हैं। चैतन्यभाव रूप जीव की पर्याय हैं और चैतन्यरहित अजीव की पर्याय हैं। 'विशेष' का क्या अर्थ है? 'विशेष' का अर्थ पर्याय है। चैतन्य रूप जो अशुद्ध परिणाम हैं वे जीव के विशेष हैं और जो अचेतनकर्म पुद्गलों की पर्याय हैं वे अजीव के विशेष हैं। इस प्रकार अधिकार सूत्र गाथा समाप्त हुई॥ २८॥

अब तीन गाथाओं से आस्रव पदार्थ का वर्णन करते हैं, उसमें प्रथम ही भावास्रव तथा द्रव्यास्रव के स्वरूप की सूचना करते हैं:—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥

आस्रवति येन कर्म परिणामेन आत्मनः सः विज्ञेयः ।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्मास्रवणं परः भवति ॥ २९ ॥

व्याख्या—"आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो" आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मनः स विज्ञेयो भावास्रवः । कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म; कस्यात्मनः ? स्वस्य; स परिणामो भावास्रवो विज्ञेयः । स च कथंभूतः ? "जिणुत्तो" जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तः । "कम्मासवणं परो होदि" कर्मास्रवणं परो भवति, ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं परः । पर इति कोऽर्थः ? भावास्रवादन्यो भिन्नो । भावास्रवनिमित्तेन तैलमृक्षितानां धूलिसमागम इव द्रव्यास्रवो भवतीति । ननु "आस्रवति येन कर्म" तेनैव पदेन द्रव्यास्रवो लब्धः, पुनरपि कर्मास्रवणं परो भवतीति द्रव्यास्रवव्याख्यानं किमर्थमिति यदुक्तं त्वया ? तन्न । येन परि-

---

गाथार्थः—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उसे श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए । और जो (ज्ञानावरणादि रूप) कर्मों का आस्रव है सो द्रव्यास्रव है ॥ २९ ॥

वृत्त्यर्थ :—'आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो' आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव हो, वह भावास्रव जानना चाहिए । कर्मास्रव के नाश करने में समर्थ, ऐसी शुद्ध आत्मभावना से विरोधी जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है; किस आत्मा के ? अपनी आत्मा के; उस परिणाम को भावास्रव जानना चाहिये । वह भावास्रव कैसा है ? 'जिणुत्तो' जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ है । 'कम्मासवणं परो होदि' कर्मों का जो आगमन है वह 'पर' होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का जो आगमन है वह 'पर' द्रव्यास्रव है । 'पर' शब्द का क्या अर्थ है ? 'भावास्रव से अन्य या भिन्न' । जैसे तेल से चुपड़े पदार्थों पर धूल का समागम होता है, उसी तरह भावास्रव के कारण जीव के द्रव्यास्रव होता है । यहाँ कोई शंका करता है—'आसवदि जेण कम्मं' (जिससे कर्म का आस्रव होता है) इसी पद से ही द्रव्यास्रव आ गया फिर 'कम्मासवणं परो होदि' (कर्मास्रव इससे भिन्न होता है) इस पद से द्रव्यास्रव का व्याख्यान किस लिये किया ? समाधान—तुम्हारी यह शंका ठीक नहीं । क्योंकि 'जिस परिणाम से क्या होता है ? कर्म का आस्रव होता है' यह जो कथन है, उससे परिणाम का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णामेन किं भवति आस्रवति कर्म, तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शितं, न च द्रव्यास्रव-व्याख्यानमिति भावार्थः ॥ २९ ॥

अथ भावास्रवस्वरूपं विशेषेण कथयति :—

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया ।
पण पण्ण पण्णदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ ३० ॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेयाः ।
पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रयः चत्वारः क्रमशः भेदाः तु पूर्वस्य ॥ ३० ॥

व्याख्या—"मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ" मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः । अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते । अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतप्रीतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः । अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः, बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः ।

सामर्थ्य दिखाया गया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नहीं किया गया, यह तात्पर्य है ॥२९॥

अब भावास्रव का स्वरूप विशेष रूप से कहते हैं:—

गाथार्थ :—पहले (भावास्रव) के, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय (ऐसे पांच) भेद जानने चाहियें, उनमें से मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। (अर्थात् मिथ्यात्व के पांच, अविरति के पांच, प्रमाद के पन्द्रह, योग के तीन और कषायों के चार भेद हैं) ॥ ३० ॥

वृत्त्यर्थ :—'मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ' मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोध आदि कषाय आस्रव के भेद हैं। जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव रूप रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। अन्तरङ्ग में निज परमात्मस्वरूप भावना से उत्पन्न परम-सुख-अमृत की प्रीति से विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण न करना, सो अविरति है। अन्तरङ्ग में प्रमादरहित शुद्ध आत्म-अनुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय में मूलगुणों तथा उत्तरगुणों में मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है। निश्चयनय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचनकायवर्गणावलम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते। अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपक्षोभकारकाः बहिर्विषये तु परेषां संबंधित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणाः पञ्चास्रवाः। 'अथ' अथो 'विण्णेया' विज्ञेया ज्ञातव्याः। कतिभेदास्ते? "पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु" पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति पुनः। तथाहि 'एयंतबुद्धदरसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ। इन्दो विय संसइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी। १।" इति गाथाकथितलक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम्। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरतिरपि पञ्चविधा। अथवा मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिषृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा। "विकहा तहा कसाया इन्दियणिद्दा तहेव पणयो य। चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादाहु पण्णरस। १।" इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादाः। मनोवचनकायव्यापारभेदेन त्रिविधो योगः, विस्तरेण पञ्चदशभेदो वा। क्रोधमानमायालोभभेदेन कषायाश्चत्वारः, कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा। एते सर्वे

की अपेक्षा क्रियारहित परमात्मा है, तो भी व्यवहारनय से वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न मन वचन काय वर्गणा को अवलम्बन करने वाला, कर्मवर्गणा के ग्रहण करने में कारणभूत आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्द (संचलन) है उसको योग कहते हैं। अन्तरङ्ग में परम-उपशम-मूर्त्ति केवल ज्ञान आदि अनन्त, गुण-स्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप क्रोध आदि (कषाय) हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पांच भावास्रव हैं। 'अथ' अहो 'विण्णेया' ये जानने चाहियें। इन पांच भावास्रवों के कितने भेद हैं? 'पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु' उन मिथ्यात्व आदि के क्रम से पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्वी है, याज्ञिक ब्रह्म विपरीतमिथ्यात्व के धारक हैं, तापस विनयमिथ्यात्वी है, इन्द्राचार्य संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञानमिथ्यात्वी है। १। इस गाथा के कथनानुसार ५ तरह का मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह में इच्छा रूप अविरति भी पांच प्रकार की हैं अथवा मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति रूप ६ भेद तथा छहकाय के जीवों की विराधना रूप ६ भेद ऐसे बारह प्रकार की भी अविरति है। "चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं। मनोव्यापार, वचनव्यापार और कायव्यापार इस तरह योग तीन प्रकार का है, अथवा विस्तार से १५ प्रकार का है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदों से कषाय चार प्रकार के हैं, अथवा १६ कषाय और ९ नोकषाय इन भेदों से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भेदाः कस्य सम्बन्धिनः "पुव्वस्स" पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थः ॥ ३० ॥

अथ द्रव्यास्रवस्वरूपमुद्योतयति :—

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ ३१ ॥

ज्ञानावरणादीनां योग्यं यत् पुद्गलं समास्रवति ।
द्रव्यास्रवः सः ज्ञेयः अनेकभेदः जिनाख्यातः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'णाणावरणादीणं' सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं, तदादिर्येषां तानि ज्ञानावरणादीनि तेषां ज्ञानावरणादीनां 'जोग्गं' योग्यं 'जं पुग्गलं समासवदि' स्नेहाभ्यक्तशरीराणां धूलिरेणुरागम इव निष्कषायशुद्धात्मसंवित्तिच्युतजीवानां कर्मवर्गणारूपं यत्पुद्गलद्रव्यं समास्रवति, 'दव्वासओ स णेओ' द्रव्यास्रवः स विज्ञेयः । 'अणेयभेओ' स च ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञानामष्टमूलप्रकृतीनां भेदेन, तथैव 'पण णव दु अट्ठवीसा चउ

पच्चीस प्रकार के कषाय हैं। ये सब भेद किस आस्रव के हैं? "पुव्वस्स" पूर्वगाथा में कहे भावास्रव के हैं ॥ ३० ॥

अब द्रव्यास्रव का स्वरूप कहते हैं :—

गाथार्थः—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। वह अनेक भेदों वाला है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥३१॥

वृत्त्यर्थः—"णाणावरणादीणं" सहज शुद्ध केवल ज्ञान को अथवा अभेद की अपेक्षा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधार भूत, 'ज्ञान' शब्द से कहने योग्य परमात्मा को जो आवृत करे यानी ढके सो ज्ञानावरण है। वह ज्ञानावरण है आदि में जिनके ऐसे जो ज्ञानावरणादि हैं उनके 'जोग्गं' योग्य 'जं' जो 'पुग्गल' पुद्गल 'समासवदि' आता है। जैसे तेल से चुपड़े शरीर वाले जीवों की देह पर धूल के कण आते हैं, उसी प्रकार कषायरहित शुद्ध आत्मानुभूति से रहित जीवों के जो कर्मवर्गणा रूप पुद्गल आता है, 'दव्वासओ स णेओ' उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। 'अणेयभेओ' वह अनेक प्रकार का है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, गोत्र तथा अन्तराय ये आठ मूल कर्मप्रकृति हैं तथा 'ज्ञानावरणीय के पांच, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के पाँच इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तियणवदी य दोण्णि पंचेव । णवणणहीण बियसयपयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥ १ ॥' इति गाथाकथितक्रमेणाष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्याप्रमितोत्तरप्रकृतिभेदेन तथा चासंख्येयलोकप्रमितपृथिवीकायनामकर्माद्युत्तरोत्तरप्रकृतिरूपेणानेकभेद इति 'जिणक्खादो' जिनख्यातो जिनप्रणीत इत्यर्थः ॥३१॥ एवमास्रवव्याख्यानगाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम् ।

अतः परं सूत्रद्वयेन बन्धव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भावबन्धमुत्तरार्धेन तु द्रव्यबन्धस्वरूपमावेदयति :—

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥

बध्यते कर्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः ।
कर्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो' बध्यते कर्म येन चेतनभावेन स भावबन्धो भवति । समस्तकर्मबन्धविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्यविलासलक्षणज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादि-

---

१४८ प्रकृतियों के नाश होने से सिद्ध होते है ।' (सिद्ध भक्ति गाथा ८) इस गाथा में कहे हुए क्रम से एक सौ अड़तालीस १४८ उत्तरप्रकृतियाँ हैं और असंख्यात लोकप्रमाण जो पृथिवीकाय नामकर्म आदि उत्तरोत्तर प्रकृति भेद हैं उनकी अपेक्षा कर्म अनेक प्रकार का है। 'जिणक्खादो' यह श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥ ३१॥

इस प्रकार आस्रव के व्याख्यान की तीन गाथाओं से प्रथम स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे दो गाथाओं से बन्ध का व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से भावबन्ध और उत्तरार्ध से द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ :—जिस चेतनभाव से कर्म बँधता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश अर्थात् कर्म और आत्मप्रदेशों का एकमेक होना द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

वृत्त्यर्थ :—'बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो' जिस चैतन्य भाव से कर्म बँधता है, वह भावबंध है। समस्त कर्मबंध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभास रूप परम-चैतन्य-विलास-लक्षण का धारक ज्ञान गुण की या अभेदनय की अपेक्षा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणाधारभूतपरमात्मनो वा संबन्धिनी या तु निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते। 'कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसनं इदरो' कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः। तेनैव भावबंधनिमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्ध इति ॥ ३२ ॥

अथ तस्यैव बन्धस्य गाथापूर्वार्धेन प्रकृतिबन्धादिभेदचतुष्टयं कथयति, उत्तरार्धेन तु प्रकृतिबन्धादीनां कारणं चेति।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बन्धो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधः बन्धः ।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः ॥३३॥

व्याख्या—'पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बन्धो' प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बन्धो भवति। तथाहि—ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः

अनन्तज्ञान आदि गुणों के आधारभूत परमात्मा की जो निर्मल अनुभूति है उससे विरुद्ध मिथ्यात्व, राग आदि में परिणति रूप अशुद्ध-चेतन-भाव-स्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बंधते हैं, वह परिणाम भावबंध कहलाता है। 'कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो' कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर मिलना दूसरा है, अर्थात् उस भावबंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध और जल की तरह एक दूसरे में प्रवेश होकर मिल जाना है सो द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

अब गाथा के पूर्वार्ध से उसी बंध के प्रकृतिबंध आदि चार भेदों को कहते हैं और उत्तरार्ध से उनके कारण का कथन करते हैं:—

गाथार्थ :—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। योगों से प्रकृति तथा प्रदेशबंध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं ॥ ३३ ॥

वृत्त्यर्थ :—'पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो' प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध इस तरह बंध चार प्रकार का है। ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति (स्वभाव) क्या है ? उत्तर—जैसे देवता के मुख को परदा आच्छादित कर देता है (ढक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का प्रकृतिः ? देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञानप्रच्छादनता। दर्शनावरणीयस्य का प्रकृतिः ? राजदर्शनप्रतिषेधकप्रतीहारवद्दर्शनप्रच्छादनता। सातासातवेदनीयस्य का प्रकृतिः ? मधुलिप्तखड्गधारास्वादनवदल्पसुखबहुदुःखोत्पादकता। मोहनीयस्य का प्रकृतिः ? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता। आयुःकर्मणः का प्रकृतिः ? निगडवद्गत्यन्तरगमननिवारणता। नामकर्मणः का प्रकृतिः ? चित्रकारपुरुषवन्नानारूपकरणता। गोत्रकर्मणः का प्रकृतिः ? गुरुलघुभाजनकारककुम्भकारवदुच्चनीचगोत्रकरणता। अन्तरायकर्मणः का प्रकृतिः ? भाण्डागारिकवद्दानादिविघ्नकरणतेति। तथाचोक्तं—'पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥ १ ॥' इति दृष्टान्ताष्टकेन प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः। अजागोमहिष्यादिदुग्धानां प्रहरद्व्यादिस्वकीयमधुररसावस्थानपर्यन्तं यथा स्थितिर्भण्यते, तथा जीवप्रदेशेष्वपि यावत्कालं कर्मसम्बन्धेन स्थितिस्तावत्कालं स्थितिबन्धो ज्ञातव्यः। यथा च तेषामेव दुग्धानां तारतम्येन रसगतशक्तिविशेषोऽनुभागो भण्यते तथा जीवप्रदेश-

---

देता है) उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक देता है। दर्शनावरण की प्रकृति क्या है ? राजा के दर्शन की रुकावट जैसे द्वारपाल करता है, उसी तरह दर्शनावरण दर्शन को नहीं होने देता। सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म की क्या प्रकृति है ? मधु (शहद) से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से जैसे कुछ सुख और अधिक दुःख होता है, वैसे ही वेदनीय कर्म भी अल्पसुख और अधिक दुःख देता है। मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है ? मद्यपान के समान, 'हेय उपादेय पदार्थों के ज्ञान की रहितता' यह मोहनीय कर्म का स्वभाव अथवा मोहनीय कर्म की प्रकृति है। आयुकर्म की क्या प्रकृति है ? बेड़ी के समान दूसरी गति में जाने को रोकना, यह आयुकर्म की प्रकृति है। नामकर्म की प्रकृति क्या है ? चित्रकार के समान अनेक प्रकार के शरीर बनाना, यह नामकर्म की प्रकृति है। गोत्रकर्म का क्या स्वभाव है ? छोटे बड़े घट आदि को बनाने वाले कुम्भकार की तरह उच्च-नीच गोत्र का करना, यह गोत्र कर्म की प्रकृति है। अन्तरायकर्म का स्वभाव क्या है ? भंडारी के समान 'दान आदि में विघ्न करना', यह अन्तरायकर्म की प्रकृति है। सो ही कहा है—'पट प्रतीहार, द्वारपाल, तलवार, मद्य, बेड़ी, चितेरा, कुम्भकार और भंडारी इन आठों का जैसा स्वभाव है वैसा ही क्रम से ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का स्वभाव जानना चाहिये ॥१॥' इस प्रकार गाथा में कहे हुए आठ दृष्टान्तों के अनुसार प्रकृति बंध जानना चाहिए। बकरी, गाय, भैंस आदि के दूधों में जैसे दो पहर आदि समय तक अपने मधुर रस में रहने की मर्यादा है, (बकरी का दूध दो पहर तक अपने रस में ठीक स्थित रहता है; गाय, भैंस का दूध उससे अधिक देर तक ठीक बना रहता है), इत्यादि स्थिति का कथन है; उसी प्रकार जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्मसम्बंध की स्थिति है उतने काल को स्थितिबंध कहते हैं। जैसे उन बकरी आदि के दूध में तारतम से हीनाधिक मीठापन व चिकनाई शक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थितकर्मस्कन्धानामपि सुखदुःखदानसमर्थशक्तिविशेषोऽनुभागबन्धो विज्ञेयः। सा च घातिकर्मसम्बंधिनी शक्तिर्लतादार्वस्थिपाषाणभेदेन[1] चतुर्धा। तथैवाशुभाऽघातिकर्मसम्बंधिनी निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण, शुभाघातिकर्मसम्बंधिनी पुनर्गुडखण्डशर्करामृतरूपेण चतुर्धा भवति। एकैकात्मप्रदेशे सिद्धानन्तैकभागसंख्या अभव्यानंतगुणप्रमिता अनंतानंतपरमाणवः प्रतिक्षणबंधमायांतीति प्रदेशबंधः। इदानीं बंधकारणं कथ्यते। 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।' योगात्प्रकृतिप्रदेशौ, स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत इति। तथाहि—निश्चयेन निष्क्रियाणामपि शुद्धात्मप्रदेशानां व्यवहारेण परिस्पंदनहेतुर्योगः, तस्मात्प्रकृतिप्रदेशबंधद्वयं भवति। निर्दोषपरमात्मभावनाप्रतिबंधकक्रोधादिकषायोदयात् स्थित्यनुभागबंधद्वयं भवतीति। आस्रवे बंधे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि समानानि को विशेषः? इति चेत्, नैवं; प्रथमक्षणे कर्मस्कंधानामागमनमास्रवः, आगमनानंतरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बंध इति भेदः। यत एव योगकषाया-

---

रूप अनुभाग कहा जाता है, उसी प्रकार जीवप्रदेशों में स्थित जो कर्मों के प्रदेश हैं, उनमें भी जो हीनाधिक सुख-दुःख देने की समर्थ शक्ति विशेष है, उसको अनुभाग बन्ध जानना चाहिये। घाति कर्म से सम्बन्ध रखने वाली वह शक्ति लता (बेल) काठ, हाड़ और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है। उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मों में शक्ति नीम, कांजीर (काली जीरी), विष तथा हालाहल रूप से चार तरह की है तथा शुभ अघातिया कर्मों की शक्ति गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत इन भेदों से चार तरह की है। एक-एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनन्तैक भाग (सिद्धों के अनन्तवें भाग) और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बंध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेश बंध का स्वरूप है। अब बंध के कारण को कहते हैं—'जोगो पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुन्ति" योग से प्रकृति-प्रदेश और कषाय से स्थिति अनुभाग बंध होते हैं। निश्चयनय से क्रिया रहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं, व्यवहार नय से उन आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन का (चलायमान करने का) जो कारण है उसको योग कहते हैं। उस योग से प्रकृति प्रदेश दो बंध होते हैं। दोषरहित परमात्मा की भावना (ध्यान) के प्रतिबंध करने वाले क्रोध आदि कषाय के उदय से स्थिति और अनुभाग ये दो बंध होते हैं। शंका—आस्रव और बंध के होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं, इसलिये आस्रव और बंध में क्या भेद है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन है वह तो आस्रव है और कर्मस्कंधों के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण में

---

१ 'शक्तिभेदेन' इति पाठ अन्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूबंधचतुष्टयं भवति तत एव बंधविनाशार्थं योगकषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥ एवं बंधव्याख्यानेन सूत्रद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं गाथाद्वयेन संवरपदार्थः कथ्यते । तत्र प्रथमगाथायां भावसंवरद्रव्यसंवरस्वरूपं निरूपयति :—

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥ ३४ ॥

चेतनपरिणामः यः कर्म्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः ।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनः अन्यः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—"चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु" चेतनपरिणामो यः, कथंभूतः ? कर्मास्रवनिरोधने हेतुः स भावसंवरो भवति खलु निश्चयेन । "दव्वासवरोहणे अण्णो" द्रव्यकर्मास्रवनिरोधने सत्यन्यो द्रव्यसंवर इति । तद्यथा—निश्चयेन स्वतः सिद्धत्वात्परकारणनिरपेक्षः, स चैवा-

---

जो उन कर्मस्कंधों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना, सो बंध है । यह भेद आस्रव और बंध में है । क्योंकि योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बंध होते हैं । इस कारण बन्ध का नाश करने के लिये योग तथा कषाय का त्याग करके अपनी शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये । यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

इस तरह बंध के व्याख्यान रूप जो दो गाथासूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्याय में द्वितीय स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे दो गाथाओं द्वारा संवर पदार्थ का कथन करते हैं । उनमें से प्रथम गाथा में भावसंवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप निरूपण करते हैं:—

गाथार्थ :—आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको भावसंवर कहते हैं । और जो द्रव्यास्रव का रुकना है सो द्रव्यसंवर है ॥ ३४ ॥

वृत्त्यर्थ :—"चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु" जो चेतन परिणाम कर्म-आस्रव को रोकने में कारण है, वह निश्चय से भावसंवर है । "दव्वासवरोहणे अण्णो" द्रव्यकर्मों के आस्रव का निरोध होनेपर दूसरा द्रव्यसंवर होता है । वह इस प्रकार है—निश्चयनय से स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से रहित,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विनश्वरत्वान्नित्यः परमोद्योतस्वभावत्वात्स्वपरप्रकाशनसमर्थः, अनाद्यनन्तत्वादादिमध्यान्तमुक्तः, दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तरागादिविभावमलरहितत्वादत्यन्तनिर्मलः परमचैतन्यविलासलक्षणत्वादुच्छलननिर्भरः स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्तिः, निरास्रवसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति। यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर इत्यर्थः।

अथ संवरविषयनयविभागः कथ्यते। तथाहि—मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते। तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्ठानरूपउपयोगत्रयव्यापारस्तिष्ठति। तदुच्यते—मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरि मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते। तत्रैवं, मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तावत

अविनाशी होने से नित्य, परम प्रकाश स्वभाव होने से स्व-पर प्रकाशन में समर्थ, अनादि अनन्त होने से आदि मध्य और अन्तरहित, देखे सुने और अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त रागादिक विभावमल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैतन्यविलासरूप लक्षण का धारक होने से चित्-चमत्कार से भरपूर, स्वाभाविक परमानन्दस्वरूप होने से परम सुख की मूर्त्ति और आस्रवरहित-सहज-स्वभाव होने से सब कर्मों के संवर में कारण, इन लक्षणों वाले परमात्मा के स्वभाव की भावना से उत्पन्न जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है। कारणभूत भावसंवर से उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्य-कर्मों के आगमन का अभाव सो द्रव्यसंवर है। यह गाथार्थ है।

अब संवर के विषय में नयों का विभाग कहते हैं—मिथ्यात्व गुणस्थान से क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मन्दता की तारतम्य से अशुद्ध निश्चय बर्तता है। उस अशुद्ध निश्चयनय गुणस्थानों के भेद से शुभ अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप तीन उपयोगों का व्यापार होता है। सो कहते हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र, इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर २ मन्दता से अशुभ उपयोग होता है, (जो अशुभोपयोग प्रथम गुणस्थान में है, उससे कम दूसरे में और दूसरे से कम तीसरे में है)। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत, इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्ध-उपयोग का साधक ऊपर २ तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक ६ गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवरो नास्ति, सासादनादिगुणस्थानेषु 'सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केकबंधवोछिण्णा। दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलस जोगिणो एक्को।१।' इति बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितक्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति। अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटते? इति चेत्तत्रोत्तरं—शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।

कश्चिदाह—केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकल-

विवक्षित एक देश शुद्ध नयरूप शुद्ध उपयोग वर्त्तता है। इनमें से-मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं। सासादन आदि गुणस्थानों में, "मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान में १६ प्रकृतियों, दूसरे में २५, तीसरे में शून्य, चौथे में १०, पांचवें में ४, छटे में ६, सातवें में १, आठवें में २, ३० व ४, नौवे में ५, दसवें में १६ और सयोग केवली के १ प्रकृति की बन्ध व्युच्छत्ति होती है।" इस प्रकार बन्धविच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर २ अधिकता से संवर जानना चाहिए। ऐसे अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ, शुद्ध रूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया।

शंका—इस अशुद्ध निश्चयनय में शुद्ध उपयोग किस प्रकार घटित होता है? उत्तर—शुद्ध उपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक स्व-आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होता है, इस कारण उपयोग में शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध अवलम्बनपने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। 'संवर' इस शब्द से कहे जाने वाला वह शुद्धोपयोग, संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व—राग आदि अशुद्ध पर्यायों की तरह अशुद्ध नहीं होता; तथा फलभूत केवलज्ञान स्वरूप शुद्ध पर्याय की भांति (वह शुद्धोपयोग) शुद्ध भी नहीं होता, किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रय रूप, मोक्ष का कारण, एक देश में प्रगट रूप और एक देश में आवरणरहित ऐसा तीसरी अवस्थान्तर रूप कहा जाता है।

कोई शंका करता है—केवल ज्ञान समस्त आवरण से रहित शुद्ध है, इसलिये केवल ज्ञान का कारण भी समस्त आवरण रहित शुद्ध होना चाहिये, क्योंकि 'उपादान कारण के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। तत्रोत्तरं दीयते—युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तनवर्णिकोपादानकारणवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति। यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति, तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते। ततः किं सिद्धं ? एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूपं विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन संवरशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति। यच्च लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं, न च सर्वथा। कस्मादिति चेत् ? तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति। वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिकज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं, संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव। यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरण-

---

समान कार्य होता है' ऐसा आगम वचन है ? इस शंका का उत्तर देते हैं—आपने ठीक कहा; किन्तु उपादान कारण भी, सोलह वानी के सुवर्णरूप कार्य के पूर्ववर्त्तिनी वर्णिकारूप उपादान कारण के समान और मिट्टी रूप घट कार्य के प्रति मिट्टी का पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूल रूप उपादान कारण के समान, कार्य से एक देश भिन्न होता है (सोलह वानी के सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रह वर्णिकायें उपादान कारण हैं और घट के प्रति जैसे मिट्टी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण हैं, सो सोलह वानी के सुवर्ण और घट रूप कार्य से एक देश भिन्न हैं, बिलकुल सोलह वानी के सुवर्ण रूप और घट रूप नहीं हैं। इसी तरह सब उपादान कारण कार्य से एक देश भिन्न होते हैं)। यदि उपादान कारण का कार्य के साथ एकान्त से सवर्था अभेद या भेद हो तो उपर्युक्त सुवर्ण और मिट्टी के दो दृष्टान्तों के समान कार्य कारणभाव सिद्ध नहीं होता।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? एक देश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षण-वाला एक देश व्यक्ति रूप, विवक्षित एक देश शुद्ध नय की अपेक्षा 'संवर' शब्द से वाच्य शुद्ध उपयोग स्वरूप क्षयोपक्षमिक ज्ञान मुक्ति का कारण होता है। जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव में नित्य उद्घाटित तथा आवरण रहित ज्ञान सुना जाता है, वह भी सूक्ष्म निगोद में ज्ञानावरण कर्म का सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से आवरण रहित है, किन्तु सर्वथा आवरण रहित नहीं है। वह आवरण रहित क्यों रहता है ? उत्तर—यदि उस जघन्य ज्ञान का भी आवरण हो जावे तो जीव का ही अभाव हो जायेगा। वास्तव में तो उपरिवर्त्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरण सहित है, क्योंकि संसारी जीवों के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिये निगोदिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वत्केवलज्ञानांश रूपं भवति तर्हि तेनैकदेशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षतां प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते। किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यबिम्बवन्निबिडलोचनपटलवद्वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः।

अथ क्षयोपशमलक्षणं कथ्यते—सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उपशमः तेषामेकदेशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते। क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिको भावः। अथवा देशघातिस्पर्द्धकोदये सति जीव एकदेशेन ज्ञानादिगुणं लभते यत्र स क्षायोपशमिको भावः। तेन किं सिद्धं? पूर्वोक्तसूक्ष्मनिगोदजीवे ज्ञानावरणीयदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्येकदेशेन ज्ञानगुणं लभ्यते तेन कारणेन तत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं, न च क्षायिकं, कस्मादेकदेशोदयसद्भावादिति। अयमत्रार्थः—यद्यपि पूर्वोक्तं शुद्धोपयोगलक्षणं क्षायोपशमिकं ज्ञानं मुक्तिकारणं भवति तथापि

का वह ज्ञान क्षायोपशमिक ही है। यदि नेत्रपटल के एक देश में निरावरण के समान वह ज्ञान केवलज्ञान का अंशरूप हो तो उस एक देश (अंश) से भी लोकालोक प्रत्यक्ष हो जाये; परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; किन्तु अधिक बादलों से आच्छादित सूर्य-बिम्ब के समान या निबिड़ नेत्रपटल के समान, वह निगोदिया का ज्ञान सबसे थोड़ा जानता है, यह तात्पर्य है।

अब क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं—सब प्रकार से आत्मा के गुणों को आच्छादन करने वाली जो कर्मों की शक्तियाँ हैं उनको 'सर्वघातिस्पर्द्धक' कहते हैं। और विवक्षित एक देश से जो आत्मा के गुणों को आच्छादन करने वाली कर्मशक्तियाँ हैं वे 'देशघातिस्पर्द्धक' कहलाती हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय का जो अभाव है सो ही क्षय है और उन्हीं सर्वघातिस्पर्द्धकों का जो अस्तित्व है वह उपशम कहलाता है। सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय का अभावरूप क्षय सहित उपशम और उन (कर्मों) के एक देश घातिस्पर्द्धकों का उदय होना, सो ऐसे तीन प्रकार के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशम में जो भाव हो, वह क्षायोपशमिक भाव है। अथवा देशघातिस्पर्द्धकों के उदय के होते हुए, जीव जो एक देश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ? पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोद जीव में ज्ञानावरण कर्म के देशघातिस्पर्द्धकों का उदय होने के कारण एकदेश से ज्ञान गुण होता है इस कारण वह ज्ञान क्षायोपशमिक है, क्षायिक नहीं; क्योंकि, वहाँ कर्म के एक देश उदय का सद्भाव है।

यहाँ सारांश यह है—यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षण-वाला क्षायोपशमिक ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यातृपुरुषेण यदेव नित्यसकलनिरावरणमखण्डैकसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूपं तदेवाहं, न च खण्डज्ञानरूप, इति भावनीयम्। इति संवरतत्त्वव्याख्यानविषये नयविभागो ज्ञातव्य इति ॥ ३४ ॥

अथ संवरकारणभेदान् कथयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कैः कृत्वा संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददातीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति भगवान्—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ ३५ ॥

व्रतसमितिगुप्तयः धर्म्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च ।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—'वदसमिदीगुत्तीओ' व्रतसमितिगुप्तयः, 'धम्माणुपेहा' धर्मस्तथैवानुप्रेक्षाः, 'परीसहजओ य' परीषहजयश्च, 'चारित्तं बहुभेया' चारित्रं बहुभेदयुक्तं, 'णायव्वा भावसंवरविसेसा' एते सर्वे मिलिता भावसंवरविशेषा भेदा ज्ञातव्याः। अथ विस्तर :—निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्न-

---

मुक्ति का कारण है तथापि ध्यान करने वाले पुरुष को, 'नित्य सकल–आवरणों से रहित, अखण्ड, एक सकल विमल–केवल ज्ञानरूप परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मैं हूँ, खण्ड ज्ञानरूप नहीं हूं' ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस तरह संवर तत्त्व के व्याख्यान में नय का विभाग जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

अब संवर के कारणों के भेद कहते हैं, यह एक भूमिका है। किनसे संवर होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देनेवाली दूसरी भूमिका है, इन दोनों भूमिकाओं को मन में धारण करके, श्री नेमिचन्द्र आचार्य गाथासूत्र को कहते हैं :—

गाथार्थ :—पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस तरह ये सब भावसंवर के भेद जानने चाहिएं।

वृत्त्यर्थ :—"वदसमिदीगुत्तीओ" व्रत, समिति, गुप्तियां, "धम्माणुपेहा" धर्म और अनुप्रेक्षा, 'परीसहजओ य' और परीषहों का जीतना, 'चारित्तं बहुभेया' अनेक प्रकार का चारित्र, 'णायव्वा भावसंवरविसेसा' ये सब मिलकर भावसंवर के भेद जानने चाहिएँ। अब इसको विस्तार से कहते हैं—निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव धारक निज-आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्। निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः, व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञाः पञ्च समितयः। निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयात्स्वस्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः, व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः। निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञान दर्शनलक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारो धर्मः।

तद्यथा—प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारं धर्मवचनं। क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवेऽकालुष्योपरमः क्षमा। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युप-

---

अशुभ राग आदि विकल्पों से रहित होना व्रत है। व्यवहारनय से उस निश्चय व्रत को साधने वाला हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्म और परिग्रह से जीवन भर त्यागरूप पांच प्रकार का व्रत है। निश्चयनय की अपेक्षा अनन्तज्ञान-आदि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें 'सम्' भले प्रकार, अर्थात् ससस्त रागादि विभावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदिरूप से जो अयन कहिये गमन अर्थात् परिणमन सो 'समिति' है। व्यवहार से उस निश्चय समिति के बहिरंग सहकारी कारणभूत आचार चारित्र विषयक ग्रंथों में कही हुई ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग ये पांच समितियां हैं। निश्चय से सहज-शुद्ध-आत्म-भावनारूप गुप्त स्थान में संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना, प्रछादन, झंपन, प्रवेशन, या रक्षा करना है, सो गुप्ति है। व्यवहारनय से बहिरंग साधन के अर्थ जो मन, वचन, काय की क्रिया को रोकना सो गुप्ति है। निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे (बचावे) सो विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणमयी निज शुद्ध आत्मा को भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनय से उसके साधनके लिये इन्द्र चक्रवर्ती आदि से जो वंदने योग्य पद है उसमें पहुँचाने वाला उत्तम क्षमा मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्यरूप दश प्रकार का धर्म है।

वे धर्म इस प्रकार हैं, जो समिति पालन में प्रवृत्तिरूप हैं, उनके प्रमाद को दूर करने के लिये धर्म का निरूपण किया गया है। क्रोध उत्पन्न होने में निमित्तीभूत ऐसे असह्य दुर्वचन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनावज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्ति-निमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमा इति उच्यते ॥ १ ॥ जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं ॥ २ ॥ योगस्यावक्रता आर्जवं । योगस्यकायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवं इति उच्यते ॥ ३ ॥ सत्सु साधुवचनं सत्यं । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमिति उच्यते ॥ ४ ॥ प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचं। लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा शौचं इति निश्चीयते ॥ ५ ॥ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । एकेन्द्रियादि प्राणिपीड़ापरिहारः प्राणिसंयमः । शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः ।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः, तद्यथा—अष्टौ शुद्धयः—भावशुद्धिः, कालशुद्धिः, विनयशुद्धिः, ईर्यापथशुद्धिः, भिक्षाशुद्धिः, प्रतिष्ठापनशुद्धिः, शयनासनशुद्धिः, वाक्यशुद्धिश्चेति । तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता, मोक्षमार्गरुच्या-

---

आदि के अवसर प्राप्त होने पर कलुषता का न होना क्षमा है अर्थात् शरीर की स्थिति का कारण जो शुद्ध आहार उसकी खोज के लिये पर कुलों (गृहों) में जाते हुये मुनि को दुष्टजनों द्वारा गाली, हास्य, निरादर के वचन कहें जाने पर भी तथा ताड़न, शरीर घात इत्यादि क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त कारण मिलने पर भी परिणामों में मलिनता न आना, इस ही का नाम क्षमा कहा गया है ॥ १ ॥

उत्तम जाति आदि मद के आवेग से अभिमान का न होना मार्दव है ॥ २ ॥ योगों की अकुटिलता आर्जव है अर्थात् मन वचन कायरूप योगों की सरलता को आर्जव कहा गया है । ॥ ३ ॥ सत्जनों से साधुवचन बोलना सत्य है अर्थात् प्रशस्त एवं श्रेष्ठ सज्जन पुरुषों से जो समीचीन वचन बोलना, वह सत्य कहलाता है ॥ ४ ॥ लोभ की निवृत्ति की प्रकर्षता होना, शौच है । शुचि नाम पवित्रता का है, शुचि के भाव व कर्म को शौच कहते हैं ॥ ५ ॥ समितियों के पालन करने वाले मुनिराज का प्राणियों की रक्षा करना तथा इन्द्रियों के विषयों का निषेध संयम है, अर्थात् ईर्यासमिति आदि में प्रवर्तमान मुनि का उनकी (समिति की) प्रतिपालना के लिये प्राणी पीड़ा परिहार एवं इन्द्रियविषयाशक्ति परिहार को संयम कहते हैं । एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा का त्याग प्राणि संयम है, शब्दादि इन्द्रियविषयों में राग का लगाव न होना इन्द्रिय-संयम है ।

उस संयम के विशेष निरूपण करने के लिये अथवा उसकी पालना के लिये अष्टशुद्धियों का उपदेश है । वे अष्टशुद्धि इस प्रकार हैं:—भावशुद्धि-कायशुद्धि-विनयशुद्धि-ईर्यापथशुद्धि-भिक्षाशुद्धि—प्रतिष्ठापनशुद्धि—शयनासनशुद्धि—वाक्यशुद्धि । इनमें भावशुद्धि कर्म के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हितप्रसादा, रागाद्युपप्लवरहिता । कायशुद्धिः निरावरणाभरणा, निरस्तसंस्कारा, यथाजातमलधारिणी, निराकृताङ्गविकारा । विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधिभक्तियुक्ता, गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः । ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीड़ा, ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी, द्रुतविलम्बितसम्भ्रांतविस्मितलीलाविकारदिगान्तरावलोकनादिदोषविरहितगमना । भिक्षाशुद्धिः आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला, लाभालाभमानापमानसमाममनोवृत्तिः, लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा, चन्द्रगतिरिवहीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थानादीनानाथदानशालाविवाहयज्ञगेहादि परिवर्जनोपलक्षिता, दीनवृत्तिविगमा, प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना, आगमविहित निरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला । प्रतिष्ठापनशुद्धिः, नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च जंतूपरोधविरहिता । शयनासनशुद्धिः, स्त्रीक्षुद्रचौरपाषण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः,

---

क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, मोक्षमार्ग में रुचि होने से परिणामों को निर्मल करने वाली है, तथा रागादि विकार से रहित है। १। कायशुद्धि, आवरण एवं आभूषणों से रहित, समस्त संस्कारों से अतीत, बालक (यथाजात) के समान धूलि धूसरित देह को धारण करने वाली शरीर विकारों से रहित है। २। विनयशुद्धि—परम गुरु अरहंतादि की यथा योग्य पूजा में तत्परता जहां रहती है, ज्ञानादि में यथाविधि भक्ति जहां की जाती है, गुरु के प्रति जहां सर्वत्र अनुकूल वृत्ति होती है। ३। ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के स्थान तथा योनिरूप आश्रयों का बोध होने से ऐसा प्रयत्न करना जिससे जीवों को पीड़ा न हो, ज्ञानरूपी सूर्य से एवं इन्द्रियों से तथा प्रकाश से भले प्रकार देखे हुए प्रदेश में गमन करना, जल्दी चलना, देर से चलना, चंचल उपयोग सहित चलना, साश्चर्य चलना, क्रीड़ा करते हुए चलना, विकार युक्त चलना, इधर उधर दिशाओं में देखते हुए चलना, इत्यादि चलने सम्बन्धी दोषों से रहित गमन करना । ४। भिक्षाशुद्धि—आचार सूत्र में कहे अनुसार काल, देश, प्रकृति का बोध करना, लाभ-अलाभ, मान-अपमान में समान मनोवृत्ति का रहना; लोकनिंद्य परिवारों में आहार के लिये नहीं जाना, चन्द्रमा के समान कम और अधिक गृहों की जिसमें मर्यादा हो, विशेष रूप से जो स्थान दीन-अनाथों के लिये दानशीला हो अथवा विवाह तथा यज्ञ जिस गृह में हो रहे हों, ऐसे स्थानों में आहार के लिये चर्या नहीं करनी। (अन्तराय एवं अनेक उपवासों के पश्चात् भी) दीनवृत्ति का न होना। प्रासुक आहार खोजना ही जहां मुख्य लक्ष्य है। आगम विधि के अनुसार निर्दोष भोजन की प्राप्ति से प्राणों की स्थिति मात्र है लक्ष्य जिसमें, ऐसी भिक्षा-शुद्धि है। ५। प्रतिष्ठापनशुद्धि—नख-रोम-नासिका-मल-कफ-वीर्य-मल-मूत्र की क्षेपणक्रिया में तथा शरीर के उठाने-बैठाने इत्यादि में जन्तुओं को बाधा न होने देना। ६। शयनासन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिताः सेव्याः । वाक्यशुद्धिः, पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिता, परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका, व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला, हितमितमधुरमनोहरा, संयतस्ययोग्या, इति संयमान्तर्गताष्टशुद्धयः ॥ ६ ॥

कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः । तद्द्विविधं, बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्येकं षड्विधम् ॥ ७ ॥ परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते ॥ ८ ॥ ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यं । उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यमित्याख्यायते । नास्य किंचनास्ति इत्यकिंचनः, तस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यम् ॥ ९ ॥ अनुभूतांगनास्मरणतत्कथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं । मया अनुभूतांगना कलागुणविशारदा इति स्मरणं तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीसंसक्तशयनासनमित्येवं-

---

शुद्धि—स्त्री; क्षुद्र पुरुष; चोर; मद्यपायी; जुआरी; मद्य-विक्रेता तथा पक्षियों को पकड़ने वाले आदि के स्थानों में नहीं बसना चाहिये । प्राकृतिक गिरि-गुफा, वृक्ष का कोटर तथा बनाये हुए सूने घर, छूटे हुए, छोड़े हुए स्थानों में, जो अपने उद्देश से नहीं बनाये गये हों, बसना चाहिए । ७ । वाक्यशुद्धि—पृथिवीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ आदि की प्रेरणा जिस में न हो । जो कठोर निष्ठुर और पर पीड़ा कारी प्रयोगों से रहित हो । व्रतशील आदि का उपदेश देने वाली हो । हित मित मधुर मनोहर ऐसी संयमी के योग्य वाक्य शुद्धि है । ८ । इस प्रकार संयम के अंतर्गत आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ ।

कर्मक्षय के लिये जो तपा जाये वह तप है । वह तप दो प्रकार है, बाह्य तप, अंतरंग तप । इनमें से प्रत्येक छः छः प्रकार का है ॥ ७ ॥ चेतन अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं अथवा संयमी के योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहा गया है ॥ ८ ॥ 'यह मेरा है" इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग आकिंचन्य है अर्थात् जो शरीरादि प्राप्त परिग्रह हैं उनमें संस्कार न रहे इसके लिये "यह मेरा है" इस अभिप्राय की निवृत्ति को आकिंचन्य के नाम से कहा गया है । जिसके कुछ भी (परिग्रह) नहीं है वह अकिंचन है उसका जो भाव अथवा कर्म उसे आकिंचन्य कहते हैं ॥ ९ ॥ अनुभूत स्त्री का स्मरण, उसकी कथा का श्रवण तथा स्त्री संसक्त शय्या आसन आदि स्थान के त्याग से ब्रह्मचर्य है अर्थात् "मैंने उस कला गुण विशारदा स्त्री को भोगा था" ऐसा स्मरण उसकी पूर्व कथा का श्रवण एवं रतिकालीन सुगन्धित द्रव्यों की सुवास तथा स्त्रीसंसक्तशय्या आसन आदि के त्याग से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है । अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये गुरु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते । स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा ॥ १० ॥ एवं दशधा धर्मः ।

द्वादशानुप्रेक्षाः कथ्यन्ते—अध्रुवाशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । अथाध्रुवानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—द्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेनाविनश्वरस्वभावनिजपरमात्मद्रव्यादन्यद् भिन्नं यज्जीवसंबन्धे अशुद्धनिश्चयनयेन रागादिविभावरूपं भावकर्म, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मनोकर्मरूपं च तथैव (उपचरितासद्भूतव्यवहारेण) तत्स्वस्वामिभावसम्बन्धेन गृहीतं यच्चेतनं वनितादिकम्, अचेतनं सुवर्णादिकं, तदुभयमिश्रं चेत्युक्तलक्षणं तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम् । तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मानं भावयति तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति । इत्यध्रुवानुप्रेक्षा गता ॥ १ ॥

स्वरूप ब्रह्म जो शुद्ध आत्मा उसमें चर्या होना ब्रह्मचर्य है ॥ १० ॥ इस प्रकार दश धर्म हैं ॥

बारह अनुप्रेक्षाओं को कहते हैं—अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म इनका चिन्तवन करना, अनुप्रेक्षा है । उनको विस्तार से कहते हैं—

अध्रुव अनुप्रेक्षा—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव से अविनाशी स्वभाव वाले निज परमात्म-द्रव्य से भिन्न, अशुद्ध निश्चयनय से जो जीव के रागादि विभावरूप भावकर्म एवं अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्मरूप, तथा (उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से) उनके स्वस्वामि-भाव सम्बन्ध से ग्रहण किये हुए स्त्री आदि चेतन द्रव्य, सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्य और चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ, उक्त लक्षण वाले ये सब पदार्थ अध्रुव (नाशवान) हैं; इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए । उस भावना सहित पुरुष के, उन स्त्री आदि के वियोग होने पर भी, झूठे भोजनों के समान, ममत्व नहीं होता । उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद, अभेद रूप रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है । जैसो अविनिश्वर आत्मा को भाता है, वैसी ही अक्षय अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार अध्रुव भावना है । १ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथाशरणानुप्रेक्षा कथ्यते—निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद् बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम्, तस्माद्बहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्त्तिसुभटकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रासादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौमहाटव्यां, व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव, महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम् । तद्विज्ञाय भोगकांक्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतमालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बनं कृत्वा भावनां करोति । यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति । इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥ २ ॥

अथ संसारानुप्रेक्षा कथ्यते—शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण, शरीरपोषणार्थाशनपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्यसंसारः । स्वशुद्धात्मद्रव्यसंबन्धिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकक्षेत्रप्रदेशास्तत्रै-

---

अशरण अनुप्रेक्षा—निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो स्वशुद्धात्म द्रव्य और उसकी बहिरंग सहकारीकारण भूत पंचपरमेष्ठियों की आराधना, यह दोनों शरण (रक्षक) है। उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भोंहरा, मणि, मन्त्र, तंत्र, आज्ञा, प्रासाद (महल) और औषधि आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरण आदि के समय शरण नहीं होते; जैसे महावन में व्याघ्र से पकड़े हुए हिरण के बच्चे को अथवा महासमुद्र में जहाज से छूटे हुए पक्षी को कोई शरण नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए। अन्य पदार्थों को अपना शरण न जानकर, आगामी भोगों की वांछारूप निदानबंध आदि का अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभव से उत्पन्न सुख रूप अमृत का धारक निज-शुद्ध-आत्मा का ही अवलम्बन करके, उस शुद्ध-आत्मा की भावना करता है। जैसी आत्मा को यह शरणभूत भाता है, वैसे ही सदा शरणभूत, शरण में आये हुए के लिए वज्र के पिंजरे के समान, निज-शुद्धआत्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा का व्याख्यान हुआ। २।

संसारानुप्रेक्षा—शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न सपूर्व (पुराने) अपूर्व (नये) तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्यों को ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप से तथा शरीर पोषण के लिए भोजनपान आदि पांचों इन्द्रियों के विषय रूप से इस जीव ने अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा है, इस प्रकार 'द्रव्यसंसार है'। निज-शुद्धआत्म द्रव्य सम्बन्धी जो सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न लोक-क्षेत्र के सर्व प्रदेशों में एक-एक प्रदेश को व्याप्त करके,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कैकं प्रदेशं व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः स कोऽपि प्रदेशो नास्तीति क्षेत्रसंसारः। स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकालं विहाय प्रत्येकंदशकोटाकोटिसागरोपमप्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरावर्त्तनकालेनानन्तवारानयं जीवो यत्र न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः। अभेदरत्नत्रयात्मकसमाधिबलेन सिद्धगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय नारकतिर्यग्मनुष्यभवेषु तथैव देवभवेषु च निश्चयरत्नत्रयभावनारहितभोगाकांक्षानिदानपूर्वकद्रव्यतपश्चरणरूपजिनदीक्षाबलेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं, "सक्को सहग्गमहिरसी दक्खिणइंदा य लोयवाला य। लोयंतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति। १।" इति गाथाकथितपदानि तथागमनिषिद्धान्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भवोत्पादकमिथ्यात्वरागादिभावनासहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः।

अथ भावसंसारः कथ्यते। तद्यथा—सर्वजघन्यप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यमनोवचनकायपरिस्पन्दरूपाणि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि

अनन्त बार यह जीव उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो, ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है। यह 'क्षेत्रसंसार' है। निज-शुद्धआत्म अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि के काल को छोड़कर (प्राप्त न करके) दशकोटाकोटी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल और दशकोटाकोटी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में अनेक परावर्त्तन काल से यह जीव अनन्त बार जन्मा न हो और मरा न हो ऐसा कोई भी समय नहीं है। इस प्रकार 'कालसंसार' है। अभेद रत्नत्रयात्मक ध्यान के बल से सिद्धगति में निज-आत्मा की उपलब्धि रूप सिद्ध पर्याय रूप उत्पाद के सिवाय नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के भवों में निश्चय रत्नत्रय की भावना से रहित और भोग-वांछादि निदान सहित द्रव्यतपश्चरण रूप मुनि दीक्षा के बल से नव ग्रैवेयक तक, 'प्रथम स्वर्ग का इन्द्र, प्रथम स्वर्ग की इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव ये सब स्वर्ग से च्युत होकर निवृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। १।' गाथा में कहे हुए पदों को तथा आगम में निषिद्ध अन्य उत्तम पदों को छोड़ कर भव नाशक निज-आत्मा की भावना से रहित व संसार को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व व राग आदि भावों से सहित हुआ, यह जीव अनन्त बार जन्मा है और मरा है। इस प्रकार 'भवसंसार' जानना चाहिए।

अब भाव संसार को कहते हैं—सबसे जघन्य प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत सर्व जघन्य मन, वचन, काय के अवलम्बन से परिस्पन्द रूप, श्रेणी के असंख्यातवेभाग प्रमाण तथा चार स्थानों में पतित (वृद्धि हानि), ऐसे सर्व जघन्य योगस्थान होते हैं। इसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुःस्थानपतितानि सर्वजघन्ययोगस्थानानि भवन्ति तथैव सर्वोत्कृष्टप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टमनोवचनकायव्यापाररूपाणि तद्योग्यश्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वोत्कृष्टयोगस्थानानि च भवन्ति । तथैव सर्वजघन्यस्थितिबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानानि तद्योग्यासंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति । तथैव च सर्वोत्कृष्टस्थितिबंधनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टकषायाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति । तथैव सर्वजघन्यानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि भवन्ति । तथैव च सर्वोत्कृष्टानुभागबंधनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च विज्ञेयानि । तेनैव प्रकारेण स्वकीयस्वकीयजघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये तारतम्येन मध्यमानि च भवन्ति । तथैव जघन्यादुत्कृष्टपर्यन्तानि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतीनां स्थितिबंधस्थानानि च । तानि सर्वाणि परमागमकथितानुसारेणानन्तवारान् भ्रमितान्यनेन जीवेन, परं किन्तु पूर्वोक्तसमस्तप्रकृतिबन्धादीनां सद्भावविनाशकारणानि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि यानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव न लब्धानि । इति भावसंसारः ।

प्रकार सर्व उत्कृष्ट प्रकृति बन्ध व प्रदेश बन्ध के कारणभूत, सर्वोत्कृष्ट मन, वचन, काय के व्यापार रूप, यथायोग्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण, चार स्थानों में पतित सर्वोत्कृष्ट योगस्थान होते हैं। इसी प्रकार सर्वजघन्य स्थिति बन्ध के कारणभूत, अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण, षट् स्थान वृद्धिहानि में पतित सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं। इसी तरह सर्वोत्कृष्ट स्थिति बन्ध के कारणभूत सर्वोत्कृष्ट कषाय अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण और षट स्थानों में पतित होते हैं। इसी प्रकार सबसे जघन्य अनुभाग बन्ध के कारणभूत सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण तथा षट् स्थान पतित हानिवृद्धि रूप होते हैं। इसी प्रकार सबसे उत्कृष्ट अनुभाग बंध के कारण जो सर्वोत्कृष्ट अनुभाग अध्यवसाय स्थान हैं वे भी असंख्यात लोक प्रमाण और षट् स्थान पतित जानने चाहिये। इसी प्रकार से अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्टों के बीच में तारतम्य से मध्यम भेद भी होते हैं। इसी तरह जघन्य से उत्कृष्ट तक ज्ञानावरण आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के स्थिति बंधस्थान हैं। उन सब में, परमागम अनुसार, इस जीव ने अनन्त बार भ्रमण किया, परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृति बंध आदि की सत्ता के नाश के कारण जो विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, उनको इस जीव ने प्राप्त नहीं किया। इस प्रकार 'भावसंसार' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीतस्वशुद्धात्मसंवित्तिविनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीतसुखास्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसंविच्चिबलेन संसारविनाशकनिजनिरञ्जनपरमात्मन्येव भावनां करोति। ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणे मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति। अयं तु विशेषः—नित्यनिगोदजीवान् विहाय, पञ्चप्रकारसंसारव्याख्यानं ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत्—नित्यनिगोदजीवानां कालत्रयेऽपि त्रसत्वं नास्तीति। तथा चोक्तं—'अस्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो। भावकलंकसु पउरा णिगोदवासं ण मुंचंति। १।' अनुपमाद्वितीयमनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकनवशतपरिमाणास्ते च नित्यनिगोदवासिनः क्षपितकर्मांश इन्द्रगोपाः संजतास्तेषां च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिना पादो दत्तस्ततस्ते मृत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भरतपुत्रा जातास्ते च केनचिदपि सह न वदन्ति। ततो भरतेन समवसरणे भगवान् पृष्टो, भगवता च प्राक्तनं वृत्तान्तं कथितम्। तच्छ्रुत्वा ते तपो गृहीत्वा क्षणस्तोककालेन मोक्षं

इस प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार को चिन्तन करते हुए इस जीव के, संसार रहित निज शुद्ध आत्मज्ञान का नाश करने वाले तथा संसार की वृद्धि के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, उनमें परिणाम नहीं जाता किन्तु वह संसारातीत (संसार में प्राप्त न होने वाला अतीन्द्रिय) सुख के अनुभव में लीन होकर, निज-शुद्धआत्मज्ञान के बल से संसार को नष्ट करने वाले निज-निरंजन-परमात्मा में भावना करता है। तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से विलक्षण मोक्ष में अनन्तकाल तक रहता है। यहाँ विशेष यह है—नित्य निगोद के जीवों को छोड़कर, पंच प्रकार के संसार का व्याख्यान जानना चाहिये (नित्य-निगोदी जीव इस पंच प्रकार के संसार में परिभ्रमण नहीं करते); क्योंकि, नित्य निगोदवर्ती जीवों को तीन काल में भी त्रसपर्याय नहीं मिलती। सो कहा भी है—'ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसपर्याय को अभी तक प्राप्त ही नहीं किया और जो भाव-कलंकों (अशुभ परिणामों) से भरपूर हैं, जिससे वे निगोद के निवास को कभी नहीं छोड़ते।' किन्तु यह वृत्तान्त अनुपम और अद्वितीय है कि नित्य निगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि नौ सौ तेईस जीव, कर्मों की निर्जरा (मंद) होने से, इन्द्रगोप (मखमली लाल कीड़े) हुए; उन सबके ढेर पर भरत के हाथी ने पैर रख दिया इससे वे मर कर, भरत के वर्द्धनकुमार आदि पुत्र हुए। वे पुत्र किसी के भी साथ नहीं बोलते थे। इसलिये भरत ने समवसरण में भगवान् से पूछा, तो भगवान् ने उन पुत्रों का पुराना सब वृत्तान्त कहा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गताः । आचाराराधनाटिप्पणे कथितमास्ते । इति संसारानुप्रेक्षा गता । ३ ।

अथैकत्वानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावना-परिणतस्यास्य जीवस्य निश्चयनयेन सहजानन्दसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञान-मेवैकं सहजं शरीरम् । शरीरं कोऽर्थः ? स्वरूपं, न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम् । तथैवार्त्तरौद्रदुर्ध्यानविलक्षणपरमसामायिकलक्षणैकत्वभावनापरिणतं निजात्मतत्त्व-मेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारी परमोबन्धु, न च विनश्वराहितकारी पुत्रकलत्रा-दिः । तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षासंयमलक्षणैकत्वभावनासहितः स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वरहितकारी परमोऽर्थः, न च सुवर्णाद्यर्थः । तथैव निर्विकल्पसमाधि-समुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणानाकुलत्वस्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं न चाकु-लत्वोत्पादकेन्द्रियसुखमिति । कस्मादिदं देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति चेत् ? यतो मरणकाले जीव एक एव गत्यन्तरं गच्छति न च देहादीनि । तथैव रोगव्याप्तिकाले विषयकषायादिदुर्ध्यानरहितः

उसको सुनकर उन सब वर्द्धनकुमारादि ने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े काल में मोक्ष चले गये।' यह कथा आचाराराधना की टिप्पणी में कही गई है। इस प्रकार 'संसार अनुप्रेक्षा' का व्याख्यान हुआ। ३।

अब एकत्व-अनुप्रेक्षा को कहते हैं—निश्चयरत्नत्रय लक्षण वाली एकत्व भावना में परिणत इस जीव के निश्चयनय से स्वाभाविक आनन्द आदि अनन्त गुणों का आधाररूप केवल ज्ञान ही एक स्वाभाविक शरीर है। यहां 'शरीर' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' है, न कि सात धातुओं से निर्मित औदारिक शरीर। इसी प्रकार आर्त्त और रौद्र दुर्ध्यानों से विलक्षण परमसामायिक रूप एकत्व भावना में परिणत जो एक अपना आत्मा है वही सदा अविनाशी और परमहितकारी व परम बन्धु है; विनश्वर व अहितकारी पुत्र, मित्र, कलत्र आदि बन्धु नहीं हैं। उसी प्रकार परम उपेक्षा संयमरूप एकत्व भावना से सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है, वह ही एक अविनाशी तथा हितकारी परम अर्थ है, सुवर्ण आदि परम-अर्थ नहीं हैं। एवं निर्विकल्प-ध्यान से उत्पन्न निर्विकार परम-आनन्द-लक्षण, आकुलतारहित आत्म-सुख ही एक सुख है और आकुलता को उत्पन्न करने वाला इन्द्रियजन्य जो सुख है वह सुख नहीं है। शंका—शरीर, बन्धुजन तथा सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि को निश्चयनय से जीव के लिये हेय क्यों कहे हैं ? समाधान—मरण समय यह जीव अकेला ही दूसरी गति में गमन करता है, देह आदि इस जीव के साथ नहीं जाते। तथा जब जीव रोगों से घिर जाता है तब विषय कषाय आदि रूप दुर्ध्यान से रहित एक-निजशुद्ध-आत्मा ही इसका सहायक होता है। शंका—वह कैसे सहायक होता है ? उत्तर—यदि जीव का वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति । तदपि कथमिति चेत् ? यदि चरमदेहो भवति तर्हि केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेहस्य तु संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुखं दत्वा च पश्चात् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—"सग्गं तवेण सव्वो, वि पावए तहि वि झाणजोयेण । जो पावइ सो पावइ, परलोए सासयं सोक्खं । १ ।" एवमेकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना कर्तव्या । इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता ॥ ४ ॥

अथान्यत्वानुप्रेक्षां कथयति । तथा हि—पूर्वोक्तानि यानि देहबन्धुजन-सुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि तथैव हेयभूतानि च, तानि सर्वाणि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन नित्यात्मनः सर्वप्रकारोपादेयभूतान्निर्विकारपरम-चैतन्यचिच्चमत्कारस्वभावान्निजपरमात्मपदार्थान्निश्चयनयेनान्यानि भिन्नानि । तेभ्यः पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति । अयमत्र भावः—एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमि-त्यादिविधिरूपेण व्याख्यानं, अन्यत्वानुप्रेक्षायां तु देहादयो मत्सकाशादन्ये, मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण । इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षायां विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तात्पर्यं तदेव । इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता । ५ ।

अंतिम शरीर हो, तब तो केवलज्ञान आदि की प्रकटतारूप मोक्ष में ले जाता है, यदि अंतिम शरीर न हो, तो वह संसार की स्थिति को कम करके देवेन्द्रिय आदि सांसारिक सुख को देकर तत्पश्चात् परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराता है। यह निष्कर्ष है । कहा भी है—'तप करने से स्वर्ग सब कोई पाते हैं, परन्तु ध्यान के योग से जो कोई स्वर्ग पाता है वह अग्रिम भव में अक्षय सुख को पाता है ॥ १ ॥' इस तरह एकत्व भावना के फल को जान कर, सदा निज-शुद्धआत्मा में एकत्व रूप भावना करनी चाहिये। इस प्रकार 'एकत्व' अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ४ ॥

अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं—पूर्वोक्त देह, बंधुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि कर्मों के अधीन हैं, इसी कारण विनाशशील तथा हेय भी हैं। इस कारण टंकोत्कीर्ण ज्ञायक रूप एक स्वभाव से नित्य, सब प्रकार उपादेयभूत निर्विकार–परम चैतन्य चित्–चमत्कार स्वभाव रूप जो निज-परमात्म पदार्थ है, निश्चयनय की अपेक्षा उससे वे सब देह आदि भिन्न हैं । आत्मा भी उनसे भिन्न है। भावार्थ यह है—एकत्व अनुप्रेक्षा में तो 'मैं एक हूँ' इत्यादि प्रकार से विधि रूप व्याख्यान है और अन्यत्व अनुप्रेक्षा में 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेध रूप से वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि निषेध रूप का ही अन्तर है, तात्पर्य दोनों का एक ही है। ऐसे 'अन्यत्व' अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः परं अशुचित्वानुप्रेक्षा कथ्यते। तद्यथा—सर्वाशुचिशुक्रशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव "वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः" इत्युक्ताशुचिसप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादिनवरन्ध्रद्वारैरपि स्वरूपेणाशुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्चाशुचिरयं देहः। न केवलमशुचिकारणत्वेनाशुचिः स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचिः, शुचि सुगन्धमाल्यवस्त्रादीनामशुचित्वोत्पादकत्वाच्चाशुचिः। इदानीं शुचित्वं कथ्यते—सहजशुद्धकेवलज्ञानादिगुणानामाधारभूतत्वात्स्वयं निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव शुचिः। 'जीवो बह्मा जीवम्हि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो। तं जाण बह्मचेरं विमुक्कपरदेहभत्तीए। १।' इति गाथाकथितनिर्मलब्रह्मचर्यं तत्रैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते। तथैव "ब्रह्मचारी सदा शुचिः" इतिवचनात्तथाविधब्रह्मचारिणामेव शुचित्वं न च कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशौचेऽपि। तथैव च—"जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते। श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।१।" इतिवचनाच्च एव निश्चयशुद्धाः ब्राह्मणाः। तथा चोक्तं नारायणेन युधिष्ठिरं प्रति विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं, न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम्।

इसके आगे अशुचित्व अनुप्रेक्षा को कहते हैं—सब प्रकार से अपवित्र वीर्य और रज से उत्पन्न होने के कारण, 'वसा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि (हाड़), मज्जा और शुक्र धातु हैं' इन अपवित्र सात धातुमय होने से, नाक आदि नौ छिद्र द्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्ठा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नहीं है; किंतु यह शरीर अपने संसर्ग से पवित्र-सुगन्ध-माला व वस्त्र आदि में भी अपवित्रता कर देता है, इसलिये भी यह देह अशुचि है।

अब पवित्रता को बतलाते हैं—सहज-शुद्ध केवलज्ञान आदि गुण का आधार होने से और निश्चय से पवित्र होने से यह परमात्मा ही शुचि है। 'जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनि की चर्या होती है उसको परदेह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो। इस गाथा में कहा हुआ जो निर्मल ब्रह्मचर्य है, वह निज परमात्मा में स्थित जीवों को ही मिलता है। तथा 'ब्रह्मचारी सदा पवित्र है' इस वचन से पूर्वोक्त प्रकार के ब्रह्मचारियों के ही पवित्रता है। जो काम, क्रोध आदि में लीन जीव हैं, उनके जल-स्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है। क्योंकि 'जन्म से शूद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत शास्त्र से श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण जानना चाहिये। १।' इस आगमवचनानुसार वे (परमात्मा में लीन) ही वास्तविक शुद्ध ब्राह्मण हैं। नारायण ने युधिष्ठिर से कहा भी है—'विशुद्ध आत्मा रूपी शुद्ध नदी में स्नान का करना ही परम पवित्रता का कारण है, लौकिक गंगा आदि तीर्थों में स्नान का करना शुचि का कारण नहीं है। 'संयम रूपी जल से भरी, सत्य रूपी प्रवाह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः । तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा । १ ।" इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता । ६ ।

अत ऊर्ध्वमास्रवानुप्रेक्षा कथ्यते । समुद्रे सच्छिद्रपोतवदयं जीव इन्द्रियाद्यास्रवैः संसारसागरे पततीति वार्त्तिकम् । अतीन्द्रियस्वशुद्धात्मसंवित्तिविलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि भण्यन्ते । परमोपशममूर्तिपरमात्मस्वभावस्य क्षोभोत्पादकाः क्रोधमानमायालोभकषाया अभिधीयन्ते । रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपायाः शुद्धात्मानुभूतेः प्रतिकूलानि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहप्रवृत्तिरूपाणि पञ्चाव्रतानि । निष्क्रियनिर्विकारात्मतत्त्वाद्विपरीतो मनोवचनकायव्यापाररूपाः परमागमोक्ताः सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रियेत्यादिपञ्चविंशतिक्रियाः उच्यन्ते । इन्द्रियकषायाव्रतक्रियारूपास्रवाणां स्वरूपमेतद्विज्ञेयम् । यथा समुद्रेऽनेकरत्नभाण्डपूर्णस्य सच्छिद्रपोतस्य जलप्रवेशे पातो भवति, न च वेलापत्तनं प्राप्नोति । तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामूल्यरत्नभाण्डपूर्णजीवपोतस्य पूर्वोक्तास्रवद्वारैः कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति, न च केवलज्ञानाव्याबा-

---

शील रूप तट और दयामय तरङ्गों की धारक जो आत्मा रूप नदी है, उसमें हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! स्नान करो क्योंकि, अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता । १ ।' इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षा का वर्णन हुआ ॥ ६ ॥

अब आगे आस्रवानुप्रेक्षा को कहते हैं । जैसे छेद वाली नाव समुद्र में डूबती है, उसी तरह इन्द्रिय आदि छिद्रों द्वारा यह जीव संसार–समुद्र में गिरता है, यह वार्त्तिक है । अतीन्द्रिय निज-शुद्धआत्मज्ञान से विलक्षण स्पर्शन, रसना, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । परम उपशम रूप परमात्म स्वभाव को क्षोभित करने वाले क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय कहे जाते हैं । राग आदि विकल्पों से रहित ऐसे शुद्ध-आत्मानुभव से प्रतिकूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचों में प्रवृत्ति रूप पाँच अव्रत हैं । क्रिया रहित और निर्विकार आत्मतत्त्व से विपरीत मन वचन काय के व्यापार रूप शास्त्र में कही हुई सम्यक्क्रिया मिथ्यात्व क्रिया आदि पच्चीस क्रिया हैं । इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया रूप आस्रवों का स्वरूप जानना चाहिये । जैसे समुद्र में अनेक रत्नों से भरा हुआ छिद्र सहित जहाज जल के प्रवेश से डूब जाता है, समुद्र के किनारे पत्तन (नगर) को नहीं पहुंच पाता । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप अमूल्य रत्नों से पूर्ण जीव रूपी जहाज, इन्द्रिय आदि आस्रवों द्वारा कर्म रूपी जल का प्रवेश हो जाने पर, संसार रूपी समुद्र में डूब जाता है । केवलज्ञान अव्याबाध सुख आदि अनंत गुणमय रत्नों से पूर्ण व मुक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धसुखाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति । एवमास्रवगतदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति । ७ ।

अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति; तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्राणां झम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति । एवं संवरगतगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या ॥ ८ ॥

अथ निर्जरानुप्रेक्षा प्रतिपादयति । यथा कोप्यजीर्णदोषेण मलसञ्चये जाते सत्याहारं त्यक्त्वा किमपि हरीतक्यादिकं मलपाचकमग्निदीपकं चौषधं गृह्णाति । तेन च मलपाकेन मलानां पातने गले निर्जरणे सति सुखी भवति । तथायं भव्यजीवोऽप्यजीर्णजनकाहारस्थानीयमिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्ममलसञ्चये सति मिथ्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमौषधस्थानीयं जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपाचकं शुद्धध्यानाग्निदीपकं च जिन-

---

स्वरूप वेलापत्तन (संसार-समुद्र के किनारे का नगर) को यह जीव नहीं पहुँच पाता इत्यादि प्रकार से आस्रव दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है ॥ ७ ॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। वही समुद्र का जहाज अपने छेदों के बन्द हो जाने से जल के न घुसने पर निर्विघ्न वेलापत्तन को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव रूप छिद्रों के मुँद जाने पर कर्म रूप जल न घुस सकने से, केवलज्ञान आदि अनन्तगुण रत्नों से पूर्ण मुक्ति रूप वेलापत्तन को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है। ऐसे संवर के गुणों के चिंतवन रूप संवर अनुप्रेक्षा जाननी चाहिए। ८।

अब निर्जरानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—जैसे किसी मनुष्य के अजीर्ण होने से पेट में मल का जमाव हो जाने पर, वह मनुष्य आहार को छोड़कर मल को पचाने वाले तथा जठराग्नि को तीव्र करने वाले हरड़ आदि औषध को ग्रहण करता है। जब उस औषध से मल पक जाता है, गल जाता है अथवा पेट से बाहर निकल जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है। उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण को उत्पन्न करने वाले आहार के स्थानभूत मिथ्यात्व, रागादि अज्ञान भावों से कर्म रूपी मल का संचय होने पर मिथ्यात्व, राग आदि छोड़कर, जीवन-मरण में व लाभ-अलाभ में और सुख-दुःख आदि में समभाव को उत्पन्न करने वाला, कर्ममल को पकाने वाला तथा शुद्ध-ध्यान-अग्नि को प्रज्वलित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वचनौषधं सेवते। तेन च कर्ममलानां गलने निर्जरणे सति सुखी भवति। किञ्च—यथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले यद्दुःखं जातं तदजीर्णे गतेऽपि न विस्मरति ततश्चाजीर्णजनकाहारं परिहरति तेन च सर्वदैव सुखी भवति। तथा विवेकिजनोऽपि 'आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति' इति वचनाद्दुःखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणामा जायन्ते तान् दुःखे गतेऽपि न विस्मरति। ततश्च निजपरमात्मानुभूतिबलेन निर्जरार्थं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिविभावपरिणामपरित्यागरूपैः संवेगवैराग्यपरिणामैर्वर्तत इति। संवेगवैराग्यलक्षणं कथ्यते—'धम्मे य धम्मफलम्मि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो। संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वैरग्गं। १।' इति निर्जरानुप्रेक्षा गता ॥ ६ ॥

अथ लोकानुप्रेक्षां प्रतिपादयति। तद्यथा—अनंतानंताकाशबहुमध्यप्रदेशे घनोदधिघनवाततनुवाताभिधानवायुत्रयवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्चलासंख्यातप्रदेशो लोकोऽस्ति। तस्याकारः कथ्यते—अधोमुखार्द्धमुरजस्योपरि पूर्णे मुरजे स्थापिते यादृशाकारो भवति तादृशाकारः, परं किन्तु मुरजो वृत्तो लोकस्तु चतुष्कोण इति

करने वाला, जो परम औषध के स्थानभूत जिनवचन रूप औषध है, उसका सेवन करता है; उससे कर्मरूपी मलों के गलन तथा निर्जरण हो जाने पर सुखी होता है। विशेष—जैसे कोई बुद्धिमान् अजीर्ण के समय जो कष्ट हुआ उसको अजीर्ण चले जाने पर भी नहीं भूलता और अजीर्ण पैदा करने वाले आहार को छोड़ देता है, जिससे सदा सुखी रहता है; उसी तरह ज्ञानी मनुष्य भी, 'दुःखी मनुष्य धर्म में तत्पर होते हैं' इस वाक्यानुसार, दुःख के समय जो धर्म रूप परिणाम होते हैं उनको दुःख नष्ट हो जाने पर भी नहीं भूलता। तत्पश्चात् निज परमात्म अनुभव के बल से निर्जरा के लिये देखे, सुने तथा अनुभव किए हुए भोगवांछादि रूप विभाव परिणाम के त्याग रूप संवेग तथा वैराग्य रूप परिणामों के साथ रहता है। संवेग और वैराग्य का लक्षण कहते हैं— धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है सो तो संवेग है; और संसार, देह तथा भोगों में जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है। १।' ऐसे निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ६ ॥

अब लोकानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं:—वह इस प्रकार है—अनंतानंत आकाश के बिलकुल मध्य के प्रदेशों में, घनोदधि घनवात तनुवात नामक तीन पवनों से बेढा हुआ, अनादि अनंत-अकृत्रिम-निश्चल-असंख्यात प्रदेशी लोक है। उसका आकार बतलाते हैं— नीचे मुख किये हुए आधे मृदंग के ऊपर पूरा मृदंग रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोक का है; परन्तु मृदंग गोल है और लोक चौकोर है, यह अन्तर है। अथवा पैर फैलाये, कमर पर हाथ रक्खे, खड़े हुए मनुष्य का जैसे आकार होता है, वैसा लोक का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषः। अथवा प्रसारितपादस्य कटितटन्यस्तहस्तस्य चोर्ध्वस्थितपुरुषस्य यादृशाकारो भवति तादृशः। इदानीं तस्यैवोत्सेधायामविस्ताराः कथ्यन्ते—चतुर्दशरज्जुप्रमाणोत्सेधस्तथैव दक्षिणोत्तरेण सर्वत्र सप्तरज्जुप्रमाणायामो भवति। पूर्वपश्चिमेन पुनरधोविभागे सप्तरज्जुविस्तारः। ततश्चाधोभागात् क्रमहानिरूपेण हीयते यावन्मध्यलोक एकरज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। ततो मध्यलोकादूर्ध्वं क्रमवृद्ध्या वर्द्धते यावद् ब्रह्मलोकान्ते रज्जुपञ्चकविस्तारो भवति। ततश्चोर्ध्वं पुनरपि हीयते यावल्लोकांते रज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। तस्यैव लोकस्य मध्य पुनरुदूखलस्य मध्याधोभागे छिद्रं कृते सति निक्षिप्तवंशनालिकेव चतुष्कोणा त्रसनाडी भवति। सा चैकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्जूत्सेधा विज्ञेया। तस्यास्त्वधोभागे सप्तरज्जवोऽधोलोकसंबन्धिन्यः। ऊर्ध्वभागे मध्यलोकोत्सेधसंबंधिलक्षयोजनप्रमाणमेरूत्सेधः सप्तरज्जव ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिन्यः।

अतः परमधोलोकः कथ्यते। अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमपृथिवी। तस्या अधोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमः संज्ञाः षड्भूमयो भवन्ति। तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरभृतं च तिष्ठति। रत्नप्रभादि-

---

आकार है। अब उसी लोक की ऊँचाई-लम्बाई-विस्तार का निरूपण करते हैं—चौदह रज्जु प्रमाण ऊँचा तथा दक्षिण उत्तर में सब जगह सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम में नीचे के भाग में सात राजू विस्तार है, फिर उस अधोभाग से, क्रम से इतना घटता है कि मध्यलोक (बीच) में एक रज्जु रह जाता है फिर मध्यलोक से ऊपर क्रम से बढ़ता है सो ब्रह्मलोक नामक पंचम स्वर्ग के अन्त में पाँच रज्जु का विस्तार है, उसके ऊपर फिर घटता हुआ लोक के अन्त में जाकर एक रज्जु प्रमाण विस्तारवाला रह जाता है। इसी लोक के मध्य में, ऊखल के मध्य भाग से नीचे की ओर छिद्र करके एक बांस की नली रक्खी जावे उसका जैसा आकार होता है उसके समान, एक चौकोर त्रसनाड़ी है, वह एक रज्जु लम्बी चौड़ी और चौदह रज्जु ऊँची जाननी चाहिये। उस त्रस नाड़ी के नीचे के भाग के जो सात रज्जु हैं वे अधोलोक सम्बन्धी हैं। ऊर्ध्व भाग में, मध्य लोक की ऊँचाई सम्बन्धी लक्ष-योजन-प्रमाण सुमेरु की ऊँचाई सहित सात रज्जु ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी हैं।

इसके आगे अधोलोक को कहते हैं—अधोभाग में सुमेरु की आधारभूत रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी है। उस रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे-नीचे एक-एक रज्जु प्रमाण आकाश जाकर क्रमशः शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महा तमःप्रभा नामक ६ भूमि हैं। उनके नीचे भूमिरहित एक रज्जुप्रमाण जो क्षेत्र है वह निगोद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथिवीनां प्रत्येकं घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञेयम् । कस्यां पृथिव्यां कति नरकबिलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति—तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ८४००००० । अथ रत्नप्रभादिपृथिवीनां क्रमेण पिण्डस्य प्रमाणं कथयति । पिण्डस्य कोऽर्थ ? मन्द्रत्वस्य बाहुल्यस्येति । अशीतिसहस्राधिकैकलक्षं तथैव द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिविंशतिषोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योजनानि ज्ञातव्यानि । तिर्यग्विस्तारस्तु चतुर्दिग्विभागे यद्यपि त्रसनाड्यपेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्तथापि त्रसरहितबहिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति । तथाचोक्तं "भुवामन्ते स्पृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदिक्षु च" । अत्र विस्तारेण तिर्यग्विस्तारपर्यन्तमन्द्रत्वेन मंदरावगाहयोजनसहस्रबाहुल्या मध्यलोके या चित्रा पृथिवी तिष्ठति तस्या अधोभागे षोडशसहस्रबाहुल्यः खरभागस्तिष्ठति । तस्मादप्यधश्चतुरशीतियोजनसहस्रबाहुल्यः पङ्कभागः तिष्ठति । ततोऽप्यधोभागे अशीतिसहस्रबाहुल्यो अब्बहुलभागस्तिष्ठतीत्येवं रत्नप्रभा पृथिवी त्रिभेदा ज्ञातव्या । तत्र खरभागेऽसुरकुलं विहाय नवप्रकारभवनवासिदेवानां

आदि पंच स्थावरों से भरा हुआ है । घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक जो तीन वातवलय हैं वे रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथिवी के आधारभूत हैं (रत्नप्रभा आदि पृथिवी इन तीनों वातवलयों के आधार से हैं), यह जानना चाहिये । किस पृथिवी में कितने (कुएं सरीखे) नरक-बिले हैं, उनको यथाक्रम से कहते हैं—पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दश लाख, पांचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख तथा सातवीं पृथिवी में पाँच, इस प्रकार सब मिलकर चौरासी लाख ८४००००० नरक-बिले हैं । अब रत्नप्रभा आदि भूमियों का पिंड प्रमाण क्रम से कहते हैं । यहाँ पिंड शब्द का अर्थ गहराई या मोटाई है । प्रथम पृथिवी का एक लाख अस्सी हजार, दूसरी का बत्तीस हजार, तीसरी का अट्ठाईस हजार, चौथी का चौबीस हजार, पाँचवीं का बीस हजार, छठी का सोलह हजार और सातवीं का आठ हजार योजन पिंड जानना चाहिये । उन पृथिवियों का तिर्यग् विस्तार चारों दिशाओं में यद्यपि त्रस नाड़ी की अपेक्षा से एक रज्जु प्रमाण है तथापि त्रसों से रहित जो त्रस नाड़ी के बाहर का भाग है वह लोक के अन्त तक है । सोही कहा है—"अन्त को स्पर्श करती हुई भूमियों का प्रमाण सब दिशाओं में लोकान्त प्रमाण है ।" अब यहां विस्तार की अपेक्षा तिर्यग् लोक पर्यंत विस्तार वाली, गहराई (मोटाई) की अपेक्षा मेरु की अवगाह समान एक हजार योजन मोटी चित्रा पृथिवी मध्य लोक में है । उस पृथिवी के नीचे सोलह हजार योजन मोटा खर भाग है । उस खर भाग के भी नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पङ्क भाग है । उससे भी नीचे के भाग में अस्सी हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग है । इस प्रकार रत्नप्रभा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथैव राक्षसकुलं विहाय सप्तप्रकारव्यन्तरदेवानां आवासा ज्ञातव्या इति । पङ्कभागे पुनरसुराणां राक्षसानां चेति । अब्बहुलभागे नारकास्तिष्ठन्ति ।

तत्र बहुभूमिकाप्रासादवदधोऽधः सर्वपृथिवीषु स्वकीयस्वकीयबाहुल्यात् सकाशादध उपरि चैकैकयोजनसहस्रं विहाय मध्यभागे भूमिक्रमेण पटलानि भवन्ति त्रयोदशैकादशनवसप्तपञ्चत्र्येकसंख्यानि, तान्येव सर्वसमुदायेन पुनरेकोनपञ्चाशत्प्रमितानि पटलानि । पटलानि कोऽर्थः ? प्रस्तारा इन्द्रका अंतर्भूमयः इति । तत्र रत्नप्रभायां सीमंतसंज्ञे प्रथमपटलविस्तारे नृलोकवत् यत्संख्येययोजनविस्तारवत् मध्यबिलं तस्येन्द्रकसंज्ञा । तस्यैव चतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पंक्तिरूपेणासंख्येययोजनविस्ताराण्येकोनपञ्चाशद्बिलानि । तथैव विदिक्चतुष्टये प्रतिदिशं पंक्तिरूपेण यान्यष्टचत्वारिंशद्बिलानि तान्यप्यसंख्यातयोजनविस्ताराणि । तेषामपि श्रेणीबद्धसंज्ञा । दिग्विदिगष्टकान्तरेषु पंक्तिरहितत्वेन पुष्पप्रकरवत्कानिचित्संख्येययोजनविस्ताराणि कानिचिदसंख्येययोजनविस्ताराणि यानि तिष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा । इतीन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा नरका भवन्ति । इत्यनेन क्रमेण

पृथिवी खर भाग, पङ्क भाग और अब्बहुल भाग भेदों से तीन प्रकार की जाननी चाहिए । उनमें ही खर भाग में असुरकुमार देवों के सिवाय नौ प्रकार के भवनवासी देवों के और राक्षसों के सिवाय सात प्रकार के व्यन्तर देवों के निवासस्थान हैं । पङ्क भाग में असुर तथा राक्षसों का निवास है । अब्बहुल भाग में नरक हैं ।

बहुत से खनों वाले महल के समान नीचे-नीचे सब पृथिवियों में अपनी-अपनी मोटाई में, नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़ कर, जो बीच का भाग है, उसमें पटल होते हैं । भूमि के क्रम से वे पटल पहली नरक पृथ्वी में तेरह, दूसरी में ग्यारह, तीसरी में नौ, चौथी में सात, पांचवी में पांच, छठी में तीन और सातवीं में एक, ऐसे सब ४९ पटल हैं । 'पटल' का क्या अर्थ है ? पटल का अर्थ प्रस्तार, इन्द्रक अथवा अन्तर भूमि है । रत्नप्रभा प्रथम पृथिवी के सीमन्त नामक पहले पटल में ढाई द्वीप के समान संख्यात (पैंतालीस लाख) योजन विस्तार वाला जो मध्य-बिल है, उसकी इंद्रक संज्ञा है । उस इंद्रक की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में असंख्यात योजन विस्तारवाले ४९ बिल हैं । और इसी प्रकार चारों विदिशाओं में से प्रत्येक विदिशा में पंक्ति रूप जो ४८-४८ बिल हैं, वे भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं । (इंद्रक-बिल की दिशा और विदिशाओं में जो पंक्तिरूप बिल हैं) उनकी 'श्रेणीबद्ध' संज्ञा है । चारों दिशा और विदिशाओं के बीच में, पंक्ति के बिना, बिखरे हुए पुष्पों के समान, संख्यात योजन तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले जो बिल हैं, उनकी 'प्रकीर्णक' संज्ञा है । ऐसे इन्द्रक,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमपटलव्याख्यानं विज्ञेयम्। तथैव पूर्वोक्तैकोनपञ्चाशत्पटलेष्वयमेव व्याख्यानक्रमः किन्त्वष्टकश्रेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत् सप्तमपृथिव्यां चतुर्दिग्भागेष्वेकं बिलं तिष्ठति।

रत्नप्रभादिनारकदेहोत्सेधः कथ्यते। प्रथमपटले हस्तत्रयं ततः क्रमवृद्धिवशात्त्रयोदशपटले सप्तचापानि हस्तत्रयमङ्गुलषटकं चेति। ततो द्वितीयपृथिव्यादिषु चरमेन्द्रकेषु द्विगुणद्विगुणे क्रियमाणे सप्तमपृथिव्यां चापशतपञ्चकं भवति। उपरितने नरके य उत्कृष्टोत्सेधः सोऽधस्तने नरके विशेषाधिको जघन्यो भवति, तथैव पटलेषु च ज्ञातव्यः। आयुःप्रमाणं कथ्यते। प्रथमपृथिव्यां प्रथमे पटले जघन्येन दशवर्षसहस्राणि तत आगमोक्तक्रमवृद्धिवशादन्तपटले सर्वोत्कर्षेणैकसागरोपमम्। ततः परं द्वितीयपृथिव्यादिषु क्रमेण त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममुत्कृष्टजीवितम्। यच्च प्रथमपृथिव्यामुत्कृष्टं तद्द्वितीयायां समयाधिकं जघन्यं, तथैव पटलेषु च। एवं सप्तमपृथिवीपर्यन्तं ज्ञातव्यम्। स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयविलक्षणैस्तीव्रमिथ्यात्वदर्शनज्ञानचारित्रैः परिणतानाम-

---

श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक रूप से तीन प्रकार के नरक हैं। इस प्रकार प्रथम पटल का व्याख्यान जानना चाहिये। इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों पृथिवियों में उनचास पटल हैं उनमें भी बिलों का ऐसा ही क्रम है; किन्तु प्रत्येक पटल में, आठों दिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक बिल घटता गया है, अतः सातवीं पृथ्वी में चारों दिशाओं में एक-एक बिल ही रह जाता है।

रत्नप्रभादि पृथिवियों के नारकियों के शरीर की ऊँचाई को कहते हैं—प्रथम पटल में तीन हाथ की ऊँचाई है और यहां से क्रम क्रम से बढ़ते हुए तेरहवें पटल में सात धनुष, तीन हाथ, ६ अंगुल की ऊँचाई है। तदनंतर दूसरी आदि पृथिवियों के अन्त के इंद्रक बिलों में दूनी-दूनी वृद्धि करने से सातवीं पृथिवी में पाँचसौ धनुष की ऊँचाई होती है। ऊपर के नरक में जो उत्कृष्ट ऊँचाई है उससे कुछ अधिक नीचे के नरक में जघन्य ऊँचाई है। इसी प्रकार पटलों में भी जानना चाहिये। नारकी जीवों की आयु का प्रमाण कहते हैं। प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल में जघन्य दस हजार वर्ष की आयु है; तत्पश्चात् आगम में कही हुई क्रमानुसार वृद्धि से अन्त के तेरहवें पटल में एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर क्रम से दूसरी पृथिवी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दस सागर, पाँचवीं में सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। जो पहली पृथिवी में उत्कृष्ट आयु है, वह समय अधिक दूसरी में जघन्य आयु है। इसी तरह जो पहले पटल में उत्कृष्ट आयु है सो दूसरे में समयाधिक जघन्य है। ऐसे ही सातवीं पृथिवी तक जानना चाहिये। निजशुद्ध-आत्मानुभव रूप निश्चय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञिपञ्चेन्द्रियसरटपक्षिसर्पसिंहस्त्रीणां क्रमेण रत्नप्रभादिषु षट् पृथिवीषु गमनशक्तिरस्ति सप्तम्यां तु कर्मभूमिजमनुष्याणां मत्स्यानामेव । किञ्च—यदि कोऽपि निरन्तरं नरके गच्छति तदा पृथिवीक्रमेणाष्टसप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यवारानेव । किन्तु सप्तमनरकादागताः पुनरप्येकवारं तत्रान्यत्र वा नरके गच्छन्तीति नियमः । नरकादागता जीवा बलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवचक्रवर्तिसंज्ञाः शलाकापुरुषाः न भवन्ति । चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमनरकेभ्यः समागताः क्रमेण तीर्थकरचरमदेहभावसंयतश्रावका न भवन्ति । तर्हि किं भवन्ति ? "णिरयादो णिस्सरिदो णरतिरिए कम्ममणिणपज्जत्ते । गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमणिरयादु तिरिएव । १ ।"

इदानीं नारकदुःखानि कथ्यन्ते । तद्यथा—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानभावनोत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरहितैः पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिजीवैर्यदुपार्जितं नरकायुर्नरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके समुत्पद्य पृथिवीचतुष्टये तीव्रोष्णदुःखं,

---

रत्नत्रय से विलक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र हैं, उनसे परिणत असंज्ञी पंचेन्द्रिय, सरट (गोह आदि), पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री की क्रम से रत्नप्रभादि छः पृथिवियों तक जाने की शक्ति है (असैनी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमि तक, सरट (गोह) दूसरी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पाँचवीं तक तथा स्त्री का जीव छठी भूमि तक जा सकता है), और सातवीं पृथिवी में कर्मभूमि के उत्पन्न हुए मनुष्य और मगरमच्छ ही जा सकते हैं। विशेष—यदि कोई जीव निरन्तर नरक में जाता है तो प्रथम पृथिवी में आठ बार, दूसरी में सात बार, तीसरी में छः बार, चौथी में पाँच बार, पाँचवी में चार बार, छठी में तीन बार और सातवीं में दो बार ही जा सकता है। किंतु सातवें नरक से आये हुए जीव फिर भी एक बार उसी या अन्य किसी नरक में जाते हैं, ऐसा नियम है । नरक से आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नामक शलाका पुरुष नहीं होते॥ चौथे नरक के आये हुये तीर्थङ्कर, पाँचवें से आये हुये चरम शरीरी, छठे से आये हुये भावलिंगी मुनि और सातवें से आये हुए श्रावक नहीं होते। तो क्या होते हैं? "नरक से आये हुए जीव, कर्मभूमि में संज्ञी, पर्याप्त तथा गर्भज मनुष्य या तिर्यंच होते हैं। सातवें नरक से आये हुये तिर्यंच ही होते हैं। १। "

अब नारकियों के दुःखों का कथन करते हैं। यथा—विशुद्धज्ञान, दर्शनस्वभाव निज शुद्ध परमात्म तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान–आचरण की भावना से समुत्पन्न निर्विकार–परम–आनन्दमय सुखरूपी अमृत के आस्वाद से रहित और पाँच इन्द्रियों के विषय सुखास्वाद में लम्पट, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों ने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि पापकर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चम्यां पुनरुपरितन – त्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधोभागे तीव्र–शीत–दुःखं, षष्ठीसप्तम्योरतिशीतोत्पन्नदुःखमनुभवन्ति । तथैव छेदनभेदनक्रकचविदारणयंत्र-पीडनशूलारोहणादितीव्रदुःखं सहंते तथाचोक्तं—"अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुःखमेव अणुबद्धं । णिरये णेरयियाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं । १ ।" प्रथमपृथिवीत्रयपर्यंतमासुरोदीरितं चेति । एवं ज्ञात्वा, नारकदुःखविनाशार्थं भेदाभेदरत्नत्रयभावना कर्तव्या । संक्षेपेणाधोलोकव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।

अतः परं तिर्यक्लोकः कथ्यते—जम्बूद्वीपादिशुभनामानो द्वीपाः लवणोदादिशुभनामानः समुद्राश्च द्विगुणद्विगुणविस्तारेण पूर्वं पूर्वं परिवेष्ट्य वृत्ताकाराः स्वयम्भूरमणपर्यन्तास्तिर्यग्विस्तारेण विस्तीर्णास्तिष्ठन्ति यतस्तेन कारणेन तिर्यग्लोको भण्यते, मध्यलोकाश्च । तद्यथा—तेषु सार्द्धतृतीयोद्धारसागरोपमलोमच्छेद-प्रमितेष्वसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु मध्ये जम्बूद्वीपस्तिष्ठति । स च जम्बूवृक्षोपलक्षितो मध्यभागस्थितमेरुपर्वतसहितो वृत्ताकारलक्षयोजनप्रमाणस्तद्द्विगुणविष्कम्भेण यो-

---

उपार्जन किया है, उसके उदय से वे नरक में उत्पन्न होते हैं। वहां पहले की चार पृथिवियों में तीव्र गर्मी का दुःख और पाँचवीं पृथिवी के ऊपरी तीन चौथाई भाग में तीव्र उष्णता का दुख और नीचे के एक चौथाई भाग में तीव्र शीत का दुःख तथा छठी और सातवीं पृथिवी में अत्यन्त शीत के दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार छेदने, भेदने, करोती से चीरने, घानी में पेरने और शूली पर चढ़ाने आदिरूप तीव्र दुःख सहन करते हैं। सो ही कहा है कि 'नरक में रात–दिन दुख–रूप अग्नि में पकते हुए नारकी जीवों को नेत्रों के टिमकार मात्र भी सुख नहीं है, किन्तु सदा दुःख ही लगा रहता है। १ ।' पहली तीन पृथिवियों तक, असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःख को भी सहते हैं। ऐसा जान कर, नरक–सम्बन्धी दुःख के नाश के लिये भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार संक्षेप से अधोलोक का व्याख्यान जानना चाहिये।

इसके अनन्तर तिर्यग् लोक का वर्णन करते हैं। अपने दूने–दूने विस्तार से पूर्व–पूर्व द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप इस क्रम से बेढ़ करके, गोल आकार वाले जंबू द्वीप आदि शुभ नामों वाले द्वीप और लवणोदधि आदि शुभ नामों वाले समुद्र; स्वयंभूरमण समुद्र तक तिर्यग् विस्तार से फैले हुए हैं। इस कारण इसको तिर्यग् लोक या मध्य लोक भी कहते हैं। वह इस प्रकार है—साढ़े तीन उद्धार सागर प्रमाण लोमों (बालों) के टुकड़ों के बराबर जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं; उनके बीच में जंबू द्वीप है; वह जंबू (जामन) के वृक्ष से चिन्हित तथा मध्य भाग में स्थित सुमेरु पर्वत से सहित है; गोलाकार एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है। बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले दो लाख योजन प्रमाण गोलाकार लवण समुद्र से वेष्टित (बेढ़ा हुआ) है। वह लवण–समुद्र भी बाह्य भाग में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे लवणसमुद्रेण वेष्टितः । सोऽपि लवणसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षचतुष्टयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे धातकीखण्डद्वीपेन वेष्टितः । सोऽपि धातकीखण्डद्वीपस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनाष्टलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे कालोदकसमुद्रेण वेष्टितः । सोऽपि कालोदकसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण षोडशयोजनलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे पुष्करद्वीपेन वेष्टितः । इत्यादिद्विगुणद्विगुणविष्कम्भः स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तो ज्ञातव्यः । यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविष्कम्भद्वयसमुदायाद्योजनलक्षत्रयप्रमितात्सकाशाद्धातकीखण्ड एकलक्षेणाधिकस्तथैवासंख्येयद्वीपसमुद्रविष्कम्भेभ्यः स्वयम्भूरमणसमुद्रविष्कम्भ एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्यः । एवमुक्तलक्षणेष्वसंख्येयद्वीपसमुद्रेषु व्यन्तरदेवानां पर्वताद्युपरिगता आवासाः, अधोभूभागगतानि भवनानि तथैव द्वीपसमुद्रादिगतानि पुराणि च, परमागमोक्तभिन्नलक्षणानि । तथैव खरभागपङ्कभागस्थितप्रतरासंख्येयभागप्रमाणासंख्येयव्यन्तरदेवावासाः, तथैव द्वासप्ततिलक्षाधिककोटिसप्तप्रमितभवनवासिदेवसंबन्धिभवनानि अकृत्रिमजिनचैत्यालयसहितानि भवन्ति । एवमतिसंक्षेपेण तिर्यग्लोको व्याख्यातः ।

अथ तिर्यग्लोकमध्यस्थितो मनुष्यलोको व्याख्यायते—तन्मध्यस्थित-

अपने से दूने विस्तार वाले चार लाख योजन प्रमाण गोलाकार धातकी खण्ड द्वीप से वेष्टित है । वह धातकी खण्ड द्वीप भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले आठ लाख योजन प्रमाण गोलाकार कालोदक समुद्र से वेष्टित है । वह कालोदक समुद्र भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले सोलह लाख योजन प्रमाण गोलाकार पुष्कर द्वीप से वेष्टित है । इस प्रकार यह दूना २ विस्तार स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण समुद्र तक जानना चाहिये । जैसे जंबू द्वीप एक लाख योजन और लवण समुद्र दो लाख योजन चौड़ा है, इन दोनों का समुदाय तीन लाख योजन है; उससे एक लाख योजन अधिक अर्थात् चार लाख योजन धातकी खण्ड है । इसी प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रों का जो विष्कंभ है उससे एक लाख योजन अधिक स्वयंभूरमण समुद्र का विष्कम्भ जानना चाहिये । ऐसे पूर्वोक्त लक्षण के धारक असंख्यात द्वीप समुद्रों में पर्वत आदि के ऊपर व्यन्तर देवों के आवास; नीचे की पृथिवी के भाग में भवन, और द्वीप तथा समुद्र आदि में पुर हैं । इन आवास; भवन तथा पुरों के परमागमानुसार ये भिन्न-भिन्न लक्षण हैं । इसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि के खर भाग और पङ्क भाग में स्थित प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण व्यंतर देवों के आवास (भवन) तथा सात करोड़ बहत्तर लाख भवनवासी देवों के भवन अकृत्रिम चैत्यालयों सहित हैं । इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से मध्यलोक का व्याख्यान किया ।

अब तिर्यग् लोक के बीच में स्थित मनुष्य लोक का व्याख्यान करते हैं । उस मनुष्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि भण्यन्ते । दक्षिणदिग्विभागादारभ्य भरतहैमवतहरिविदेह-रम्यकहैरण्यवतैरावतसंज्ञानि सप्तक्षेत्राणि भवन्ति । क्षेत्राणि कोऽर्थः ? वर्षा वंशा-देशा जनपदा इत्यर्थः । तेषां क्षेत्राणां विभागकारकाः षट् कुलपर्वताः कथ्यन्ते— दक्षिणदिग्भागमादीकृत्य हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिसंज्ञा भरतादि-सप्तक्षेत्राणामन्तरेषु पूर्वापरायताः षट् कुलपर्वताः भवन्ति । पर्वता इति कोऽर्थः । वर्षधरपर्वताः सीमापर्वता इत्यर्थः । तेषां पर्वतानामुपरि क्रमेण ह्रदा कथ्यन्ते । पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकसंज्ञा अकृत्रिमा षट् ह्रदा भवन्ति । ह्रदा इति कोऽर्थः ? सरोवराणीत्यर्थः । तेभ्यः पद्मादिषड्ह्रदेभ्यः सकाशादागम-कथितक्रमेण निर्गता याश्चतुर्दशमहानद्यस्ताः कथ्यन्ते । तथाहि—हिमवत्पर्वतस्थ-पद्मनाममहाह्रदादर्धक्रोशावगाहक्रोशाधिकषट्योजन[1] प्रमाणविस्तारपूर्वतोरणद्वारेण निर्गत्य तत्पर्वतस्यैवोपरि पूर्वदिग्विभागेन योजनशतपञ्चकम् गच्छति ततो गङ्गा-कूटसमीपे दक्षिणेन व्यावृत्य भूमिस्थकुण्डे पतति तस्माद् दक्षिणद्वारेण निर्गत्य भरतक्षेत्रमध्यभागस्थितस्य दीर्घत्वेन पूर्वापरसमुद्रस्पर्शिनो विजयार्द्धस्य गुहाद्वारेण

लोक के बीच में स्थित जम्बू द्वीप में सात क्षेत्र हैं । दक्षिण दिशा से आरम्भ होकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामक सात क्षेत्र हैं । क्षेत्र का क्या अर्थ है ? यहां क्षेत्र शब्द से वर्ष; वंश; देश अथवा जनपद अर्थ का ग्रहण है । उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचल हैं । दक्षिण दिशा की ओर से उनके नाम हिमवत् १; महाहिमवत् २; निषध ३; नील ४; रुक्मी ५ और शिखरी ६ हैं । पूर्व–पश्चिम लम्बे ये पर्वत उन भरत आदि सप्त क्षेत्रों के बीच में हैं । पर्वत का क्या अर्थ है ? पर्वत का अर्थ वर्षधर पर्वत अथवा सीमा पर्वत है । उन पर्वतों के ऊपर ह्रदों का क्रम से कथन करते हैं । पद्म १, महापद्म २, तिगिंछ ३, केसरी ४, महापुंडरीक ५ और पुंडरीक ६ ये अकृत्रिम छः ह्रद हैं । ह्रद का क्या अर्थ है ? ह्रद का अर्थ सरोवर है । उन पद्म आदि ६ ह्रदों से आगम में कहे क्रमानुसार जो चौदह महा नदियाँ निकली हैं उनका वर्णन करते है । तथा—हिमवत् पर्वत पर स्थित पद्म नामक महा ह्रद के पूर्व तोरण द्वार से, अर्ध कोस प्रमाण गहरी और एक कोस अधिक छः योजन प्रमाण चौड़ी गङ्गा नदी निकलकर, उसी हिमवत् पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा में पांच सौ योजन तक जाती है; फिर वहाँ से गङ्गाकूट के पास दक्षिण दिशा को मुड़कर, भूमि में स्थित कुण्ड में गिरती है, वहाँ से दक्षिण द्वार से निकलकर, भरत क्षेत्र के मध्य भाग में स्थित तथा अपनी लम्बाई से पूर्व पश्चिम समुद्र को छूने वाले विजयार्द्ध पर्वत की गुफा के द्वार से निकलकर, आर्यखंड के अर्ध भाग में पूर्व को घूमकर पहली गहराई की अपेक्षा दशगुणी अर्थात् ५ कोस गहरी और इसी प्रकार पहली चौड़ाई

१ 'क्रोशार्धाधिक षट योजन' इति पाठान्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्गत्य, तत आर्यखण्डार्द्धभागे पूर्वेण व्यावृत्य प्रथमावगाहापेक्षया दशगुणेन गव्यूतिपञ्चकावगाहेन तथैव प्रथमविष्कम्भापेक्षया दशगुणेन योजनार्द्धसहितद्विषष्टियोजनप्रमाणविस्तारेण च पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा गङ्गा । तथा गङ्गावत्सिन्धुरपि तस्मादेव हिमवत्पर्वतस्थपद्महृदात्पर्वतस्यैवोपरि पश्चिमद्वारेण निर्गत्य पश्चाद्दक्षिणदिग्विभागेनागत्य विजयार्द्धगुहाद्वारेण निर्गत्यार्यखण्डार्द्धभागे पश्चिमेन व्यावृत्य पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टेति । एवं दक्षिणादिग्विभागसमागतगङ्गासिन्धुभ्यां पूर्वापरायतेन विजयार्द्धपर्वतेन च षट्खण्डीकृतं भरतक्षेत्रम् ।

अथ महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्महृदाद्दक्षिणदिग्विभागेन हैमवतक्षेत्रमध्ये समागत्य तत्रस्थनाभिगिरिपर्वतं योजनार्द्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धे प्रदक्षिणं कृत्वा रोहित्पूर्वसमुद्रम् गता । तथैव हिमवत्पर्वतस्थितपद्महृदादुत्तरेणागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्द्धं प्रदक्षिणं कृत्वा रोहितास्या पश्चिमसमुद्रं गता । इति रोहिद्रोहितास्यासंज्ञं नदीद्वन्द्वं हैमवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम् । अथ निषधपर्वतस्थतिगिञ्छनामह्रदाद्दक्षिणेनागत्य नाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृ-

---

से दशगुणी अर्थात् साढ़े बासठ योजन चौड़ी गङ्गा नदी पूर्व समुद्र में प्रवेश करती है। इस गङ्गा की भांति सिंधु नामक महानदी भी उसी हिमवत् पर्वत पर विद्यमान पद्म ह्रद के पश्चिम द्वार से निकलकर पर्वत पर ही गमन करके फिर दक्षिण दिशा को आकर विजयार्द्ध की गुफा के द्वार से निकलकर, आर्यखंड के अर्धभाग में पश्चिम को मुड़कर पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। इस प्रकार दक्षिण दिशा को आई हुई गंगा और सिंधु दो नदियों से और पूर्व-पश्चिम लम्बे विजयार्द्ध पर्वत से भरत क्षेत्र छः खंड वाला किया गया अर्थात् भरत के छः खंड हो जाते हैं।

महा हिमवत् पर्वत पर स्थित महा पद्म नामक ह्रद के दक्षिण दिशा की ओर से हैमवत् क्षेत्र के मध्य में आकर, वहाँ पर स्थित नाभिगिरि पर्वत को आधा योजन से न छूती हुई (पर्वत से आधा योजन दूर रहकर), उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करती हुई रोहितनामा नदी पूर्व समुद्र को गई है। इसी प्रकार रोहितास्या नदी हिमवत् पर्वत के पद्म ह्रद से उत्तर को आकर, उसी नाभिगिरि से आधा योजन दूर रहती हुई, उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पश्चिम समुद्र में गई है। ऐसे रोहित और रोहितास्या नामक दो नदियाँ हैमवत नामक जघन्य भोग भूमि के क्षेत्र में जाननी चाहिएँ। हरित नदी निषध पर्वत के तिगिंछ ह्रद से दक्षिण को आकर नाभिगिरि पर्वत से आधे योजन दूर रहकर उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पूर्व समुद्र में गई है। इसी तरह हरिकान्ता नदी महा हिम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरित्पूर्वसमुद्रम् गता । तथैव महाहिमवत्पर्वतस्थ-महापद्मनामह्रदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यै-वार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरिकान्तानामनदी पश्चिमसमुद्रम् गता । इति हरिद्धरिकांतासंज्ञं नदीद्वयं हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे विज्ञेयम् । अथ नीलपर्वतस्थितकेसरिनाम-ह्रदादक्षिणेनागत्योत्तरकुरुसंज्ञोत्कृष्टभोगभूमिक्षेत्रे मध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्त-पर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पूर्वभद्रशालवनस्य मध्येन पूर्वविदेहस्य च मध्येन शीतानामनदी पूर्वसमुद्रं गता । तथैव निषधपर्वतस्थित-तिगिञ्छह्रदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य देवकुरुसंज्ञोत्तमभोगभूमिक्षेत्रमध्येन गत्वा मेरुस-मीपे गजदन्तपर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पश्चिमभद्रशा-लवनस्य मध्येन पश्चिमविदेहस्य च मध्येन शीतोदा पश्चिमसमुद्रं गता । एवं शीताशीतोदासंज्ञं नदीद्वयं विदेहाभिधाने कर्मभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम् । यत्पूर्वं गङ्गा-सिन्धुनदीद्वयस्य विस्तारावगाहप्रमाणं भणितं तदेव क्षेत्रे क्षेत्रे नदीयुगलं प्रति विदेहपर्यन्तं द्विगुणं द्विगुणं ज्ञातव्यम् । अथ गङ्गा चतुर्दशसहस्रपरिवारनदीसहिता, सिन्धुरपि तथा, तद्द्विगुणसंख्यानं रोहिद्रोहितास्याद्वयम्, ततोऽपि द्विगुणसंख्यानं हरिद्धरिकान्ताद्वयम्, तद्द्विगुणं शीताशीतोदाद्वयमिति । तथा षड्विंशत्यधिकयोज-

---

वत् पर्वत के महा पद्म ह्रद से उत्तर दिशा की ओर आकर, उसी नाभिगिरि को आधे योजन तक न स्पर्शती हुई अर्ध प्रदक्षिणा देकर, पश्चिम समुद्र में गई है। ऐसे हरित् और हरिकान्ता नामक दो नदियाँ हरि नामक मध्य-भोग-भूमि क्षेत्र में हैं। शीता नदी नील पर्वत के केसरी ह्रद से दक्षिण को आकर, उत्तरकुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमि क्षेत्र के बीच में हो कर, मेरु के पास आकर, गजदन्त पर्वत को भेदकर और मेरु की प्रदक्षिणा से आधे योजन तक दूर रह कर, पूर्व भद्रशालवन और पूर्व विदेह के मध्य में होकर, पूर्व समुद्र को गई है। इसी प्रकार शीतोदा नदी निषधपर्वत के तिगिंछह्रद से उत्तर को आकर, देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि क्षेत्र के बीच में से जाकर, मेरु के पास गजदन्त पर्वत को भेद कर और मेरु की प्रदक्षिणा से आधे योजन दूर रह कर, पश्चिम भद्रशालवन के और पश्चिम विदेह के मध्य में गमन करके, पश्चिम समुद्र को गई है। ऐसे शीता और शीतोदा नामक नदियों का युगल विदेह नामक कर्मभूमि के क्षेत्र में जानना चाहिये। जो विस्तार और अवगाह का प्रमाण पहले गंगा–सिंधु नदियों का कहा है, उससे दूना दूना विस्तार आदि, प्रत्येक क्षेत्र में, नदियों के युगलों का विदेह तक जानना चाहिये। गङ्गा चौदह हजार परिवार की नदियों सहित है। इसी प्रकार सिंधु भी चौदह हजार नदियों की धारक है। इनसे दूनी परिवार नदियों की धारक रोहित व रोहितास्या है। हरित-हरिकान्ता का इससे भी दूना परिवार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नशतपञ्चकमेकोनविंशतिभागी-कृतैकयोजनस्य भागषट्कं च यद्दक्षिणोत्तरेण कर्मभूमिसंज्ञभरतक्षेत्रस्य विष्कम्भप्रमाणं, तद्द्विगुणं हिमवत्पर्वते, तस्माद्द्विगुणं हैमवतक्षेत्रे, इत्यादि द्विगुणं द्विगुणं विदेहपर्यन्तं ज्ञातव्यम् । तथा पद्महृदो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो दशयोजनावगाहो योजनैकप्रमाणपद्मविष्कम्भस्तस्मान्महापद्मे द्विगुणस्तस्मादपि तिगिंछे द्विगुण इति ।

अथ यथा भरते हिमवत्पर्वतान्निर्गतं गङ्गासिन्धुद्वयं, तथोत्तरे कर्मभूमिसंज्ञैरावतक्षेत्रे शिखरिपर्वतान्निर्गतं रक्तारक्तोदानदीद्वयम् । यथा च हैमवतसंज्ञे जघन्यभोगभूमिक्षेत्रे महाहिमवद्धिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं रोहितरोहितास्यानदीद्वयं, तथोत्तरे हैरण्यवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे शिखरिरुक्मिसंज्ञपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं सुवर्णकूलारूप्यकूलानदीद्वयम् । तथैव यथा हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे निषधमहाहिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं हरिद्धरिकान्तानदीद्वयं, तथोत्तरे रम्यकसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे रुक्मिनीलनामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं नारीनरकान्तानदीद्वयमिति विज्ञेयम् । सुषमसुषमादिषट्कालसंबंधिपरमागमोक्तायुरुत्सेधादिसहिता दशसागरोपमकोटिप्रमितावसर्पिणी तथोत्सर्पिणी च यथा भरते

शीता-शीतोदा दोनों नदियों का इनसे भी दूना परिवार है। दक्षिण से उत्तर को पाँच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग प्रमाण कर्मभूमि भरत क्षेत्र का विष्कम्भ है। उससे दूना हिमवत्पर्वत का, हिमवत् पर्वत से दूना हैमवत क्षेत्र का, ऐसे दूना-दूना विष्कम्भ विदेह क्षेत्र तक जानना चाहिये। पद्मह्रद एक हजार योजन लम्बा, उस से आधा (पाँच सौ योजन) चौड़ा और दश योजन गहरा है, उसमें एक योजन का कमल है, उससे दूना महापद्म ह्रद में और उससे दूना तिगिंछ ह्रद में जानना।

जैसे भरत क्षेत्र में हिमवत् पर्वत से गङ्गा तथा सिंधु ये दो नदियें निकलती हैं वैसे ही उत्तर दिशा में कर्मभूमि संज्ञक ऐरावत क्षेत्र में शिखरी पर्वत से निकली हुई रक्ता तथा रक्तोदा नामक दो नदियें हैं। जैसे हैमवत नामक जघन्य भोगभूमि क्षेत्र में महाहिमवत् और हिमवत् नामक दो पर्वतों से क्रमशः निकली हुई रोहित तथा रोहितास्या, ये दो नदियाँ हैं, इसी प्रकार उत्तर में हैरण्यवत नामक जघन्य भोगभूमि में, शिखरी और रुक्मी नामक पर्वतों से क्रमशः निकली हुई सुवर्णकूला तथा रूप्यकूला, ये दो नदियाँ हैं। जिस तरह हरि नामक मध्यम भोगभूमि में, निषध और महाहिमवन पर्वतों से क्रमशः निकली हुई हरित-हरिकान्ता, ये दो नदियाँ हैं, उसी तरह उत्तर में रम्यक नामक मध्यम भोगभूमि-क्षेत्र में रुक्मी और नील संज्ञक दो पर्वतों से क्रमशः निकली हुई नारी-नरकान्ता दो नदियां जाननी चाहियें। सुषमसुषमा आदि छहों कालों सम्बन्धी आयु तथा शरीर की ऊंचाई आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्त्तते तथैरावते च । अयन्तु विशेषः, भरतैरावतम्लेच्छखण्डेषु विजयार्धनगेषु च चतुर्थकालसमयाद्यन्ततुल्यकालोऽस्ति नापरः । किं बहुना, यथा खट्वाया एकभागे ज्ञाते द्वितीयभागस्तथैव ज्ञायते तथैव जम्बूद्वीपस्य क्षेत्रपर्वतनदीह्रदादीनां यदेव दक्षिणविभागे व्याख्यानं तदुत्तरेऽपि विज्ञेयम् ।

अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्वरागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शनसुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिताः सन्तो मुनयः प्राचुर्येण यत्र मोक्षं गच्छन्ति स विदेहो भण्यते । तस्य जम्बूद्वीपस्य मध्यवर्त्तिनः किमपि विवरणं क्रियते । तद्यथा—नवनवतिसहस्रयोजनोत्सेध एकसहस्रावगाह आदौ भूमितले दशयोजनसहस्रवृत्तविस्तार उपर्युपरि पुनरेकादशांशहानिक्रमेण हीयमानत्वे सति मस्तके योजनसहस्रविस्तार आगमोक्ताकृत्रिमचैत्यालयदेववनदेवावासाद्यागमकथितानेकाश्चर्यसहितो विदेहक्षेत्रमध्ये महामेरुर्नाम पर्वतोस्ति । स च गजो जातस्तस्मान्मेरुगजात्सकाशादुत्तरमुखे दन्तद्वयाकारेण यन्निर्गतं पर्वतद्वयं तस्य गजदन्तद्वयसंज्ञेति, तथोत्तरे भागे नील-

---

परमागम में कही गई है, उन सहित, दशकोटाकोटि सागर प्रमाण, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल भरत जैसे ही ऐरावत् में भी होते हैं । इतना विशेष है, भरत ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्ध पर्वत में चतुर्थ काल की आदि तथा अन्त के समान काल वर्तता है, अन्य काल नहीं वर्तता । विशेष क्या कहें, जैसे खाट का एक भाग जान लेने पर उसका दूसरा भाग भी उसी प्रकार समझ लिया जाता है; उसी तरह जम्बूद्वीप के क्षेत्र, नदी, पर्वत और ह्रद आदि का जो दक्षिण दिशा सम्बन्धी व्याख्यान है वही उत्तर दिशा सम्बन्धी जानना चाहिये ।

अब शरीर में ममत्व के कारणभूत मिथ्यात्व तथा राग आदि विभावों से रहित और केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों से सहित निज परमात्म द्रव्य में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भावना करके, मुनिजन जहां से विगतदेह अर्थात् देहरहित होकर अधिकता से मोक्ष प्राप्त करते हैं उसको विदेह कहते हैं । जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित विदेह क्षेत्र का कुछ वर्णन करते हैं । निन्यानवें हजार योजन ऊंचा, एक हजार योजन गहरा और आदि में भूमितल पर दस हजार योजन गोल विस्तार वाला तथा ऊपर ऊपर ग्यारहवें भाग हानि क्रम से घटते घटते शिखर पर एक हजार योजन विस्तार का धारक और शास्त्र में कहे हुए अकृत्रिम चैत्यालय, देववन तथा देवों के आवास आदि नाना प्रकार के आश्चर्यों सहित ऐसा महामेरुनामक पर्वत विदेह क्षेत्र के मध्य में है, वही मानों गज (हाथी) हुआ, उस मेरुरूप गज से उत्तर दिशा में दो दन्तों के आकार से जो दो पर्वत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्वते लग्नं तिष्ठति । तयोर्मध्ये यत्त्रिकोणाकारक्षेत्रमुत्तमभोगभूमिरूपं तस्योत्तरकुरुसंज्ञा । तस्य च मध्ये मेरोरीशानदिग्विभागे शीतानीलपर्वततयोर्मध्ये परमागमवर्णितानाद्यकृत्रिमपार्थिवो जम्बूवृक्षस्तिष्ठति । तस्या एव शीताया उभयतटे यमकगिरिसंज्ञं पर्वतद्वयं विज्ञेयम् । तस्मात्पर्वतद्वयाद्दक्षिणभागे कियन्तमध्वानं गत्वा शीतानदीमध्ये अन्तरान्तरेण पद्मादिह्रदपञ्चकमस्ति । तेषां ह्रदानामुभयपार्श्वयोः प्रत्येकं सुवर्णरत्नमयजिनगृहमण्डिता लोकानुयोगव्याख्यानेन दश दश सुवर्णपर्वता भवन्ति । तथैव निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकोत्तमपात्रपरमभक्तिदत्ताहारदानफलेनोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादविलक्षणस्य चक्रवर्त्तिभोगसुखादप्यधिकस्य विविधपञ्चेन्द्रियभोगसुखस्य प्रदायका ज्योतिर्गृहप्रदीपतूर्यभोजनवस्त्रमाल्यभाजनभूषणरागमदोत्पादकरसांगसंज्ञा दशप्रकारकल्पवृक्षाः भोगभूमिक्षेत्रं व्याप्य तिष्ठन्तीत्यादिपरमागमोक्तप्रकारेणानेकाश्चर्याणि ज्ञातव्यानि । तस्मादेव मेरुगजाद्दक्षिणदिग्विभागेन गजदन्तद्वयमध्ये देवकुरुसंज्ञमुत्तमभोगभूमिक्षेत्रमुत्तरकुरुवद्विज्ञेयम् ।

निकले हैं, उनका नाम 'दो-गजदन्त' है और वे दोनों उत्तर भाग में जो नील पर्वत है उसमें लगे हुए हैं । उन दोनों गजदन्तों के मध्य में जो त्रिकोण आकारवाला उत्तम भोगभूमिरूप क्षेत्र है, उसका नाम 'उत्तरकुरु' है और उसके मध्य में मेरु की ईशान दिशा में शीता नदी और नील पर्वत के बीच में परमागम–कथित अनादि–अकृत्रिम तथा पृथ्वीकायिक जम्बू वृक्ष है । उसी शीता नदी के दोनों किनारों पर यमकगिरि नामक दो पर्वत जानने चाहियें । उन दोनों यमकगिरि पर्वतों से दक्षिण दिशा में कुछ मार्ग चलने पर शीता नदी के बीच में कुछ–कुछ अन्तराल से पद्म आदि पांच ह्रद हैं । उन ह्रदों के दोनों पसवाड़ों में से प्रत्येक पार्श्व में, लोकानुयोग के व्याख्यान के अनुसार, सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित जिनचैत्यालयों से भूषित दश दश सुवर्ण पर्वत हैं । इसी प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रय की आराधना करने वाले उत्तम पात्रों को परम भक्ति से दिये हुए आहार–दान के फल से उत्पन्न हुए तिर्यंच और मनुष्यों को, निज शुद्ध आत्म–भावना से उत्पन्न होनेवाला निर्विकार सदा आनन्दरूप सुखामृत रस के आस्वाद से विलक्षण और चक्रवर्ती के भोग–सुखों से भी अधिक, नाना प्रकार के पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोग–सुखों के देनेवाले ज्योतिरङ्ग, गृहाङ्ग, दीपाङ्ग, तूर्याङ्ग, भोजनाङ्ग, वस्त्राङ्ग, माल्याङ्ग, भाजनाङ्ग, भूषणाङ्ग तथा राग एवं मद को उत्पन्न करने वाले रसाङ्ग नामक, ऐसे दस प्रकार के कल्पवृक्ष भोगभूमिया क्षेत्र में स्थित हैं । इत्यादि परमागमकथित प्रकार से अनेक आश्चर्य समझने चाहियें । उसी मेरुगज से निकले हुए दक्षिण दिशा में जो 'दो–गजदन्त' हैं उनके मध्य में उत्तर कुरु के समान देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि का क्षेत्र जानना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्मादेव मेरुपर्वतात्पूर्वस्यां दिशि पूर्वापरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं सवेदिकं भद्रशालवनमस्ति । तस्मात्पूर्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्वविदेहोऽस्ति । तत्र नीलकुलपर्वताद्दक्षिणभागे शीतानद्या उत्तरभागे मेरोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः कथ्यते । तथाहि—मेरोः पूर्वदिशाभागे या पूर्वभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पूर्वदिग्भागे प्रथमं क्षेत्रं भवति, तदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो वक्षारनामा पर्वतो भवति, तदनन्तरं क्षेत्रं तिष्ठति, ततोऽप्यनन्तरं विभङ्गा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, तस्मादपि वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं, ततोऽपि विभङ्गा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततः परं वक्षारपर्वतोऽस्ति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पूर्वसमुद्रसमीपे यद्देवारण्यं तस्य वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते कच्छा १ सुकच्छा २ महाकच्छा ३ कच्छावती ४ आवर्त्ता ५ लाङ्गलावर्त्ता ६ पुष्कला ७ पुष्कलावती ८ चेति । इदानीं क्षेत्रमध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते । क्षेमा १ क्षेमपुरी २ रिष्टा ३ रिष्टपुरी ४ खड्गा ५ मञ्जूषा ६ औषधी ७ पुण्डरीकिणी ८ चेति ।

अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणविभागे निषधपर्वतादुत्तरविभागे यान्यष्टक्षेत्राणि

उसी मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में, पूर्व-पश्चिम बाईस हजार योजन विस्तार वाला वेदी सहित भद्रशाल वन है । उससे पूर्व दिशा में कर्मभूमि नामक पूर्वविदेह है । वहाँ नील नामक कुलाचल से दक्षिण दिशा में और शीता नदी के उत्तर में मेरु की प्रदक्षिणा रूप से जो क्षेत्र हैं, उनके विभागों को कहते हैं । वह इस प्रकार है—मेरु से पूर्व दिशा में जो पूर्वभद्रशाल वन की वेदिका है, उससे पूर्व दिशा में प्रथम क्षेत्र है, उसके पश्चात् दक्षिण-उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, उसके बाद क्षेत्र है, उसके आगे विभङ्गा नदी है, उसके आगे क्षेत्र है, उसके अनन्तर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर विभङ्गा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभङ्गा नदी है और फिर क्षेत्र है, उससे आगे फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, तदनन्तर पूर्व समुद्र के पास जो देवारण्य नामक वन है, उसकी वेदिका है । ऐसे नौ भित्तियों (दीवारों) से आठ क्षेत्र जानने चाहियें । क्रम से उनके नाम हैं—कच्छा १, सुकच्छा २, महाकच्छा ३, कच्छावती ४, आवर्त्ता ५, लाङ्गलावर्त्ता ६, पुष्कला ७ और पुष्कलावती ८ । अब क्षेत्रों के मध्य में जो नगरियाँ हैं, उनके नाम कहते हैं—क्षेमा १, क्षेमपुरी २, रिष्टा ३, रिष्टपुरी ४, खड्गा ५, मंजूषा ६, औषधी ७ और पुण्डरीकिणी ८ ।

इसके ऊपर शीता नदी से दक्षिण भाग में निषध पर्वत से उत्तर भाग में जो आठ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तानि कथ्यन्ते। तद्यथा—पूर्वोक्ता या देवारण्यवेदिका तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रमस्ति, तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्माद्वक्षारपर्वतस्ततश्च क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततः क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वभद्रशालवनवेदिका भवतीति नवभित्तिमध्येऽष्टौ क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। इदानीं तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७, मङ्गलावती ८ चेति। इदानीं तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४, अङ्का ५, पद्मा ६, शुभा ७, रत्नसंचया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यानं समाप्तम्।

अथ मेरोः पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिमभद्रशालवनानन्तरं पश्चिमविदेहस्तिष्ठति। तत्र निषधपर्वतादुत्तरविभागे शीतोदानद्या दक्षिणभागे यानि क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते। तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिमभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रं भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो

क्षेत्र हैं उनको कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—पहले कही हुई जो देवारण्य की वेदी है उसके पश्चिम में क्षेत्र है, तदनन्तर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभङ्गा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, तत्पश्चात् विभङ्गा नदी है, फिर क्षेत्र है, पुनः वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, पश्चात् विभङ्गा नदी है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे मेरु के पूर्व दिशा वाले पूर्वभद्रशाल वन की वेदी है। ऐसे नौ भित्तियों के मध्य में आठ क्षेत्र जानने योग्य हैं। उन क्षेत्रों के नाम क्रम से कहते हैं—वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७ और मंगलावती ८। अब उन क्षेत्रों में स्थित नगरियों के नाम कहते हैं—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४; अंका ५, पद्मा ६, शुभा ७ और रत्नसंचया ८। इस प्रकार पूर्व विदेह क्षेत्र के विभागों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब मेरु पर्वत से पश्चिम दिशा में पूर्व-पश्चिम बाईस हजार योजन विस्तार वाला पश्चिम भद्रशाल वन के बाद पश्चिम विदेह क्षेत्र है। वहाँ निषध पर्वत से उत्तर में और शीतोदा नदी के दक्षिण में जो क्षेत्र हैं, उनका विभाग कहते हैं—मेरु की पश्चिम दिशा में जो पश्चिम भद्रशाल वन की वेदिका है, उसके पश्चिम भाग में क्षेत्र है, उससे आगे दक्षिण-उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षार-पर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततः विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततः वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पश्चिमसमुद्र समीपे यद्भूतारण्यवनं तिष्ठति तस्य वेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषां नामानि कथ्यन्ते । पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७, सलिला ८ चेति । तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथयन्ति—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७, विशोकापुरी ८ चेति ।

अत ऊर्ध्वं शीतोदाया उत्तरभागे नीलकुलपर्वतादक्षिणे भागे यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागभेदं कथयति । पूर्वभणिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्याः पूर्वभागे क्षेत्रं भवति । तदनंतरं वक्षारपर्वतस्तदनंतरं क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततश्च क्षेत्रं, ततश्च विभंगा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततश्च वक्षारपर्वत-स्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिशाभागे पश्चिमभद्रशालवनवेदिका चेति नवभित्तिषु

उससे आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उस के पश्चात् वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनंतर पश्चिम समुद्र के समीप में जो भूतारण्य नामक वन है उसकी वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों के मध्य में आठ क्षेत्र होते हैं। उनके नाम कहते हैं—पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७ और सलिला ८। उन क्षेत्रों के मध्य में स्थित नगरियों के नाम कहते हैं—अश्व-पुरी १, सिंहपुरी २; महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७ और विशोकापुरी ८।

अब शीतोदा के उत्तर में और नील कुलाचल से दक्षिण में जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग-भेद का वर्णन करते हैं—पहले कही हुई जो भूतारण्य वन की वेदिका है उसके पूर्व में क्षेत्र है, उसके बाद वक्षार पर्वत, उसके अनंतर क्षेत्र, उसके बाद विभंगा नदी, उसके पीछे क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके अनंतर पुनः क्षेत्र, उसके बाद पुनः विभंगा नदी, उसके अनंतर पुनः क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र, तदनंतर विभंगा नदी, उसके अनंतर क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र है। उसके अनंतर मेरु की (पश्चिम) दिशा में स्थित पश्चिमभद्र-शाल वन की वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों के बीच में आठ क्षेत्र हैं। उनके नाम क्रम से कहते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—वप्रा १ सुवप्रा २ महावप्रा ३ वप्रकावती ४ गन्धा ५ सुगन्धा ६ गन्धिला ७ गन्धमालिनी ८ चेति । तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते । विजया १ वैजयंती २ जयंती ३ अपराजिता ४ चक्रपुरी ५ खड्गपुरी ६ अयोध्या ७ अवध्या ८ चेति ।

अथ यथा—भरतक्षेत्रे गङ्गासिंधुनदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च म्लेच्छखण्डपञ्चकमार्यखण्डं चेति षट् खण्डानि जातानि । तथैव तेषु द्वात्रिंशत्क्षेत्रेषु गङ्गासिंधुसमाननदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च प्रत्येकं षट् खण्डानि ज्ञातव्यानि । अयं तु विशेषः । एतेषु क्षेत्रेषु सर्वदैव चतुर्थकालादिसमानकालः । उत्कर्षेण पूर्वकोटिजीवितं, पञ्चशतचापोत्सेधश्चेति विज्ञेयम् । पूर्वप्रमाणं कथ्यते । "पुव्वस्स हु परिमाणं सदरिं खलु सदसहस्सकोडीओ । छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासगणनाओ ।१।" इति संक्षेपेण जम्बूद्वीपव्याख्यानं समाप्तम् ।

तदनन्तरं यथा सर्वद्वीपेषु सर्वसमुद्रेषु च द्वीपसमुद्रमर्यादाकारिका योजनाष्टकोत्सेधा वज्रवेदिकास्ति तथा जम्बूद्वीपेऽप्यस्तीति विज्ञेयम् । यद्बहिर्भागे योजनलक्षद्वयवलयविष्कम्भ आगमकथितषोडशसहस्रयोजनजलोत्सेधाद्यनेकाश्चर्य-

---

हैं—वप्रा १, सुवप्रा २, महावप्रा ३, वप्रकावती ४, गंधा ५, सुगंधा ६, गंधिला ७ और गंधमालिनी ८ । उन क्षेत्रों के मध्य में वर्त्तमान नगरियों के नाम कहते हैं—विजया १, वैजयन्ती २, जयन्ती ३, अपराजिता ४, चक्रपुरी ५, खड्गपुरी ६, अयोध्या ७ और अवध्या ८ ।

अब जैसे भरत क्षेत्र में गंगा और सिंधु इन दोनों नदियों से तथा विजयार्ध पर्वत से पांच म्लेच्छ खंड और एक आर्य खंड ऐसे छः खंड हुए हैं, उसी तरह पूर्वोक्त बत्तीस विदेह क्षेत्रों में गंगा सिंधु समान दो नदियों और विजयार्ध पर्वत से प्रत्येक क्षेत्र के छः खंड जानने चाहियें । इतना विशेष है कि इन सब क्षेत्रों में सदा चौथे काल की आदि जैसा काल रहता है । उत्कृष्टता से कोटि पूर्व प्रमाण आयु है और पांच सौ धनुष प्रमाण शरीर का उत्सेध है । पूर्व का प्रमाण कहते हैं—"पूर्व का प्रमाण सत्तर लाख छप्पन हजार कोडि वर्ष जानना चाहिये ।" ऐसे संक्षेप से जंबू द्वीप का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

जैसे सब द्वीप और समुद्रों में द्वीप और समुद्र की मर्यादा (सीमा) करने वाली आठ योजन ऊंची वज्र की वेदिका (दीवार) है, उसी प्रकार से जंबू द्वीप में भी है, ऐसा जानना चाहिये । उस वेदिका के बाहर दो लाख योजन चौड़ा गोलाकार शास्त्रोक्त सोलह हजार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहितो लवणसमुद्रोऽस्ति । तस्मादपि बहिर्भागे योजनलक्षचतुष्टयवलयविष्कम्भो धातकीखण्डद्वीपोऽस्ति । तत्र च दक्षिणभागे लवणोदधिकालोदधिसमुद्रद्वयवेदिकास्पर्शी दक्षिणोत्तरायामः सहस्रयोजनविष्कम्भः शतचतुष्टयोत्सेध इष्वाकारनामपर्वतः अस्ति । तथोत्तरविभागेऽपि । तेन पर्वतद्वयेन खण्डीकृतं पूर्वापरधातकीखण्डद्वयं ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वधातकीखण्डद्वीपमध्ये चतुरशीतिसहस्रयोजनोत्सेधः सहस्रयोजनावगाहः क्षुल्लकमेरुरस्ति । तथा पश्चिमधातकीखण्डेऽपि । यथा जम्बूद्वीपमहामेरोः भरतादिक्षेत्रहिमवदादिपर्वतगङ्गादिनदीपद्मादिह्रदानां दक्षिणोत्तरेण व्याख्यानं कृतं तथात्र पूर्वधातकीखण्डमेरौ पश्चिमधातकीखण्डमेरौ च ज्ञातव्यम् । अत एव जम्बूद्वीपापेक्षया संख्यां प्रति द्विगुणानि भवन्ति भरतक्षेत्राणि, न च विस्तारायामापेक्षया । कुलपर्वताः पुनर्विस्तारापेक्षयैव द्विगुणा, नत्वायामं प्रति । तत्र धातकीखण्डद्वीपे यथा चक्रस्यारास्तथाकाराः कुलपर्वता भवन्ति । यथा चारार्णां विवराणि छिद्राणि मध्यान्यभ्यन्तरे सङ्कीर्णानि बहिर्भागे विस्तीर्णानि तथा क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि ।

इत्थंभूतं धातकीखण्डद्वीपमष्टलक्षयोजनवलयविष्कम्भः कालोदकसमुद्रः

योजन जल की ऊंचाई आदि अनेक आश्चर्यों सहित लवण समुद्र है; उसके बाहर चार लाख योजन गोल विस्तार वाला धातकी खंड द्वीप है। वहाँ पर दक्षिण भाग में लवणोदधि और कालोदधि इन दोनों समुद्रों की वेदिका को छूने वाला, दक्षिण–उत्तर लम्बा, एक हजार योजन विस्तार वाला तथा चार सौ योजन ऊंचा इष्वाकार नामक पर्वत है। इसी प्रकार उत्तर भाग में भी एक इष्वाकार पर्वत है। इन दोनों पर्वतों से विभाजित, पूर्व धातकीखंड तथा पश्चिम धातकीखंड ऐसे दो भाग जानने चाहियें। पूर्व धातकीखंड द्वीप के मध्य में चौरासी हजार योजन ऊंचा और एक हजार योजन गहरा छोटा मेरु है। उसी प्रकार पश्चिम धातकीखंड में भी एक छोटा मेरु है। जैसे जंबू द्वीप के महामेरु में भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी और पद्म आदि ह्रदों का दक्षिण व उत्तर दिशाओं सम्बन्धि व्याख्यान किया है; वैसे ही इस पूर्व धातकीखंड के मेरु और पश्चिम धातकी खंड के मेरु सम्बन्धि जानना चाहिये। इसी कारण धातकीखंड में जंबू द्वीप की अपेक्षा संख्या में भरत क्षेत्र आदि दूने होते हैं, परन्तु लम्बाई चोड़ाई की अपेक्षा से दुगुने नहीं हैं। कुल पर्वत तो विस्तार की अपेक्षा ही दुगुने हैं, आयाम (लम्बाई) की अपेक्षा दुगुने नहीं हैं। उस धातकीखंड द्वीप में, जैसे चक्र के आरे होते हैं, वैसे आकार के धारक कुलाचल हैं। जैसे चक्र के आरों के छिद्र अन्दर की ओर तो संकीर्ण (सुकड़े) होते हैं और बाहर की ओर विस्तीर्ण (फैले हुए) होते हैं, वैसा ही क्षेत्रों का आकार समझना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिवेष्ट्य तिष्ठति । तस्माद्बहिर्भागे योजनलक्षाष्टकं गत्वा पुष्करवरद्वीपस्य अर्द्धे वलयाकारेण चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तरनामा पर्वतस्तिष्ठति । तत्र पुष्करार्धेऽपि धातकीखण्डद्वीपवद्दक्षिणोत्तरेष्वाकारनामपर्वतद्वयं पूर्वापरेण क्षुल्लकमेरुद्वयं च । तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च बोधव्यः । परं किन्तु जम्बूद्वीपभरतादिसंख्यापेक्षया भरतक्षेत्रादिद्विगुणत्वं, न च धातकीखण्डापेक्षया । कुलपर्वतानां तु धातकीखण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विष्कम्भ आयामश्च । उत्सेधप्रमाणं पुनः दक्षिणभागे विजयार्धपर्वते योजनानि पञ्चविंशतिः, हिमवति पर्वते शतं महाहिमवति द्विशतं, निषधे चतुःशतं, तथोत्तरभागे च । मेरुसमीपगजदन्तेषु शतपञ्चकं, नील निषध पार्श्वे गजदन्तानि योजन चतुःशतानि । नदीसमीपे वक्षारेषु चान्त्यनिषधनीलसमीपे चतुःशतं च । शेषपर्वतानां च मेरुं त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणितं तदेवार्धतृतीयद्वीपेषु च विज्ञेयम् । तथा नामानि च क्षेत्रपर्वतनदीदेशनगरादीनां तान्येव । तथैव क्रोशद्वयोत्सेधा पञ्चशतधनुर्विस्तारा पद्मरागरत्नमयी वनादीनां वेदिका सर्वत्र समानेति । अत्रापि चक्राराकारवत्पर्वता आरविवरसंस्थानानि क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग एव मनुष्यास्तिष्ठन्ति, न

इस प्रकार जो धातकीखंड द्वीप है उसको आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदक समुद्र बेढ़े हुए है । उस कालोदक समुद्र के बाहर आठ लाख योजन चलकर पुष्करवर द्वीप के अर्ध भाग में गोलाकार रूप से चारों दिशाओं में मानुषोत्तर नामक पर्वत है । उस पुष्करार्ध द्वीप में भी धातकीखंड द्वीप के समान दक्षिण तथा उत्तर दिशा में इष्वाकार दो पर्वत हैं, पूर्व-पश्चिम में दो छोटे मेरु हैं । इसी प्रकार (धातकीखंड के समान) भरत आदि क्षेत्रों का विभाग जानना चाहिए । परन्तु जंबू द्वीप के भरत आदि की अपेक्षा से यहाँ पर संख्या में दूने २ भरत आदि क्षेत्र हैं, धातकीखंड की अपेक्षा से भरत आदि दूने नहीं हैं । कुल पर्वतों का विष्कम्भ तथा आयाम धातकीखंड के कुल पर्वतों की अपेक्षा से दुगुना है । दक्षिण में विजयार्ध पर्वत की ऊंचाई का प्रमाण पचीस योजन, हिमवत् पर्वत की ऊंचाई १०० योजन, महाहिमवान् पर्वत की दो सौ योजन, निषध की चार सौ योजन प्रमाण है । तथा उत्तर भाग में भी इसी प्रकार उत्सेध प्रमाण है । मेरु के समीप में गजदन्तों की ऊंचाई पांच सौ योजन है और नील निषध पर्वतों के पास चार सौ योजन है । वक्षार पर्वतों की ऊंचाई नदी के निकट तथा अन्त में नील और निषध पर्वतों के पास चार सौ योजन है । मेरु को छोड़कर शेष पर्वतों की जो ऊंचाई जंबू द्वीप में कही है सो ही पुष्करार्द्ध तक द्वीपों में जाननी चाहिये । तथा क्षेत्र, पर्वत, नदी, देश, नगर आदि के नाम भी वे ही हैं, जो कि जंबू द्वीप में हैं । इसी प्रकार दो कोश ऊंची, पांच सौ धनुष चौड़ी पद्मराग रत्नमयी जो वन आदि की वेदिका है, वह सब द्वीपों में समान है । इस पुष्करार्ध द्वीप में भी चक्र के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च बहिर्भागे। तेषां च जघन्यजीवितमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण पल्यत्रयं, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवस्तथा तिरश्चां च । एवमसंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिर्यग्लोकमध्येऽर्धतृतीयद्वीपप्रमाणः संक्षेपेण मनुष्यलोको व्याख्यातः।

अथ मानुषोत्तरपर्वतसकाशाद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धं परिक्षिप्य योऽसौ नागेन्द्रनामा पर्वतस्तस्मात्पूर्वभागे ये संख्यातीता द्वीपसमुद्रास्तिष्ठन्ति तेषु यद्यपि 'व्यन्तरा निरन्तरा' इति वचनाद् व्यन्तरदेवावासास्तिष्ठन्ति तथापि पल्यप्रमाणायुषां तिरश्चां सम्बन्धिनी जघन्यभोगभूमिरिति ज्ञेयम् । नागेन्द्रपर्वताद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धे समुद्रे च पुनर्विदेहवत्सर्वदैव कर्मभूमिश्चतुर्थकालश्च । परं किन्तु मनुष्या न सन्ति। एवमुक्तलक्षणतिर्यग्लोकस्य तदभ्यन्तरं मध्यभागवर्तिनो मनुष्यलोकस्य च प्रतिपादनेन संक्षेपेण मध्यमलोकव्याख्यानं समाप्तम्। अथ मनुष्यलोके द्विहीनशतचतुष्टयं तिर्यग्लोके तु नन्दीश्वरकुण्डलरुचकाभिधानद्वीपत्रयेषु क्रमेण द्विपञ्चाशच्चतुष्टयचतुष्टयसंख्याश्चाकृत्रिमाः स्वतन्त्रजिनगृहा ज्ञातव्याः।

आरों के आकार समान पर्वत और आरों के छिद्रों के समान क्षेत्र जानने चाहिये। मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी भाग में ही मनुष्य निवास करते हैं बाहरी भाग में नहीं। उन मनुष्यों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य के बराबर है। मध्य में मध्यमविकल्प बहुत से हैं। तिर्यंचों की आयु भी मनुष्यों की आयु के समान है। इस प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रों से विस्तरित तिर्यग्लोक के मध्य में ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्यलोक का संक्षेप से व्याख्यान हुआ।

अब मानुषोत्तर पर्वत से बाहरी भाग में, स्वयंभूरमण द्वीप के अर्धभाग को वेढ़कर जो नागेन्द्र नामक पर्वत है, उस पर्वत के पूर्व भाग में जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, उनमें 'व्यन्तर देव निरन्तर रहते हैं' इस वचनानुसार, यद्यपि व्यन्तर देवों के आवास हैं, तथापि एक पल्यप्रमाण आयुवाले तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि भी है, ऐसा जानना चाहिये। नागेन्द्र पर्वत से बाहर स्वयंभूरमण आधे द्वीप और पूर्णस्वयंभूरमण समुद्र में विदेह क्षेत्र के समान, सदा ही कर्मभूमि और चतुर्थ काल रहता है। परन्तु वहाँ पर मनुष्य नहीं हैं। इस प्रकार तिर्यग् लोक के तथा उस तिर्यक् लोक के मध्य में विद्यमान मनुष्य-लोक के निरूपण द्वारा मध्य लोक का व्याख्यान समाप्त हुआ। मनुष्य लोक में तीन सौ अट्ठानवे ३९८ और तिर्यक् लोक में नन्दीश्वर द्वीप, कुण्डल द्वीप तथा रुचक द्वीप इन तीन द्वीपों सम्बन्धी क्रमशः बावन, चार, चार अकृत्रिम स्वतंत्र चैत्यालय जानने चाहियें। (मध्यलोक में सब अकृत्रिम चैत्यालय ४५८ हैं)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत ऊर्ध्वं ज्योतिर्लोकः कथ्यते । तद्यथा—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्राणि प्रकीर्णतारकाश्चेति ज्योतिष्कदेवाः पञ्चविधा भवन्ति । तेषां मध्येऽस्माद्भूमितलादुपरि नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वा तारकविमानाः सन्ति, ततोऽपि योजनदशकं गत्वा सूर्यविमानाः, ततः परमशीतियोजनानि गत्वा चन्द्रविमानाः, ततोऽपि त्रैलोक्यसारकथितक्रमेण योजनचतुष्टयं गते अश्विन्यादिनक्षत्रविमानाः, ततः परं योजनचतुष्टयं गत्वा बुधविमानाः, ततः परं योजनत्रयं गत्वा शुक्रविमानाः, ततः परं योजनत्रये गते बृहस्पतिविमानाः, ततो योजनत्रयानन्तरं मङ्गलविमानाः, ततोऽपि योजनत्रयानन्तरं शनैश्चरविमाना इति । तथा चोक्तं "णउदुत्तरसत्तसया दस सीदी चउदुगं तु तिचउक्कं । तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवअंगिरारसणी । १ ।" ते च ज्योतिष्कदेवा अर्धतृतीयद्वीपेषु निरंतरं मेरोः प्रदक्षिणेन परिभ्रमणगतिं कुर्वन्ति । तत्र घटिकाप्रहरदिवसादिरूपः स्थूलव्यवहारकालः समयनिमिषादिसूक्ष्मव्यवहारकालवत् यद्यप्यनादिनिधनेन समयघटिकादिविवक्षितविकल्परहितेन कालाणुद्रव्यरूपेण निश्चयकालेनोपादानभूतेन जन्यते तथापि चन्द्रादित्यादिज्योतिष्कदेवविमानगमनागमनेन कुम्भकारेण निमित्तभूतेन मृत्पिण्डोपादानजनितघट इव व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तेन कारणेनोपचारेण ज्योतिष्कदेवकृत इत्य-

---

इसके पश्चात् ज्योतिष्कलोक का वर्णन करते हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारा ऐसे ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के होते हैं। उनमें से इस मध्य लोक की पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर आकाश में तारों के विमान हैं, तारों से दस योजन ऊपर सूर्य के विमान हैं। उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा के विमान हैं। उसके अनंतर, त्रैलोक्यसार कथित क्रमानुसार, चार योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्रों के विमान हैं। उसके पश्चात् चार योजन ऊपर बुध के विमान हैं। उसके अनंतर तीन योजन ऊपर शुक्र के विमान हैं। वहाँ से तीन योजन ऊपर बृहस्पति के विमान हैं। उसके पश्चात् तीन योजन पर मंगल के विमान हैं। वहाँ से भी तीन योजन के अन्तर पर शनैश्चर के विमान हैं। सो ही कहा है—"सात सौ नब्बे, दस, अस्सी, चार, चार, तीन, तीन, तीन और तीन योजन ऊपर क्रम से तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर के विमान हैं। १।" वे ज्योतिष्क देव ढाई द्वीप में मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए सदा परिभ्रमण करते हैं। समय निमिष आदि सूक्ष्म व्यवहार काल के समान घटिका प्रहर दिवस आदि स्थूल व्यवहार काल भी, समय-घटिका आदि विवक्षित भेदों से रहित तथा अनादिनिधन कालाणुद्रव्यमयी निश्चयकाल रूप उपादान से यद्यपि उत्पन्न होता है; तो भी, निमित्तभूत कुम्भकार के द्वारा उपादान रूप मृत्तिकापिंड से घट प्रगट होने की तरह, उन ढाई द्वीप में चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमनागमन से यह व्यवहार काल प्रगट किया जाता है तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिधीयते । निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति कुम्भकारचक्रभ्रमणस्याधस्तनशिलावदिति ।

इदानीमर्धतृतीयद्वीपेषु चन्द्रादित्यसंख्या कथ्यते । तथाहि—जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयं सूर्यद्वयं च, लवणोदे चतुष्टयं, धातकीखण्डद्वीपे द्वादश चन्द्रादित्याश्च, कालोदकसमुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रादित्याश्च, पुष्करार्धे द्वीपे द्वासप्ततिचन्द्रादित्याः चेति । ततः परं भरतैरावतस्थितजम्बूद्वीपचन्द्रसूर्ययोः किमपि विवरणं क्रियते । तद्यथा—जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे योजनानामशीतिशतं बहिर्भागे लवणसमुद्रसम्बन्धे त्रिंशदधिकशतत्रयमिति समुदायेन दशोत्तरयोजनशतपञ्चकं चारक्षेत्रं भण्यते, तत् चन्द्रादित्ययोरेकमेव । तत्र भरतेन (सह) बहिर्भागे तस्मिंश्चारक्षेत्रे सूर्यस्य चतुरशीतिशतसंख्या मार्गा भवन्ति, चन्द्रस्य पञ्चदशैव । तत्र जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे निषधपर्वतस्योपरि प्रथममार्गे सूर्यः प्रथमोदयं करोति । यत्र सूर्यविमानस्थं निर्दोषपरमात्मनो जिनेश्वरस्याकृत्रिमं जिनबिम्बम्

जाना जाता है; इस कारण उपचार से 'व्यवहार काल ज्योतिष्क देवों का किया हुआ है' ऐसा कहा जाता है। कुम्भकार के चाक के भ्रमण में बहिरंग सहकारी कारण नीचे की कीली के समान, निश्चय काल तो, उन ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमन रूप परिणमन में, बहिरंग सहकारी कारण होता है।

अब ढाई द्वीपों में जो चन्द्र और सूर्य हैं, उनकी संख्या बतलाते हैं। वह इस प्रकार है—जंबू द्वीप में दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं, लवणोदकसमुद्र में चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं, धातकीखंड द्वीप में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं, कालोदक समुद्र में ४२ चन्द्रमा और ४२ सूर्य हैं तथा पुष्करार्ध द्वीप में ७२ चन्द्रमा और बहत्तर ही सूर्य हैं।

इसके अनंतर भरत और ऐरावत में स्थित जंबूद्वीप के चन्द्र-सूर्य का कुछ थोड़ा-सा विवरण कहते हैं। वह इस तरह है—जंबू द्वीप के भीतर एक सौ अस्सी और बाहरी भाग में अर्थात् लवणसमुद्र के तीन सौ तीस योजन, ऐसे दोनों मिलकर पांच सौ दस योजन प्रमाण सूर्य का चार क्षेत्र (गमन का क्षेत्र) कहलाता है। सो चन्द्र तथा सूर्य इन दोनों का एक ही गमन क्षेत्र है। भरत क्षेत्र और बाहरी भाग के चार क्षेत्र में सूर्य के एक सौ चौरासी मार्ग (गली) हैं और चन्द्रमा के पन्द्रह ही मार्ग हैं। उनमें जंबू द्वीप के भीतर कर्कट संक्रान्ति के दिन जब दक्षिणायन प्रारम्भ होता है, तब निषध पर्वत के ऊपर प्रथम मार्ग में सूर्य प्रथम उदय करता है। वहाँ पर सूर्य विमान में स्थित निर्दोष-परमात्म-जिनेन्द्र के अकृत्रिम जिनबिम्ब को, अयोध्या नगरी में स्थित भरत क्षेत्र का चक्रवर्ती प्रत्यक्ष देखकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा अयोध्यानगरीस्थितो निर्मलसम्यक्त्वानुरागेण भरतचक्री पुष्पाञ्जलिमुत्क्षिप्यार्घ्यं ददातीति । तन्मार्गस्थितभरतक्षेत्रादित्यस्यैरावतादित्येन सह तथापि चन्द्रास्यान्यचंद्रेण सह यदन्तरं भवति तद्विशेषेणागमतो ज्ञातव्यम् ।

अथ "सदभिस भरणी अद्दा सादी असलेस्स जेट्ठमवरक्खा । रोहिणि विसाह पुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण यानि जघन्योत्कृष्टमध्यमनक्षत्राणि तेषु मध्ये कस्मिन्नक्षत्रे कियन्ति दिनान्यादित्यस्तिष्ठतीति । "इंदुरवीदो रिक्खा सत्तट्ठि पंच गगणखंडहिया । अहियट्ठिदरिक्खखंडा रिक्खे इंदुरवीअत्थवणमुहुत्ता । १ ।" इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक्रमेण पृथक् पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकषष्टियुतत्रिंशतसंख्यदिनानि भवन्ति । तस्य दिनसमूहार्धस्य यदा द्वीपाभ्यन्तराद्दक्षिणेन बहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति तदा दक्षिणायनसंज्ञा; यदा पुनः समुद्रात्सकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु समायाति तदोत्तरायणसंज्ञेति । तत्र यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे तिष्ठत्यादित्यस्तदा चतुर्णवतिसहस्रपञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशत-

---

निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से पुष्पांजलि उछालकर अर्घ देता है। उस प्रथम मार्ग में स्थित भरत क्षेत्र के सूर्य का ऐरावत क्षेत्र के सूर्य के साथ तथा चन्द्रमा का चन्द्रमा के साथ और भरत क्षेत्र के सूर्य चन्द्रमाओं का मेरु के साथ जो अन्तर (फासला) रहता है, उसका विशेष कथन आगम से जानना चाहिए।

अब "शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा, ये छः नक्षत्र जघन्य हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपद, ये छः नक्षत्र उत्कृष्ट हैं। इनके अतिरिक्त शेष नक्षत्र मध्यम हैं।" इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार जो जघन्य उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमें किस नक्षत्र में कितने दिन सूर्य ठहरता है, सो कहते हैं—"एक मुहूर्त्त में चन्द्र १७६८, सूर्य १८३० और नक्षत्र १८३५ गगनखंडों में गमन करते हैं, इसलिये ६७ व ५ (१८३५ – १७६८ = ६७, १८३५ – १८३० = ५) अधिक भागों से नक्षत्रखंडों को भाग देने से जो मुहूर्त्त प्राप्त होते हैं, उन मुहूर्त्तों को चन्द्र और सूर्य के आसन्न मुहूर्त्त जानने चाहियें। अर्थात् एक नक्षत्र पर उतने मुहूर्त्तों तक चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति जाननी चाहिए। १।" इस प्रकार इस गाथा में कहे हुए क्रम से भिन्न-भिन्न दिनों को जोड़ने से तीन सौ छयासठ दिन होते हैं। जब द्वीप के भीतर से दक्षिण दिशा के बाहरी मार्गों में सूर्य गमन करता है, तब तीन सौ छयासठ दिनों के आधे एक सौ तिरासी दिनों की दक्षिणायन संज्ञा होती है और इसी प्रकार जब सूर्य समुद्र से उत्तर दिशा को अभ्यन्तर मार्गों में आता है तब शेष १८३ दिनों की उत्तरायण संज्ञा है। उनमें जब द्वीप के भीतर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण उत्कर्षेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो ज्ञेयः । तत्र पुनरष्टादशमुहूर्तैर्दिवसो भवति द्वादशमुहूर्तै रात्रिरिति । ततः क्रमेणातपहानौ सत्यां मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागीकृतस्यैको भागो दिवसमध्ये दिनं प्रति हीयते यावल्लवणसमुद्रेऽवसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तावुत्तरायणदिवसे त्रिषष्टिसहस्राधिकषोडशयोजनप्रमाणो जघन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो भवति । तथैव द्वादशमुहूर्तैर्दिवसो भवत्यष्टादशमुहूर्तै रात्रिश्चेति । शेषं विशेषव्याख्यानं लोकविभागादौ विज्ञेयम् ।

ये तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नास्ति । ते च मानुषोत्तरपर्वतादुबहिर्भागे पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां गत्वा वलयाकारं पंक्तिक्रमेण पूर्वक्षेत्रं परिवेष्ट्य तिष्ठन्ति । तत्र प्रथमवलये चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाश्चन्द्रास्तथादित्याश्चान्तरान्तरेण तिष्ठन्ति । ततः परं योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण वलयं भवति । अयन्तु विशेषः—वलये वलये चन्द्रचतुष्टयं सूर्यचतुष्टयं च वर्धते यावत्पुष्करार्धबहिर्भागे वलयाष्टकमिति । ततः पुष्करसमुद्रप्रवेशे वेदिकायाः

कर्कट संक्रान्ति के दिन दक्षिणायन के प्रारम्भ में सूर्य प्रथम मार्ग की परिधि में होता है, तब सूर्य-विमान के आतप (धूप) का पूर्व-पश्चिम फैलाव चौरानवे हजार पांच सौ पच्चीस योजन प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिये। उस समय अठारह मुहूर्त्तों का दिन और बारह मुहूर्त्तों की रात्रि होती है। फिर यहाँ से क्रम-क्रम से आतप की हानि होने पर दो मुहूर्त्तों के इकसठ भागों में से एक भाग प्रतिदिन दिवस घटता है। यह तब तक घटता है जब तक कि लवणसमुद्र के अन्तिम मार्ग में माघ मास में मकर संक्रांति में उत्तरायण दिवस के प्रारम्भ में जघन्यता से सूर्य-विमान के आतप का पूर्व-पश्चिम विस्तार त्रेसठ हजार सोलह योजन प्रमाण होता है। उसी प्रकार इस समय बारह मुहूर्त्तों का दिन और अठारह मुहूर्त्तों की रात्रि होती है। अन्य विशेष वर्णन लोकविभाग आदि से जानना चाहिये।

मनुष्य क्षेत्र से बाहर ज्योतिष्क-विमानों का गमन नहीं है। वे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर पचास हजार योजन जाने पर, वलयाकार (गोलाकार) पंक्ति-क्रम से पहिले क्षेत्र को बेढ़ (घेर) कर रहते हैं। वहाँ प्रथम वलय में एक सौ चवालीस चन्द्रमा तथा सूर्य परस्पर अन्तर (फासले) से तिष्ठित हैं। उसके आगे एक-एक लाख योजन जाने पर इसी क्रमानुसार एक-एक वलय होता है! विशेष यह है—प्रत्येक वलय में चार-चार चन्द्रमा तथा चार-चार सूर्यों की वृद्धि पुष्करार्ध के बाह्य भाग में आठवें वलय तक होती है; उसके बाद पुष्करसमुद्र के प्रवेश में स्थित वेदिका से पचास हजार योजन प्रमाण जलभाग में जाकर, प्रथम वलय में,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकाशात्पंचाशत्सहस्रप्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य यत्पूर्वं चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणं प्रथमवलयं व्याख्यातं तस्माद् द्विगुणसंख्यानं प्रथमवलयं भवति। तदनन्तरं पूर्ववद्योजनलक्षे गते वलयं भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्टयस्य च वृद्धिरित्यनेनैव क्रमेण स्वयम्भूरमणसमुद्रबहिर्भागवेदिकापर्यन्तं ज्योतिष्कदेवानामवस्थानं बोधव्यम्। एते च प्रतरासंख्येयभागप्रमिता असंख्येया ज्योतिष्कविमाना अकृत्रिमसुवर्णमयरत्नमयजिनचैत्यालयमण्डिता ज्ञातव्याः। इति संक्षेपेण ज्योतिष्कलोकव्याख्यानं समाप्तम्।

अथानन्तरमूर्ध्वलोकः कथ्यते। तथाहि—सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतसंज्ञाः षोडश स्वर्गाः ततोऽपि नवग्रैवेयकसंज्ञास्ततश्च नवानुदिशसंज्ञं नवविमानसंख्यमेकपटलं ततोऽपि पंचानुत्तरसंज्ञं पंचविमानसंख्यमेकपटलं चेत्युक्तक्रमेणोपर्युपरि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्त्तिकं सङ्ग्रहवाक्यं समुदायकथनमिति यावत्। आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमितयोजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति तस्या उपरि कुरुभूमिजमर्त्यबालाग्रान्तरितं पुनर्ऋजुविमानमस्ति। तदादिं कृत्वा

एक सौ चवालीस चन्द्र तथा सूर्य का जो पहले कथन किया है, उससे दुगुने (दो सौ अट्ठासी) चन्द्रमा व सूर्यों वाला पहला वलय है। उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक-एक लाख योजन जाने पर एक-एक वलय है। प्रत्येक वलय में चार चन्द्रमा और चार सूर्यों की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्वयंभूरमण समुद्र की अन्त की वेदिका तक ज्योतिष्क देवों का अवस्थान जानना चाहिए। जगप्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात ये ज्योतिष्कविमान अकृत्रिम सुवर्ण तथा रत्नमय जिनचैत्यालयों से भूषित हैं, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप से ज्योतिष्क लोक का वर्णन समाप्त हुआ।

अब इसके अनंतर ऊर्ध्व लोक का कथन करते हैं। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक सोलह स्वर्ग हैं। वहाँ से आगे नव ग्रैवेयक विमान हैं। उनके ऊपर नवानुदिश नामक ९ विमानों का एक पटल है, इसके भी ऊपर पांच विमानों की संख्या वाला पंचानुत्तर नामक एक पटल है, इस प्रकार उक्त क्रम से वैमानिक देव तिष्ठित हैं। यह वार्त्तिक अर्थात् संग्रह वाक्य अथवा समुदाय से कथन है। आदि में बारह, मध्य में आठ और अन्त में चार योजन प्रमाण गोल व्यासवाली चालीस योजन ऊँची मेरु की चूलिका है; उसके ऊपर देवकुरु अथवा उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य के बाल के अग्रभाग प्रमाण के अन्तर से ऋजु विमान है। चूलिका सहित एक लाख

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणं मेरुत्सेधमानमर्द्धाधिकैकरज्जूप्रमाणं यदाकाशक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति । ततः परमर्द्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं सनत्कुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, तस्मादर्द्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधानं स्वर्गयुगलमस्ति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तं लांतवकापिष्टनामस्वर्गयुगलमस्ति, ततश्चार्द्धरज्जुपर्यन्तं शुक्रमहाशुक्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनंतरमर्द्धरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तमानतप्राणतनाम स्वर्गयुगलं, ततः परमर्द्धरज्जुपर्यन्तमाकाशं यावदारणाच्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति । तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा विज्ञेयाः, मध्ययुगलचतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान एकैक एवेन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा भवन्ति; इति समुदायेन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः । षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेकरज्जुमध्ये नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति । ततः परं तत्रैव द्वादशयोजनेषु गतेष्वष्टयोजनबाहुल्या मनुष्यलोकवत्पञ्चाधिकचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारा मोक्षशिला भवति । तस्या उपरि घनोदधिघनवाततनुवात-

---

योजन प्रमाण मेरु की ऊँचाई का प्रमाण है, उस मान को आदि करके डेढ़ रज्जु प्रमाण जो आकाश क्षेत्र है वहाँ तक सौधर्म तथा ईशान नामक दो स्वर्ग हैं। इसके ऊपर डेढ़ रज्जु-पर्यंत सानत्कुमार और माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। वहाँ से अर्धरज्जु प्रमाण आकाश तक ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर नामक स्वर्गों का युगल है। वहाँ से भी आधे रज्जु तक लांतव और कापिष्ट नामक दो स्वर्ग हैं। वहाँ से आधे रज्जु प्रमाण आकाश में शुक्र तथा महाशुक्र नामक स्वर्गों का युगल जानना चाहिए। उसके बाद आधे रज्जु तक शतार और सहस्रार नामक स्वर्गों का युगल है। उसके पश्चात् आधे रज्जु तक आनत व प्राणत दो स्वर्ग हैं। तदनन्तर आधे रज्जुपर्यंत आकाश तक आरण और अच्युत नामक दो स्वर्ग जानने चाहिएँ। उनमें से पहले के दो युगलों (४ स्वर्गों) में तो अपने २ स्वर्ग के नाम वाले (सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र) चार इन्द्र हैं, बीच के चार युगलों (८ स्वर्गों) में अपने २ प्रथम स्वर्ग के नाम का धारक एक-एक ही इन्द्र है। (अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग का एक इन्द्र है और वह ब्रह्म इन्द्र कहलाता है। ऐसे ही बारहवें स्वर्ग तक आठ स्वर्गों में चार इन्द्र जानने), इनके ऊपर दो युगलों (४ स्वर्गों) में भी अपने २ स्वर्ग के नाम के धारक चार इन्द्र होते हैं। इस प्रकार समुदाय से सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र जानने चाहियें। सोलह स्वर्गों से ऊपर एक राजु में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान-वासी देव हैं। उसके आगे बारह योजन जाने पर आठ योजन मोटी और ढाई द्वीपके बराबर पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाली मोक्षशिला है। उस मोक्षशिलाके ऊपर घनोदधि, घनवात तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रयमस्ति । तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहिताः सिद्धाः तिष्ठन्ति ।

इदानीं स्वर्गपटलसंख्या कथ्यते—सौधर्मैशानयोरेकत्रिंशत्, सनत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारि, लान्तवकापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयोः पटलमेकम्, शतारसहस्रारयोरेकम्, आनतप्राणतयोस्त्रयम्, आरणाच्युतयोस्त्रयमिति। नवसु ग्रैवेयकेषु नवकं, नवानुदिशेषु पुनरेकं, पञ्चानुत्तरेषु चैकमिति समुदायेनोपर्युपरि त्रिषष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि । तथा चोक्तम्—"इगतीससत्तचत्तारिदोण्णिएक्केक्कछक्कचदुकप्पे । तित्तियएक्केकिंदियणामा उडु आदि तेसट्ठी ।"

अतः परं प्रथमपटलव्याख्यानं क्रियते । ऋजु विमानं यदुक्तं पूर्वं मेरुचूलिकाया उपरि तस्य मनुष्यक्षेत्रप्रमाणविस्तारस्येन्द्रकसंज्ञा । तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनविस्तारेण पंक्तिरूपेण सर्वद्वीपसमुद्रेषूपरि प्रतिदिशं यानि त्रिषष्टिविमानानि तिष्ठन्ति तेषां श्रेणीबद्धसंज्ञा । यानि च पंक्तिरहितपुष्पप्रकरवद्विदिक्चतुष्टये तिष्ठन्ति तेषां संख्येयासंख्येययोजनविस्तारणां प्रकीर्णकसंज्ञा । इति

तनुवात नामक तीन वायु हैं । इनमें से तनुवात के मध्य में तथा लोक के अन्त में केवल-ज्ञान आदि अनन्त गुणों सहित सिद्ध परमेष्ठी हैं ।

अब स्वर्ग के पटलों की संख्या बतलाते हैं । सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गों में इकत्तीस, सानत्कुमार तथा माहेन्द्रमें सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें चार, लांतव तथा कापिष्ट में दो, शुक्र–महाशुक्र में एक, शतार–सहस्रार में एक, आनत–प्राणत में तीन और आरण–अच्युत में भी तीन पटल हैं । नव ग्रैवेयकों में नौ, नव अनुदिशों में एक व पंचानुत्तरों में एक पटल है । ऐसे समुदाय से ऊपर–ऊपर ६३ पटल जानने चाहियें । सो ही कहा है—"सौधर्म युगल में ३१, सानत्कुमार युगल में ७, ब्रह्म युगल में ४, लांतव युगल में २, शुक्र युगल में १, शतार युगल में १, आनत आदि चार स्वर्गों में ६, प्रत्येक तीनों ग्रैवेयकों में तीन–तीन, नव अनुदिशा में १, पंचानुत्तरों में एक, ऐसे समुदाय से ६३ इन्द्रक होते हैं ।"

इसके आगे प्रथम पटल का व्याख्यान करते हैं । मेरु की चूलिका के ऊपर मनुष्य क्षेत्र प्रमाण विस्तार वाले पूर्वोक्त ऋजु विमान की इन्द्रक संज्ञा है । उसकी चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में, सब द्वीप समुद्रों के ऊपर, असंख्यात योजन विस्तार वाले पंक्तिरूप ६३–६३ विमान हैं; उनकी 'श्रेणीबद्ध' संज्ञा है । पंक्ति बिना पुष्पों के समान चारों विदिशाओं में संख्यात व असंख्यात योजन विस्तार वाले जो विमान हैं, उन विमानों की 'प्रकीर्णक' संज्ञा है । इस प्रकार समुदाय से प्रथम पटल का लक्षण जानना चाहिए । उन विमानों में से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समुदायेन प्रथमपटललक्षणं ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वापरदक्षिणश्रेणित्रयविमानानि, तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसम्बंधीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि तथोत्तरश्रेणिविमानानि च पुनरीशानसम्बन्धीनि। अस्मात्पटलादुपरि जिनदृष्टमानेन संख्येयान्यसंख्येयानि योजनानि गत्वा तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति। अयं च विशेषः—श्रेणीचतुष्टये पटले पटले प्रतिदिशमेकैकविमानं हीयते यावत् पञ्चानुत्तरपटले चतुर्दिक्ष्वेकैकविमानं तिष्ठति। एते सौधर्मादिविमानाश्चतुरशीतिलक्षसप्तनवतिसहस्रत्रयोविंशतिप्रमिता अकृत्रिमसुवर्णमयजिनगृहमण्डिता ज्ञातव्या इति।

अथ देवानामायुःप्रमाणं कथ्यते। भवनवासिषु जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पुनरसुरकुमारेषु सागरोपमं, नागकुमारेषु पल्यत्रयं, सुपर्णे सार्धद्वयं, द्वीपकुमारे द्वयं, शेषकुलषट्के सार्धपल्यमिति। व्यन्तरे जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पल्यमधिकमिति। ज्योतिष्कदेवे जघन्येन पल्याष्टमविभागः, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षवर्षाधिकं पल्यम्, सूर्ये सहस्राधिकं पल्यं, शेषज्योतिष्कदेवानामागमानुसारेणेति। अथ सौधर्मैशानयोर्जघन्येन साधिकपल्यं, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वयं, सनत्कुमार-

---

पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियों के विमान और इन तीनों दिशाओं के बीच में दो विदिशाओं के विमान, ये सब सौधर्म प्रथम स्वर्ग सम्बन्धी हैं। तथा शेष दो विदिशाओं के विमान और उत्तर श्रेणी के विमान, वें ईशान स्वर्ग सम्बन्धी हैं। भगवान् द्वारा देखे प्रमाण अनुसार, इस पटल के ऊपर संख्यात तथा असंख्यात योजन जाकर इसी क्रम से द्वितीय आदि पटल हैं। विशेष यह है—प्रत्येक पटल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में एक-एक विमान घटता गया है, सो यहाँ तक घटता है कि पंचानुत्तर पटल में चारों दिशाओं में एक-एक ही विमान रह जाता है। सौधर्म स्वर्ग आदि सम्बन्धी ये सब विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस अकृत्रिम सुवर्णमय जिन चैत्यालयों से मंडित हैं, ऐसा जानना चाहिए।

अब देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं—भवन वासियों में दस हजार वर्ष की जघन्य आयु है। असुरकुमारों में एक सागर, नागकुमारों में तीन पल्य, सुपर्णकुमारों में ढाई पल्य, द्वीपकुमारों में दो पल्य और शेष ६ प्रकार के भवनवासियों में डेढ़ पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। व्यन्तरों में दश हजार वर्ष की जघन्य और कुछ अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है। ज्योतिष्क देवों में जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य और सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। शेष ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु आगम के अनुसार जाननी चाहिए। सौधर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माहेन्द्रयोः साधिकसागरोपमसप्तकं, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः साधिकसागरोपमदशकं, लान्तवकापिष्टयोः साधिकानि चतुर्दशसागरोपमानि, शुक्रमहाशुक्रयोः षोडश साधिकानि, शतारसहस्रारयोरष्टादशसाधिकानि, आनतप्राणतयोर्विंशतिरेव, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरिति। अतः परमच्युतादूर्ध्वं कल्पातीतनवग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणादूर्ध्वमेकैकसागरोपमे वर्धमाने सत्येकत्रिंशत्सागरोपमान्यवसानग्रैवेयके भवन्ति। नवानुदिशपटले द्वात्रिंशत्, पञ्चानुत्तरपटले त्रयस्त्रिंशत्, उत्कृष्टायुः प्रमाणं ज्ञातव्यम्। तदायुः सौधर्मादिषु स्वर्गेषु यदुत्कृष्टं तत्परस्मिन् परस्मिन् स्वर्गे सर्वार्थसिद्धिं विहाय जघन्यं चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं त्रिलोकसारादौ बोद्धव्यम्।

किञ्च — आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनेनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते। यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्ध-

---

तथा ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागर है। सानत्कुमार तथा माहेन्द्र देवों में कुछ अधिक सात सागर, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में कुछ अधिक दस सागर, लांतव कापिष्ट में कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्र में कुछ अधिक सोलह सागर, शतार और सहस्रार में किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा प्राणत में पूरे बीस ही सागर और आरण अच्युत में बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनंतर अच्युत स्वर्ग से ऊपर कल्पातीत नव ग्रैवेयकों तक प्रत्येक ग्रैवेयक में क्रमशः बाईस सागर से एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट आयु है, तदनुसार अन्त के ग्रैवेयक में इकतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। नव अनुदिश पटल में बत्तीस सागर और पंचानुत्तर पटल में तेंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिये। तथा सौधर्म आदि स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है, सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त, वह उत्कृष्ट आयु अपने स्वर्ग से ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में जघन्य आयु है। (अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्ग में कुछ अधिक दो सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है, वह सानत्कुमार माहेन्द्र में जघन्य है। इस क्रम से सर्वार्थसिद्धि के पहले २ जघन्य आयु है।) शेष विशेष व्याख्यान त्रिलोकसार आदि से जानना चाहिए।

विशेष—आदि मध्य तथा अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाव परमात्मदेव में पूर्ण विमल केवल ज्ञानमयी नेत्र है, उसके द्वारा जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बों का भान होता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ देखे जाते हैं, जाने जाते हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं। इस कारण वह निज शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है, अथवा उस निश्चय लोक वाले निज शुद्ध परमात्मा में जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है। 'संज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियों के वश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः । "सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा अट्टरुद्दाणि । णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदो होदि । १।" इति गाथोदितविभावपरिणाममादिं कृत्वा समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्पत्यागेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकसुखामृतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा। शेषा पुनर्व्यवहारेणेत्येवं संक्षेपेण लोकानुप्रेक्षाव्याख्यानं समाप्तम् ॥ १० ॥

अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षां कथयति। तथाहि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्त्तनक्रोधादिकषायनिवर्त्तनेषु परं परं दुर्लभेषु कथंचित् काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधेः फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपात्मकनिर्मलधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपः परमसमाधिर्दुर्लभः । कस्मादिति चेत्तत्प्रतिबन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति । तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीयः। तद्भावनारहितानां पुनरपि संसारे पतनमिति । तथा चोक्तम्—"इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् । १ ।" पुनश्चोक्तं मनुष्यभवदुर्लभत्वम्—"अशुभ-

---

होना आर्त्त–रौद्र–ध्यान तथा दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पाप को देने वाले हैं ।' इस गाथा में कहे हुए विभाव परिणाम आदि सम्पूर्ण शुभ–अशुभ संकल्प विकल्पों के त्याग से और निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद सुख रूपी अमृत के आस्वाद के अनुभव से जो भावना होती है, वही निश्चय से लोकानुप्रेक्षा है, शेष व्यवहार से है। इस प्रकार संक्षेप से लोकानुप्रेक्षा का वर्णन समाप्त हुआ। १०।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, सुन्दर रूप, इन्द्रियों की पूर्णता, कार्य कुशलता, नीरोग, दीर्घ आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना–ग्रहण करना–धारण करना–श्रद्धान करना, संयम, विषय सुखों से पराङ्मुखता, क्रोध आदि कषायों से निवृत्ति, ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। कदाचित् काकतालीय न्याय से इन सबके प्राप्त हो जाने पर भी, इनकी प्राप्ति रूप बोधि के फलभूत जो निज शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान रूप परम समाधि है, वह दुर्लभ है। परम समाधि दुर्लभ क्यों है? समाधान—परम समाधि को रोकने वाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबंध आदि जो विभाव परिणाम हैं, उनकी जीवों में प्रबलता है, इसलिये परमसमाधि का होना दुर्लभ है। इस कारण उस परमसमाधि की ही निरन्तर भावना करनी चाहिये। क्योंकि, उस भावना से रहित जीवों का फिर भी संसार में पतन होता है। सो ही कहा है—"जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभरूप बोधि को प्राप्त होकर, प्रमादी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणामबहुलता लोकस्य विपुलता, महामहती। योनिविपुलता च कुरुते सुदुर्लभां मानुषीं योनिम्। १।" बोधिसमाधिलक्षणं कथ्यते—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति। एवं संक्षेपेण दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता। ११।

अथ धर्मानुप्रेक्षां कथयति। तद्यथा—संसारे पतन्तं जीवमुद्धृत्य नागेन्द्रनरेन्द्रदेवेन्द्रादिवन्द्ये अव्याबाधानंतसुखाद्यनंतगुणलक्षणे मोक्षपदे धरतीति धर्मः। तस्य च भेदाः कथ्यन्ते—अहिंसालक्षणः सागारानगारलक्षणो वा उत्तमक्षमादिलक्षणो वा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मको वा शुद्धात्मसंविच्यात्मकमोहक्षोभरहितात्मपरिणामो वा धर्मः। अस्य धर्मस्यालाभेऽतीतानन्तकाले "णिच्चिदरधाउसत्त य तरुदस वियलेंदियेसु छच्चेव। सुरणिरयतिरियचउरो चउदस मणुयेसु सदसहस्सा। १।" इति गाथाकथितचतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये परमस्वास्थ्यभावनोत्पन्ननिर्व्याकुलपारमार्थिकसुखविलक्षणानि पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषजनितव्याकुलत्वोत्पादकानि दुःखानि

होता है वह बेचारा संसाररूपी भयंकर वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है। १।" मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय में भी कहा है—'अशुभ परिणामों की अधिकता, संसार की विशालता और बड़ी २ योनियों की अधिकता, ये सब बातें मनुष्य योनि को दुर्लभ बनाती है।' बोधि व समाधि का लक्षण कहते हैं—पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाती है, और उन्हीं सम्यग्दर्शन आदिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना सो समाधि है। इस प्रकार संक्षेप से दुर्लभ-अनुप्रेक्षा का कथन समाप्त हुआ। ११।

अब धर्मानुप्रेक्षा को कहते हैं। संसार में गिरते हुए जीव को उठाकर, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र आदि द्वारा पूज्य अथवा बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त-गुणरूप मोक्ष पद में जो धरता है वह धर्म है। उस धर्म के भेद कहे जाते हैं—अहिंसा लक्षणवाला, गृहस्थ और मुनि इन लक्षण वाला, उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाला, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय-स्वरूप अथवा शुद्ध आत्मानुभवरूप मोह-क्षोभरहित आत्म-परिणाम वाला धर्म है। परम-स्वास्थ्य-भावना से उत्पन्न व व्याकुलतारहित पारमार्थिक सुख से विलक्षण तथा पांचों इन्द्रियों के सुखों की वांछा से उत्पन्न और व्याकुलता करने वाले दुःखों को सहते हुए, इस जीव ने ऐसे धर्म की प्राप्ति न होने से 'नित्यनिगोद वनस्पति में सात लाख, इतर निगोद वनस्पति में सात लाख, पृथ्वीकाय में सात लाख, जलकाय में सात लाख, तेजकाय में सात लाख, वायुकाय में सात लाख, प्रत्येक वनस्पति में दस लाख, बे इंद्रिय तेइंद्रिय व चौइंद्रिय में दो-दो लाख, देव नारकी व तिर्यंच में चार-चार लाख तथा मनुष्यों में चौदह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहमानः सन् भ्रमितोऽयं जीवः। यदा पुनरेवंगुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा राजाधिराजार्द्धमाण्डलिकमहामाण्डलिकबलदेववासुदेवकामदेवसकलचक्रवर्त्ति-देवेन्द्रगणधरदेवतीर्थंकरपरमदेवप्रथमकल्याणत्रयपर्यन्तं विविधाभ्युदयसुखं प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाबलेनाक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते। तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायनं निधिनिधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्तामणिरिति। किं बहुना, ये जिनेश्वरप्रणीतं धर्मं प्राप्य दृढमतयो जातास्त एव धन्याः। तथा चोक्तम् "धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे। ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनीपस्थितमनीषाः। १।" इति संक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता। १२।

इत्युक्तलक्षणा अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोक-बोधिदुर्लभधर्मतत्वानुचिन्तनसंज्ञा निरास्रवशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य संवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षाः समाप्ताः।

अथ परीषहजयः कथ्यते—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्री-

---

लाख योनि' इस गाथा में कही हुई चौरासी लाख योनियों में, अतीत अनन्त काल तक परिभ्रमण किया है। जब इस जीव को पूर्वोक्त प्रकार के धर्म की प्राप्ति होती है तब राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव, तीर्थंकर परमदेव के पदों तथा तीर्थंकरों के गर्भ–जन्म तप कल्याणक तक अनेक प्रकार के वैभव सुखों को पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय अनन्त गुणों के स्थानभूत अरहंत पद को और सिद्ध पद को प्राप्त होता है। इस कारण धर्म ही परम रस के लिये रसायन, निधियों की प्राप्ति के लिये निधान, कल्प वृक्ष कामधेनु गाय और चिन्तामणि रत्न है। विशेष क्या कहें, जो जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म को पाकर दृढ़ बुद्धिधारी (सम्यग्दृष्टि) हुए हैं वे ही धन्य हैं। सो ही कहा है—"जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट धर्म से जो प्रतिबोध को प्राप्त हुए वे धन्य हैं तथा जिन आत्मानुभव में संलग्न बुद्धि वालों ने धर्म को ग्रहण किया वे सब धन्य हैं। १।" इस प्रकार संक्षेप से धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई। १२।

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाली, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मतत्त्व के अनुचिंतन संज्ञा (नाम) वाली और आस्रवरहित–शुद्ध–आत्मतत्व में परिणतिरूप संवर की कारणभूत बारह अनुप्रेक्षा समाप्त हुईं।

अब परीषह–जय का कथन करते हैं—क्षुधा १, प्यास २; शीत ३; उष्ण ४, दंश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानीति द्वाविंशतिपरीषहा विज्ञेयाः। तेषां क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभनिंदाप्रशंसादिसमतारूपपरमसामायिकेन नवतरशुभाशुभकर्मसंवरणचिरंतनशुभाशुभकर्मनिर्जरणसमर्थेनायं निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकारनित्यानंदलक्षणसुखामृतसंवित्तेरचलनं स परीषहजय इति।

अथ चारित्रं कथयति। शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम्। तच्च तारतम्यभेदेन पञ्चविधम्। तथाहि—सर्वे जीवाः केवलज्ञानमया इति भावनारूपेण समतालक्षणं सामायिकम्, अथवा परमस्वास्थ्यबलेन युगपत्समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्पत्यागरूपसमाधिलक्षणं वा, निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन रागद्वेषपरिहाररूपं वा, स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्त्तरौद्रपरित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादिमध्यस्थरूपं चेति। अथ छेदोपस्थापनं कथयति—यदा युगपत्समस्तविकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा

मशक (डांस-मच्छर) ५; नग्नता ६; अरति ७; स्त्री ८; चर्या ९; निषद्या (बैठना) १०; शय्या ११; आक्रोश १२; वध १३; याचना १४; अलाभ १५; रोग १६; तृणस्पर्श १७; मल १८; सत्कारपुरस्कार १९; प्रज्ञा (ज्ञान का मद) २०; अज्ञान २१ और अदर्शन २२। ये बाईस परीषह जानने चाहिए। इन क्षुधा आदि वेदनाओं के तीव्र उदय होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा आदि में समता रूप परम सामायिक के द्वारा तथा नवीन शुभ-अशुभ कर्मों के रुकने और पुराने शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा की सामर्थ से इस जीव का, निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न, विकार रहित, नित्यानंदरूप सुखामृत अनुभव से, जो नहीं चलना सो परीषहजय है।

अब चारित्र का वर्णन करते हैं। शुद्ध उपयोग लक्षणात्मक निश्चय रत्नत्रयमयी परिणतिरूप आत्मस्वरूप में जो आचरण या स्थिति, सो चारित्र है। वह तारतम्य भेद से पांच प्रकार का है। तथा—सब जीव केवल ज्ञानमय हैं, ऐसी भावना से जो समता परिणाम का होना सो सामायिक है। अथवा परम स्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभ, अशुभ संकल्प विकल्पों के त्यागरूप जो समाधि (ध्यान), वह सामायिक है। अथवा निर्विकार आत्म-अनुभव के बल से राग द्वेष परिहार (त्याग) रूप सामायिक है। अथवा शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से आर्त्तरौद्र ध्यान के त्याग स्वरूप सामायिक है। अथवा समस्त सुख-दुःखों में मध्यस्थ भावरूप सामायिक है। अब छेदोपस्थापन का कथन करते हैं—जब एक ही साथ समस्त विकल्पों के त्यागरूप परम सामायिक में स्थित होने में यह जीव असमर्थ होता है, तब 'समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरति सो व्रत है' इन पांच प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वास्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यनेन पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थानम् । अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारस्वसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति । अथ परिहारविशुद्धिं कथयति—"तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं च तित्थयरमूले । पच्चक्खाणं पढिदो संज्झूणे दुगाउ य विहारो । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण मिथ्यात्वरागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति । अथ सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं कथयति । सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कषायस्य यत्र निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमिति । अथ यथाख्यातचारित्रं कथयति—यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति ।

इदानीं सामायिकादिचारित्रपञ्चकस्य गुणस्थानस्वामित्वं कथयति । प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये सामायिकचारित्रं भवति छेदोपस्थाप-

---

भेद विकल्प रूप व्रतों का छेद होने से राग आदि विकल्परूप सावद्यों से अपने आपको छुड़ा कर निज शुद्ध आत्मा में अपने को उपस्थापन करना छदोपस्थापना है। अथवा छेद अर्थात् व्रत का भंग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभवरूप निश्चय प्रायश्चित के बल से और उसके साधकरूप बहिरङ्ग व्यवहार प्रायश्चित्त से निज आत्मा में स्थित होना, छेदोपस्थापन है। परिहार विशुद्धि को कहते हैं—'जो जन्म से ३० वर्ष सुख से व्यतीत करके वर्षपृवक्त्व (८ वर्ष) तक तीर्थंकर के चरणों में प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व को पढ़कर तीनों संध्याकालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन करता है । १ ।' इस गाथा में कहे क्रम अनुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्प मलों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूप से जो आत्म-शुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहार विशुद्धि चारित्र है। अब सूक्ष्म-सांपराय चारित्र को कहते हैं—सूक्ष्म अतिन्द्रिय निज शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से सूक्ष्म-लोभ नामक सांपराय—कषाय का पूर्णरूप से उपशमन अथवा क्षपण (क्षय). सो सूक्ष्म-सांपराय चारित्र है। अब यथाख्यात चारित्र को कहते हैं—जैसा निष्कंप सहज शुद्ध-स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया, सो यथाख्यात चारित्र है ।

अब गुणस्थानों में सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का कथन करते हैं—प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानों में सामायिक-छेदोपस्थापन ये दो चारित्र होते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र—प्रमत्त, अप्रमत्त इन दो गुण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नंच, परिहारविशुद्धिस्तुप्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये, सूक्ष्मसांपरायचारित्रं पुनरेकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने, यथाख्यातचारित्रमुपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिजिनायोगिजिनाभिधानगुणस्थानचतुष्टये भवतीति । अथ संयमप्रतिपक्षं कथयति—संयमासंयमसंज्ञं दार्शनिकाद्येकादशभेदभिन्नं देशचारित्रमेकस्मिन्नेव पञ्चमगुणस्थाने ज्ञातव्यम् । असंयमस्तु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये भवति । इति चारित्रव्याख्यानं समाप्तम् ।

एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यान कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानी पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि । यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानिभवन्तीति ज्ञातव्यम् । अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी—भगवन्नेतेषु व्रतादिसंवरकारणेषु मध्ये संवरानुप्रेक्षैव सारभूता, सा चैव संवरं करिष्यति किं विशेषप्रपञ्चेनेति । भगवानाह—त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधि-

---

स्थानों में होता है । सूक्ष्म-सांपराय चारित्र—एक सूक्ष्म-सांपराय दसवें गुणस्थान में ही होता है । यथाख्यात चारित्र—उपशांत कषाय, क्षीण कषाय, सयोगिजिन और अयोगिजिन इन चार गुणस्थानों में होता है । अब संयम के प्रतिपक्षी (संयमासंयम और असंयम) को कहते हैं—दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमारूप संयमासंयम नाम वाला देश चारित्र, एक पंचम गुणस्थान में ही जानना चाहिए । असंयम—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत–सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में होता है । इस प्रकार चारित्र का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

इस प्रकार भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, इन सबका जो व्याख्यान किया, उसमें निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग के निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं, वे पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिए । जो व्यवहार रत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य हैं, वे पुण्य–पाप इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

यहाँ सोम नामक राजसेठ कहता है कि हे भगवन् ! इन व्रत, समिति आदिक संवर के कारणों में संवरानुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर कर देगी फिर विशेष प्रपंच से क्या प्रयोजन ? भगवान् नेमिचन्द्र आचार्य उत्तर देते हैं—मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थानां यतीनां तयैव पूर्यते तत्रासमर्थानां पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिपक्षभूतो मोहो विजृम्भते, तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्याः "असिदिसदं किरियाणं अकिरियाणं तु होइ चुलसीदी। सत्तट्ठी अण्णाणीणं वेणइयाणं हुंति बत्तीसं। १। जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति। अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधो ठिदिकारणं णत्थि। २।' ॥ ३५ ॥ एवं संवरतत्त्वव्याख्याने सूत्रद्वयेन तृतीयं स्थलं गतम्।

अथ सम्यग्दृष्टिजीवस्य संवरपूर्वकं निर्जरातत्त्वं कथयति :—

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ ३६ ॥

यथाकालेन तपसा च भुक्तरसं कर्म्मपुद्गलं येन।
भावेन सडति ज्ञेया तस्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ॥ ३६ ॥

व्याख्या :—'णेया' इत्यादिव्याख्यानं क्रियते—'णेया' ज्ञातव्या। का?

स्वरूप निर्विकल्प ध्यान में स्थित मुनि के तो उस संवर अनुप्रेक्षा से ही संवर हो जाता है; किन्तु उसमें असमर्थ जीवों के अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन करते हैं।

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२, ऐसे कुल मिलाकर तीन सौ तिरेसठ भेद पाखंडियों के हैं। १। योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है और जिसके कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हो गया है, ऐसे उपशांत कषाय व क्षीण कषाय और सयोगकेवली हैं उनमें तत्काल (एक समय वाला) बंध स्थिति का कारण नहीं है।२।' ॥ ३५ ॥ इस प्रकार संवर तत्त्व के व्याख्यान में दो सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल समाप्त हुआ।

अब सम्यग्दृष्टि जीव के संवर-पूर्वक निर्जरा तत्त्व को कहते हैं—

गाथार्थ :—आत्मा के जिस भाव से यथा समय (उदय काल में) अथवा तप द्वारा फल देकर कर्म नष्ट होता है, वह भाव (परिणाम) भावनिर्जरा है और कर्म पुद्गलों का झड़ना, गलना द्रव्य निर्जरा है। भावनिर्जरा व द्रव्यनिर्जरा की अपेक्षा निर्जरा दो प्रकार है ॥ ३६ ॥

वृत्त्यर्थ :—'णेया' इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते हैं। 'णेया' जानना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'णिज्जरा' भाव निर्जरा। सा का ? निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसञ्जात-सहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भाव इत्याध्याहारः। 'जेण भावेण' येन भावेन जीवपरिणामेन। किं भवति 'सडदि' विशीर्यते पंतति गलति विनश्यति। किं कर्तृ ? 'कम्मपुग्गलं' कर्मारिविध्वंसकस्वकीयशुद्धात्मनो विलक्षणं कर्मपुद्गल-द्रव्यं। कथंभूतं ? 'भुत्तरसं' स्वोदयकालं प्राप्य सांसारिकसुखदुःखरूपेण भुक्तरसं दत्तफलं। केन कारणभूतेन गलति ? 'जहकालेण' स्वकालपच्यमानाम्रफलवत्स-विपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिपरिणामस्य बहिरंगसहकारि-कारणभूतेन काललब्धिसंज्ञेन यथाकालेन, न केवलं यथाकालेन "तवेण य" अका-लपच्यमानानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरेण समस्तपरद्रव्येच्छा-निरोधलक्षणेन बहिरंगेणान्तस्तत्त्वसंवित्तिसाधकसंभूतेनानशनादिद्वादशविधेन तपसा चेति। "तस्सडणं" कर्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। ननु पूर्वं यदुक्तं 'सडदि' तेनैव द्रव्यनिर्जरा लब्धा, पुनरपि 'सडणं' किमर्थं भणितम् ? तत्रोत्तरम्— तेन सडदिशब्देन निर्मलात्मानुभूतिग्रहणभावनिर्जराभिधानपरिणामस्य सामर्थ्यमुक्तं, न च द्रव्यनिर्जरेति। "इदि दुविहा" इति द्रव्यभावरूपेण निर्जरा द्विविधा भवति।

किसको ? 'णिज्जरा' भाव निर्जरा को। वह क्या है ? निर्विकार परम चैतन्य चित्-चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहज-आनन्द-स्वभाव सुखामृत के आस्वाद रूप, वह भाव निर्जरा है। यहाँ 'भाव' शब्द का अध्याहार (विवक्षा से ग्रहण) किया गया है। 'जेण भावेण' जीव के जिस परिणाम से क्या होता है ? 'सडदि' जीर्ण होता है, गिरता है, गलता है अथवा नष्ट होता है। कौन ? 'कम्मपुग्गलं' कर्म शत्रुओं का नाश करने वाले निज शुद्ध-आत्मा से विलक्षण कर्मरूपी पुद्गल द्रव्य। कैसा होकर ? 'भुत्तरसं' अपने उदयकाल में जीव को सांसारिक सुख तथा दुःख रूप रस देकर। किस कारण गलता है ? 'जहकालेण' अपने समय पर पकने वाले आम के फल के समान सविपाक निर्जरा की अपेक्षा, अन्तरंग में निज-शुद्ध-आत्म-अनुभव रूप परिणाम के बहिरंग सहकारी कारणभूत काल-लब्धि रूप यथा समय गलते हैं, मात्र यथा काल से ही नहीं गलते किन्तु 'तवेण य' बिना समय पके हुए आम आदि फलों के सदृश, अविपाक निर्जरा की अपेक्षा, समस्त परद्रव्यों में इच्छा के रोकने रूप अभ्यंतर तप से और आत्म-तत्व के अनुभव को साधने वाले उपवास आदि बारह प्रकार के बहिरंग तप से भी गलते हैं। 'तस्सडणं' उस कर्म का गलना द्रव्य निर्जरा है। शंका—आपने जो पहले 'सडदि' ऐसा कहा है उसी से द्रव्यनिर्जरा प्राप्त हो गई, फिर 'सडणं' इस शब्द का दुबारा कथन क्यों किया ? समाधान—पहले जो 'सडदि' शब्द कहा गया है, उससे निर्मल आत्मा के अनुभव को ग्रहण करने रूप भाव निर्जरा नामक परिणाम की सामर्थ्य कही गई है, द्रव्य निर्जरा का कथन नहीं किया गया। 'इदि दुविहा' इस प्रकार द्रव्य और भाव स्वरूप से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्राह शिष्यः—सविपाकनिर्जरा नरकादिगतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति। तत्रोत्तरम्—अत्रैवमोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या। या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला। यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति, तेन कारनेन सा न ग्राह्या। या तु सरागसद्दृष्टीनां निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति तथापि संसारस्थितिं स्तोकां कुरुते। तद्भवे तीर्थकरप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। वीतरागसद्दृष्टीनां पुनः पुण्यंपापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति। उक्तं च श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः 'जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसदसहस्सकोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।१।' कश्चिदाह—सद्दृष्टीनां वीतरागविशेषणं किमर्थं, 'रागादयो हेयो, मदीया न भवन्ति' इति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति। तत्र परिहारः। अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति।

यहाँ शिष्य पूछता है कि जो सविपाक निर्जरा, है वह तो नरक आदि गतियों में अज्ञानियों के भी होती हुई देखी जाती है। इसलिये सम्यग्ज्ञानियों के सविपाक निर्जरा होती है, यह नियम नहीं है। इसका उत्तर यह है—यहाँ (मोक्ष प्रकरण में) जो संवर-पूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही मोक्ष का कारण है। और जो अज्ञानियों के निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथी के स्नान) के समान निष्फल है। क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े कर्मों की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बाँधता है। इस कारण अज्ञानियों की निर्जरा का यहाँ ग्रहण नहीं है। सराग सम्यग्दृष्टियों के जो निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है, (शुभ कर्मों का नाश नहीं करती) फिर भी संसार की स्थिति को थोड़ा करती है अर्थात् जीव के संसार भ्रमण को घटाती है। उसी भव में तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य बंध का कारण हो जाती है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होने पर उसी भव में वह निर्जरा मोक्ष का कारण होती है। सो ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने कहा है—'अज्ञानी जिन कर्मों का एक लाख करोड़ वर्षों में नाश करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी जीव मन-वचन-काय की गुप्ति द्वारा एक उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है।१।'

यहाँ कोई शंका करता है कि सम्यग्दृष्टियों के 'वीतराग' विशेषण किस लिये लगाया है, क्योंकि 'राग आदि भाव हेय हैं, ये मेरे नहीं हैं' ऐसा भेद-विज्ञान होने पर, उसके राग का अनुभव होते हुए भी ज्ञानमात्र से ही मोक्ष हो जाती है ? समाधान—अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा बिना दीपक के है। उस दीपक रहित पुरुष को, कुएं तथा सर्प आदि का ज्ञान नहीं होता, इसलिये कुएं आदि में गिरकर नाश होने में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति, तस्य विनाशे दोषो नास्ति। यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफलं नास्ति। यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति। तथा कोऽपि रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेद-विज्ञानं न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्। तथा चोक्तं—'चक्खुस्स दंस-णस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहारणं। चक्खू होइ णिरत्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स' ॥ ३६ ॥ एवं निर्जराव्याख्याने सूत्रेणैकेन चतुर्थस्थलं गतम्।

अथ मोक्षतत्त्वमावेदयति :—

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ॥ ३७ ॥

सर्वस्य कर्मणः यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः।
ज्ञेयः सः भावमोक्षः द्रव्यविमोक्षः च कर्मपृथग्भावः ॥ ३७ ॥

उसका दोष नहीं। हाथ में दीपक वाले मनुष्य का कुंए में गिरने आदि से नाश होने पर, दीपक का कोई फल नहीं हुआ। जो कूपपतन आदि से बचता है उसके दीपक का फल है। इसी प्रकार जो कोई मनुष्य 'राग आदि हेय हैं, मेरे नहीं हैं' इस भेद-विज्ञान को नहीं जानता, वह तो कर्मों से बंधता ही है। दूसरा कोई मनुष्य भेद-विज्ञान के होने पर भी जितने अंशों में रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशों से वह भेद-विज्ञानी भी बंधता ही है; उसके रागादि के भेद-विज्ञान का भी फल नहीं है। जो राग आदिक भेद-विज्ञान होने पर राग आदि का त्याग करता है उसके भेद-विज्ञान का फल है, ऐसा जानना चाहिए। सो ही कहा है—'मार्ग में सर्प आदि से बचना, नेत्रों से देखने का यह फल है; देखकर भी सर्प के बिल में पड़ने वाले के नेत्र निरर्थक हैं।' ॥ ३६ ॥ इस प्रकार निर्जरा तत्त्व के व्याख्यान में एक सूत्र द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

अब मोक्षतत्त्व को कहते हैं:—

गाथार्थ :—सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है, उसको भाव मोक्ष जानना चाहिए। कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक होना, द्रव्यमोक्ष है। ३७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—यद्यपि सामान्येन निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षो भण्यते तथापि विशेषेण भावद्रव्यरूपेण द्विधा भवतीति वार्तिकम्। तद्यथा—"णेयो स भावमुक्खो" णेयो ज्ञातव्यः स भावमोक्षः। स कः? "अप्पणो हु परिणामो" निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो "हु" स्फुटमात्मनः परिणामः। कथंभूतः? "सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू" सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणो यः क्षयहेतुरिति। द्रव्यमोक्षं कथयति। "दव्वविमुक्खो" अयोगिचरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति। कोऽसौ? "कम्मपुहभावो" टङ्कोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मन आयुरादिशेषाघातिकर्मणामपि य आत्यन्तिकपृथग्भावो विश्लेषो विघटनमिति।

तस्य मुक्तात्मनः सुखं कथ्यते। "आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम्। अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममपितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातं।१।'

वृत्त्यर्थ :—यद्यपि सामान्य रूप से सम्पूर्णतया कर्ममल-कलंक-रहित, शरीर रहित आत्मा के आत्यन्तिक-स्वाभाविक-अचिन्त्य-अद्भुत तथा अनुपम सकल विमल केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों का स्थान रूप जो अवस्थान्तर है, वही मोक्ष कहा जाता है; फिर भी भाव और द्रव्य के भेद से, वह मोक्ष दो प्रकार का होता है, यह वार्त्तिक पाठ है। सो इस प्रकार है—'णेयो स भावमुक्खो' वह भावमोक्ष जानना चाहिए। वह कौन?, 'अप्पणो हु परिणामो' निश्चय रत्नत्रय रूप कारण समयसार रूप आत्म-परिणाम। वह आत्मा का परिणाम कैसा है? 'सव्वस्स कम्मणणो जो खयहेदू' सब द्रव्य-भावरूप मोहनीय आदि चार घातियाकर्मों के नाश का जो कारण है। द्रव्यमोक्ष को कहते हैं—'दव्वविमुक्खो' अयोगी गुणस्थान के अन्त समय में द्रव्यमोक्ष होता है। वह द्रव्यमोक्ष कैसा है? 'कम्मपुहभावो' टंकोत्कीर्ण शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव स्वरूप परमात्मा से, आयु आदि शेष चार अघातिया कर्मों का भी सर्वथा पृथक होना, भिन्न होना या विघटना, सो द्रव्यमोक्ष है।

उस मुक्तात्मा के सुख का वर्णन करते हैं—'आत्मा-उपादान कारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि-ह्रास से रहित, विषयों से रहित, प्रतिद्वन्द्व (प्रतिपक्षता) से रहित, अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष, उपमा रहित, अपार, नित्य, सर्वदा उत्कृष्ट तथा अनन्त सारभूत परमसुख उन सिद्धों के होता है। १।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कश्चिदाह—इन्द्रियसुखमेव सुखं, मुक्तात्मनामिन्द्रियशरीराभावे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखं कथं घटत इति ? तत्रोत्तरं दीयते—सांसारिकसुखं तावत् स्त्रीसेवादिपञ्चेन्द्रियविषयप्रभवमेव, यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखमत्रैव दृश्यते। पञ्चेन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानां निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम्। यच्च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितानां सर्वप्रदेशाह्लादैकपारमार्थिकपरमानन्दपरिणतानां मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदत्यन्तविशेषेण ज्ञातव्यम्। अत्राह शिष्यः—संसारिणां निरन्तरं कर्मबन्धोस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति ? तत्र प्रत्युत्तरं—यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति। तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति, हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया 'खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करणलद्धी य। चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते।१।'

शंका—जो सुख इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, वही सुख है; सिद्ध जीवों के इन्द्रियों तथा शरीर का अभाव है, इसलिये पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख सिद्धों के कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं—सांसारिक सुख तो स्त्री सेवन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है, किन्तु पांचों इन्द्रियों के विषयों के व्यापार से रहित तथा निर्व्याकुल चित्त वाले पुरुषों को जो सुख है, वह अतीन्द्रिय सुख है, वह इस लोक में भी देखा जाता है। पांचों इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पों से रहित तथा निर्विकल्प ध्यान में स्थित परम योगियों के राग आदि के अभाव से जो स्वसंवेद्य (अपने अनुभव में आने वाला) आत्मिक सुख है वह विशेष रूप से अतीन्द्रिय सुख है। भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित आत्मा के समस्त प्रदेशों में आह्लाद रूप पारमार्थिक परम सुख में परिणत मुक्त जीवों के जो अतीन्द्रिय सुख है, वह अत्यन्त विशेष रूप से अतीन्द्रिय है।

यहाँ शिष्य कहता है—संसारी जीवों के निरन्तर कर्मों का बंध होता है, इसी प्रकार कर्मों का उदय भी सदा होता रहता है, शुद्ध आत्म-ध्यान का प्रसंग ही नहीं। तब मोक्ष कैसे होती है ? इसका उत्तर देते हैं—जैसे कोई बुद्धिमान्, शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर विचार करता है कि 'यह मेरे मारने का अवसर है', इसलिये पुरुषार्थ करके शत्रु को मारता है। इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एक रूप अवस्था नहीं रहती, स्थिति और अनुभाग की न्यूनता होने पर जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते हैं, तब बुद्धिमान् भव्य जीव, आगम भाषा से 'क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियाँ हैं, इनमें चार तो सामान्य हैं (सभी जीवों को हो सकती हैं), करण लब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति । यत्पुनरन्तः कोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जाते अपि सत्ययं जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपां कर्महननबुद्धिं क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति । अन्यदपि दृष्टान्तनवकं मोक्षविषये ज्ञातव्यम्—"रयण दीव दिणयर दहिउ दुद्धउ घीव पहाणु । सुण्णुरुप्पफलिहउ अगणि, णव दिट्ठंता जाणि । १ ।" नन्वनादिकाले मोक्षं गच्छतां जीवानां जगच्छून्यं

है । १ ।' इस गाथा में कही हुई पांच लब्धियों से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्मल भावना विशेष रूप खड्ग से पौरुष करके, कर्म शत्रु को नष्ट करता है । अन्तः-कोटाकोटि-प्रमाण कर्मस्थिति रूप तथा लता व काष्ठ के स्थानापन्न अनुभाग रूप से कर्मभार हलका होजाने पर भी यदि यह जीव आगम भाषा से अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक और अध्यात्म भाषा से स्वशुद्ध-आत्मसन्मुख परिणाम रूप ऐसी कर्मनाशक बुद्धि को किसी भी समय नहीं करेगा, तो यह अभव्यत्व गुण का लक्षण जानना चाहिए । अन्य भी नौ दृष्टान्त मोक्ष के विषय में जानने योग्य हैं ।

"रत्न, दीपक, सूर्य, दूध, दही, घी, पाषाण, सोना, चांदी, स्फटिकमणि और अग्नि इन नौ दृष्टांतों से जानना चाहिये । १ ।" (१. रत्न—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नत्रयमयी होने से आत्मा रत्न के समान है । २. दीपक—स्व पर प्रकाशक होने से आत्मा दीपक के समान है । ३. सूर्य—केवल-ज्ञानमयी तेज से प्रकाशमान होने से आत्मा सूर्य के समान है । ४. दूध दही घी—सार वस्तु होने से परमात्मा रूपी आत्मा घी के समान है । संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से रहता है, जैसे दूध व दही में घी रहता है । अतः संसारी आत्मा की अपेक्षा आत्मा दूध या दही के समान है । ५. पाषाण—टंकोतकीरण ज्ञायक स्वभाव होने से आत्मा पाषाण के समान है । ६. सुवर्ण—कर्म रूपी कालिमा से रहित होने से आत्मा सुवर्ण के समान है । ७. चाँदी—स्वच्छ होने से आत्मा चाँदी के समान है । ८. स्फटिक—स्फटिक, स्वभाव से निर्मल होने पर भी, हरी पीली काली डांक के निमित्त से हरी पीली काली रूप परिणम जाती है और डांक के अभाव में शुद्ध निर्मल हो जाती है । इसी प्रकार आत्मा, स्वभाव से निर्मल होने पर भी, कर्मोदय के निमित्त से राग द्वेष मोह रूप परिणमती हैं और कर्म के अभाव में शुद्ध निर्मल हो जाती है, अतः आत्मा स्फटिक के समान है । ९. अग्नि—जैसे अग्नि इंधन को जलाती है, इसी प्रकार आत्मा कर्म रूपी इंधन को जलाती है, अतः आत्मा अग्नि के समान है ।)

शंका—अनादि काल से जीव मोक्ष को जा रहे हैं, अतः यह जगत् कभी जीवों से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भविष्यतीति ? तत्र परिहारः —यथा भावितकालसमयानां क्रमेण गच्छतां यद्यपि भाविकालसमयराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । तथा मुक्तिं गच्छतां जीवानां यद्यपि जीवराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । इति चेत्तर्हि पूर्वकाले बहवोऽपि जीवा मोक्षं गता इदानीं जगतः शून्यत्वं किं न दृश्यते । किञ्चाभव्यानामभव्यसमानभव्यानां च मोक्षो नास्ति कथं शून्यत्वं भविष्यतीति ॥ ३७ ॥ एवं संक्षेपेण मोक्षतत्त्वव्याख्यानेनैकसूत्रेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

अतः ऊर्ध्वं षष्ठमस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपापप्रकृतिसंख्यां कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदम् प्रतिपादयति :—

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥ ३८ ॥

शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्यं पापं भवन्ति खलु जीवाः ।
सातं शुभायुः नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च ॥ ३८ ॥

बिलकुल शून्य हो जायेगा ? इसका परिहार—जैसे भविष्यत् काल सम्बन्धी समयों के क्रम से जाने पर यद्यपि भविष्यत्काल के समयों की राशि में कमी होती है फिर भी उस का अंत नहीं होगा । इसी प्रकार जीवों के मुक्ति में जाने से यद्यपि जगत् में जीवराशि की न्यूनता होती है, तो भी उस जीवराशि का अन्त नहीं होगा । यदि जीवों के मोक्ष जाने से शून्यता मानते हो तो पूर्वकाल में बहुत जीव मोक्ष गये हैं, तब भी इस समय जगत् में जीवों की शून्यता क्यों नहीं दिखाई पड़ती ? अर्थात् शून्यता नहीं हुई । और भी —अभव्य जीवों तथा अभव्यों के समान दूरानदूर भव्य जीवों का मोक्ष नहीं है । फिर जगत् की शून्यता कैसे होगी ॥ ३७ ॥ इस प्रकार संक्षेप से मोक्षतत्त्व के व्याख्यान रूप एक सूत्र से पंचम स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे छठे स्थल में "गाथा के पूर्वार्ध से पुण्य पाप रूप दो पदार्थों को और उत्तरार्ध से पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियों की संख्या को कहता हूं" इस अभिप्राय को मन में रखकर, भगवान् इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं :—

गाथार्थ :—शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव, पुण्य-पाप रूप होते हैं । सातावेदनीय, शुभ-आयु, शुभ-नाम तथा उच्च-गोत्र, ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं । शेष सब पाप प्रकृतियाँ हैं ॥ ३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा" चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्यपापबन्धमोक्षादिपर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकर्मबन्धपर्यायेण पुण्यं पापं च भवन्ति खलु स्फुटं जीवाः । कथंभूताः सन्तः ? "सुहअसुहभावजुत्ता" 'उद्धममिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम् । भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि । १ । पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् । दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरुद्योगम् । २ ।' इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः । इदानीं पुण्यपापभेदान् कथयति "सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं" सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं भवति "पराणि पावं च" तस्मादपराणि कर्माणि पापं चेति । तद्यथा—सद्वेद्यमेकं, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, सुभगयशःकीर्त्तितीर्थकरत्वादिनामप्रकृतीनां सप्तत्रिंशत्, तथोच्चैर्गोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्यप्रकृतयो विज्ञेयाः । शेषा द्व्यशीतिपापमिति । तत्र 'दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-

---

वृत्त्यर्थ :—"पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा" चिदानन्द एक-सहज-शुद्ध-स्वभाव से यह जीव, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि पर्याय रूप विकल्पों से रहित है, तो भी परम्परा—अनादि कर्मबन्ध पर्याय से पुण्य-पाप रूप होते हैं। कैसे होते हुए जीव पुण्य-पाप को धारण करते हैं ? "सुहअसुहभावजुत्ता", "मिथ्यात्व रूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो। १। पाँच महाव्रतों का पालन करो, क्रोध आदि चार कषायों का पूर्णरूप से निग्रह करो, प्रबल इन्द्रियों को विजय करो तथा बाह्य-अभ्यन्तर तप को सिद्ध करने में उद्योग करो। २।" इस प्रकार दोनों आर्याछन्दों में कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त जीव, पुण्य-पाप को धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य-पाप रूप हो जाते हैं। अब पुण्य तथा पाप के भेदों को कहते हैं। "सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं" साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र ये कर्म तो पुण्य रूप हैं। "पराणि पावं च" इनसे भिन्न शेष पाप कर्म हैं। इस प्रकार—साता वेदनीय एक, तिर्यंच-मनुष्य-देव ये तीन आयु, सुभग-यशःकीर्ति-तीर्थंकर आदि नाम कर्म की सेंतीस और उच्च गोत्र ऐसे समुदाय से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ जाननी चाहियें। शेष ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं।

'दर्शनविशुद्धि १, विनयसंपन्नता २, शील और व्रतों का अतिचार रहित आचरण ३, निरन्तर ज्ञान उपयोग ४, संवेग ५, शक्ति अनुसार त्याग ६, शक्ति अनुसार तप ७, साधु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य' इत्युक्तलक्षणषोडशभावनोत्पन्नतीर्थकरनामकर्मैव विशिष्टं पुण्यम्। षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया "मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः। १।" इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम्। 'सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्', कथं पुण्यं करोतीति ? तत्र युक्तिमाह। यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिः अप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणास्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां (कृषकानां) पलालमिव अनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं

समाधि ८, वैयावृत्य करना ९, अर्हन्त-भक्ति १०, आचार्य-भक्ति ११, बहुश्रुत-भक्ति १२, प्रवचन-भक्ति १३, आवश्यकों में हानि न करना १४, मार्ग-प्रभावना १५ और प्रवचन-वात्सल्य १६ ये तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण हैं' इन सोलह भावनाओं से उत्पन्न तीर्थंकर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है। इन सोलह भावनाओं में, परमागम भाषा से 'तीन मूढ़ता, आठ मद, ६ अनायतन और आठ शंका आदि दोष ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष हैं। १।' इस श्लोक में कहे हुए पच्चीस दोषों से रहित तथा अध्यात्म भाषा से निज शुद्ध-आत्मा में उपादेयरूप रुचि, ऐसी सम्यक्त्व की भावना ही मुख्य है, ऐसा जानना चाहिये।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है ? युक्ति सहित समाधान—जैसे कोई मनुष्य अन्य देश में विद्यमान किसी मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों का, उस स्त्री की प्राप्ति के लिये दान-सम्मान आदि करता है; ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध-आत्मा को ही भाता है; परन्तु जब चारित्र मोह के उदय से उस निज-शुद्धात्म-भावना भाने में असमर्थ होता है, तब दोषरहित परमात्म स्वरूप अर्हन्त-सिद्धों की तथा उनके आराधक आचार्य-उपाध्याय-साधु की, परमात्मपद की प्राप्ति के लिए और विषय कषायों से बचने के लिए, पूजा दान आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति करता है। उनसे और भोगों की वांछा आदि रूप निदान रहित परिणामों से तथा निःस्पृह वृत्ति से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है, जैसे किसान चावलों के लिये खेती करता है, तो भी बिना इच्छा बहुत सा पलाल मिल ही जाता है। उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र, लोकान्तिक देव आदि की विभूति प्राप्त करके, विमान तथा परिवार आदि संपदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्य विमानपरिवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्—तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनो भावनामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति। मिथ्यादृष्टिस्तु तीव्रनिदानबन्धपुण्येन भोगं प्राप्य पश्चादर्द्धचक्रवर्त्तिरावणादिवन्नरकं गच्छतीति। एवमुक्तलक्षणपुण्यपापपदार्थद्वयेन सह पूर्वोक्तानि सप्तत्वान्येव नव पदार्था भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे "आसवबंधण" इत्यादि एका सूत्रगाथा तदनन्तरं गाथादशकेन स्थलषट्कं चेति समुदायेनैकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितीयोमहाधिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

को जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पञ्च महाविदेहों में जाकर देखता है। प्रश्न—क्या देखता है? उत्तर—वह यह समवसरण है, वे ये वीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे ये भेद-अभेद रत्नत्रय के आराधक गणधर देव आदि हैं; जो पहले सुने थे, वे आज प्रत्यक्ष देखे, ऐसा मानकर धर्म-बुद्धि को विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थान के योग्य आत्मभावना को न छोड़ता हुआ, भोग भोगता हुआ भी धर्मध्यान से काल को पूर्ण कर, स्वर्ग से आकर, तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है, तो भी पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट-भेदज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता, अतः जिन-दीक्षा धारण कर पुण्य-पाप से रहित निज परमात्मध्यान के द्वारा मोक्ष जाता है। मिथ्यादृष्टि तो, तीव्र निदानबंध वाले पुण्य से भोग प्राप्त करने के पश्चात् अर्ध-चक्रवर्त्ती रावण आदि के समान नरक को जाता है। एवं उक्त लक्षण वाले पुण्य-पाप रूप दो पदार्थ सहित पूर्वोक्त सात तत्त्व ही ९ पदार्थ हो जाते हैं। ऐसा जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तीदेव-विरचित द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में 'आसव-बंधण' आदि एक सूत्रगाथा, तदनंतर १० गाथाओं द्वारा ६ स्थल, इस तरह समुदाय रूप से ११ गाथाओं द्वारा सात तत्त्व, नो पदार्थ प्रतिपादन करने वाला दूसरा महा अधिकार समाप्त हुआ ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयः अधिकारः

अतः ऊर्ध्वं विंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति। तत्रादौ "सम्मद्दंसण" इत्याद्यष्टगाथाभिर्निश्चयमोक्षमार्गव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुख्यत्वेन प्रथमः अन्तराधिकारस्ततः परम् "दुविहं पि मुक्खहेउं" इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन द्वितीयोऽन्तराधिकारः। इति तृतीयाधिकारे समुदायेन पातनिका।

अथ प्रथमतः सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निश्चयमोक्षमार्गं निरूपयति :—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ३९ ॥

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि।
व्यवहारात् निश्चयतः तत्त्रिकमयः निजः आत्मा ॥ ३९ ॥

व्याख्या—"सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा"

तीसरा अधिकार

अब आगे बीस गाथाओं तक मोक्ष-मार्ग का कथन करते हैं। उसके प्रारम्भ में 'सम्मद्दंसणणाणं' इत्यादि आठ गाथाओं द्वारा प्रधानता से निश्चय मोक्ष-मार्ग और व्यवहार मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है। उसके अनंतर 'दुविहं पि मुक्खहेउं' आदि बारह गाथाओं से ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यान के फल को मुख्यता से कहने वाला द्वितीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार इस तृतीय अधिकार की समुदाय से भूमिका है।

अब प्रथम ही सूत्र के पूर्वार्ध से व्यवहार मोक्ष-मार्ग को और उत्तरार्ध से निश्चय मोक्ष-मार्ग को कहते हैं :—

गाथार्थ :—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चयनय से मोक्ष का कारण जानो ॥ ३९ ॥

वृत्त्यर्थ :—'सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा' हे शिष्य!

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणं, हे शिष्य ! जानीहि व्यवहारनयात् । "णिच्छयदो तित्तियमइओ णिओ अप्पा" निश्चयतस्तत्त्रितयमयो निजात्मेति । तथाहि —वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः । निजनिरञ्जनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्र-द्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः । अथवा स्वशुद्धात्मभावनासा-धकबहिर्द्रव्याश्रितो व्यवहारमोक्षमार्गः । केवलस्वसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपा-धिरहितसुखानुभूतिरूपोनिश्चय मोक्षमार्गः । अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्य-वहारमोक्षमार्गः, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः । एवं संक्षेपेण व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गलक्षणं ज्ञातव्यमिति । ३९ ।

अथाभेदेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्वशुद्धात्मैव तेन कारणेन निश्चये-नात्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इत्याख्याति । अथवा पूर्वोक्तमेव निश्चयमोक्षमार्गं प्रकारान्तरेण दृढयति :—

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥ ४० ॥

रत्नत्रयं न वर्त्तते आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात् तत्त्रिकमयः भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा ॥ ४० ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण जानो । 'णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनमयी निज आत्मा ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है । तथा— श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों का सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान और व्रत आदि रूप आचरण, इन विकल्पमयी व्यवहार मोक्ष-मार्ग है । निज निरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्रपरिणति रूप निश्चय मोक्ष-मार्ग है । अथवा स्वशुद्धात्म-भावना का साधक व बाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहार मोक्ष-मार्ग है । मात्रस्वानुभव से उत्पन्न व रागादि विकल्पों से रहित सुख अनुभ-वन रूप निश्चय मोक्ष-मार्ग है । अथवा धातु-पाषाण से सुवर्ण प्राप्ति में अग्नि के समान जो साधक है, वह तो व्यवहार मोक्ष-मार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति रूप साध्य, वह निश्चय मोक्ष-मार्ग है । इस प्रकार संक्षेप से व्यवहार तथा निश्चय मोक्ष-मार्ग का लक्षण जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

अब अभेद से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप, निज शुद्ध-आत्मा ही है, इस कारण निश्चय से आत्मा ही निश्चय मोक्ष-मार्ग है, इस प्रकार कथन करते हैं । अथवा पूर्वोक्त निश्चय मोक्ष-मार्ग को ही अन्य प्रकार से दृढ़ करते हैं :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या :—'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि' रत्नत्रयं न वर्त्तते स्वकीयशुद्धात्मानं मुक्त्वा अन्याचेतने द्रव्ये। 'तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा' तस्मात्तत्त्रितयमय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति जानीहि। अथ विस्तरः—रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तथैव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्प—विकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम्। इत्युक्तलक्षणं निश्चयरत्नत्रयं शुद्धात्मानं विहायान्यत्र घटपटादिबहिर्द्रव्ये न वर्त्तते यतस्ततः कारणादभेदनयेनानेकद्रव्यात्मकैकपानकवत्तदेव सम्यग्दर्शनं, तदेव सम्यग्ज्ञानं, तदेव सम्यक्चारित्रं, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निजशुद्धात्मानमेव मुक्तिकारणं जानीहि ॥ ४० ॥

एवं प्रथमस्थले सूत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं संक्षेपेण व्या-

---

गाथार्थ :—आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उन रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥ ४० ॥

वृत्त्यर्थ :—'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि' निज शुद्ध-आत्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है। 'तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा' इस कारण इस रत्नत्रयमय आत्मा को ही निश्चय से मोक्ष का कारण जानो। इसका विस्तृत वर्णन—'राग आदि विकल्प रहित, चित्चमत्कार भावना से उत्पन्न, मधुर रस के आस्वाद रूप सुख का धारक मैं हूँ' इस प्रकार निश्चय रुचि सम्यग्दर्शन है और स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा उसी सुख का राग आदि समस्त विभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। इसी प्रकार देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए जो भोग आकांक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्प जाल के त्याग द्वारा, उसी सुख में रत-सन्तुष्ट-तृप्त तथा एकाकार रूप परम समता भाव से द्रवीभूत (भीगे) चित्त का पुनः पुनः स्थिर करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले जो रत्नत्रय हैं वे शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य घट, पट आदि बाह्य द्रव्यों में नहीं रहते, इस कारण अभेद से अनेक द्रव्यमयी एक पेय (बादाम, सौंफ, मिश्री, मिरच आदि रूप ठंडाई) के समान, वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा ही सम्यक्चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले निज शुद्ध-आत्मा को ही मुक्ति का कारण जानो। ४०।

इस प्रकार प्रथम स्थल में दो गाथाओं द्वारा संक्षेप से निश्चय मोक्ष-मार्ग और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ख्याय तदनन्तरं द्वितीयस्थले गाथाषट्कपर्यन्तं सम्यक्त्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति । तत्रादौ सम्यक्त्वमाह :—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥ ४१ ॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥ ४१ ॥

व्याख्या :—'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं' वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवादितत्त्वविषये चलमलिनागाढरहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम् । 'रूवमप्पणो तं तु' तच्चाभेदनयेन रूपं स्वरूपं तुः पुनः कस्य ? आत्मन आत्मपरिणाम इत्यर्थः । तस्य सामर्थ्यं माहात्म्यं दर्शयति । "दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि" यस्मिन् सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग् भवति स्फुटं । कथम्भूतं सम्यग्भवति ? "दुरभिणिवेसविमुक्कं" चलितप्रतिपत्तिगच्छतृणस्पर्शशुक्तिकाशकलरजतविज्ञानशदृशैः संशयविभ्रमविमोहैर्मुक्तं रहितमित्यर्थः ।

व्यवहार मोक्ष-मार्ग का स्वरूप व्याख्यान करके अब आचार्य दूसरे स्थल में छः गाथाओं तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को क्रम से वर्णन करते हैं । उनमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन को कहते हैं :—

गाथार्थ :—जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यक्त्व है । वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर (संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यग्ज्ञान होता है ॥ ४१ ॥

वृत्त्यर्थ :—'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं' वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्त्वों में, चल-मलिन-अगाढ रहित श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा 'जो जिनेन्द्र ने कहा वही है, जिस प्रकार से जिनेन्द्र ने कहा है उसी प्रकार है' ऐसी निश्चय रूप बुद्धि सम्यग्दर्शन है; 'रूवमप्पणो तं तु' वह सम्यग्दर्शन अभेद नय से स्वरूप है; किसका स्वरूप है ? आत्मा का, आत्मा का परिणाम है । उस सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य अथवा माहात्म्य को दिखाते हैं— 'दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि' जिस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान सम्यक् हो जाता है । 'सम्यक्' किस प्रकार होता है ? 'दुरभिणिवेसविमुक्कं' (यह पुरुष है या काठ का ठूंठ है, ऐसे दो कोटि रूप) चलायमान संशयज्ञान, गमन करते हुए तृण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इतो विस्तरः—सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति यदुक्तं तस्य विवरणं क्रियते। तथाहि—गोतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विप्राः, पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं, ज्योतिष्कव्याकरणादिषडङ्गानि, मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्राणि तथा भारताद्यष्टादशपुराणानि मीमांसान्यायविस्तर इत्यादिलौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव। यदा पुनः प्रसिद्धकथान्यायेन श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम्। ततश्च 'जयति भगवान्' इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोऽपि गणधरदेवाः संजाताः। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गश्रुतरचनां कृतवान्; पञ्चाग्निश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन त्रयोऽपि मोक्षं गताः। शेषः पञ्चदशशतप्रमितब्राह्मणा जिनदीक्षां गृहीत्वा यथासम्भवं स्वर्गं मोक्षं च गताः।

आदिक के स्पर्श होने पर, यह निश्चय न होना कि किसका स्पर्श हुआ है—ऐसा विभ्रम (अनध्यवसाय) ज्ञान तथा सीप के टुकड़े में चांदी का ज्ञान—ऐसा विमोह (विपर्यय) ज्ञान, इन तीनों दोषों से (दूषित ज्ञानों से) रहित हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हो जाता है।

विस्तार से वर्णन—'सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है' यह जो कहा गया है, उसका विवरण कहते हैं—पांचसौ-पांचसौ ब्राह्मणों के पढ़ाने वाले गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण विद्वान् चारों वेद-ज्योतिष्क-व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति ग्रन्थ, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा न्याय-विस्तर आदि समस्त लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञान ही था। परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथा के अनुसार श्री महावीर स्वामी तीर्थंकर परम देव के समवसरण में मानस्तंभ के देखने मात्र से ही आगम-भाषा में दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध-आत्मा के सन्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियों के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया, तब उनका वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया। सम्यग्ज्ञान होते ही 'जयति भगवान्' इत्यादि रूप से भगवान् को नमस्कार करके, श्री जिनेन्द्री दीक्षा धारण करके केशलोंच के अनन्तर ही मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञान तथा सात ऋद्धि के धारक होकर तीनों ही गणधर हो गये। गोतमस्वामी ने भव्यजीवों के उपकार के लिये द्वादशाङ्ग-श्रुत की रचना की, फिर वे तीनों ही निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को प्राप्त हुए। वे पंद्रह सौ ब्राह्मण शिष्य मुनि-दीक्षा लेकर यथासम्भव स्वर्ग या मोक्ष में गये। ग्यारह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभव्यसेनः पुनरेकादशाङ्गधारकोऽपि सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानी सञ्जात इति । एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणाव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति । तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम् ।

तच्च सम्यक्त्वं पञ्चविंशतिमलरहितं भवति तद्यथा—देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति । तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवतानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते । न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति । कथमिति चेत् ? रावणेन रामस्वामिलक्ष्मीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता, कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता, कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्वचोऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम् । तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता 'नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति । अथ लोकमूढ-

---

अंगों का पाठी भी अभव्यसेन मुनि सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी ही रहा । इस प्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम, (समता, कषायों की मंदता) ध्यान आदि वे सब सम्यक् हो जाते हैं । विष मिले हुए दुग्ध के समान, सम्यक्त्व के बिना ज्ञान तपश्चरणादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

वह सम्यक्त्व पच्चीस दोषों से रहित होता है । उन पच्चीस दोषों में देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता तथा समयमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं । क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषरहित, अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुण सहित वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न जानता हुआ जो व्यक्ति ख्याति–पूजा–लाभ–रूप–लावण्य–सौभाग्य–पुत्र–स्त्री–राज्य आदि सम्पदा की प्राप्ति के लिये, रागद्वेष युक्त तथा आर्त्त रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल चंडिका आदि मिथ्यादृष्टि देवों की, आराधना करता है; उस आराधना को 'देवमूढता' कहते हैं । वे देव कुछ भी फल नहीं देते । प्रश्न—फल कैसे नहीं देते ? उत्तर—रामचन्द्र और लक्ष्मण के विनाश के लिये रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की; कौरवों ने पांडवों का सत्यानाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की; तथा कंस ने कृष्ण नारायण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं की आराधना की; परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पांडव और कृष्णनारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ । रामचन्द्र आदि ने मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना नहीं की, तो भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित पूर्व भव के पुण्य द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये । अब

---

१ 'आराधना न कृता' इतिपाठान्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्वं कथयति । गङ्गादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयम् । अन्यदपि लौकिकपारमार्थिकहेयोपादेयस्वपरज्ञानरहितानामज्ञानिजनानां प्रवाहेण यद्धर्मानुष्ठानं तदपि लोकमूढत्वं विज्ञेयमिति । अथ समयमूढत्वमाह । अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वमिति । एवमुक्तलक्षणं मूढत्रयं सरागसम्यग्दृष्टिचवस्थायां परिहरणीयमिति । त्रिगुप्तावस्थाल-क्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रस्तावे पुनर्निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैव देव इति निश्चयबुद्धिर्देवतामूढरहितत्वं विज्ञेयम् । तथैव च मिथ्यात्वरागादिमूढभावत्यागेन स्वशुद्धात्मन्येवावस्थानं लोकमूढरहितत्वं विज्ञेयम् । तथैव च समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परूपपरभावत्यागेन निर्विकारतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणपरमसमरसीभावेन तस्मिन्नेव सम्यग्रूपेणायनं गमनं परिणमनं समयमूढरहितत्वं बोद्धव्यम् । इति मूढत्रयं व्याख्यातम् ।

लोकमूढ़ता को कहते हैं—'गंगा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, प्रातःकाल में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में जलकर मरना, गाय की पूँछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथिवी—अग्नि और वड़ वृक्ष आदि की पूजा करना, ये सब पुण्य के कारण हैं' इस प्रकार जो कहते हैं उसको लोकमूढ़ता जानना चाहिए। लौकिक—पारमार्थिक, हेय उपादेय व स्वपरज्ञान रहित अज्ञानी जनों के कुल परिपाटि से आया हुआ और अन्य भी जो धर्म आचरण है उसको भी लोकमूढ़ता जाननी चाहिए। अब समयमूढ़ता (शास्त्रमूढ़ता या धर्ममूढ़ता) को कहते हैं—अज्ञानी लोगों को चित्त-चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिष, मंत्रवाद आदि को देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़कर, मिथ्यादेवों को, मिथ्या-आगम को और खोटा तप करने वाले कुलिंगियों को भय—वांछा—स्नेह और लोभ से धर्म के लिये प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना, सो 'समयमूढ़ता' है। इन उक्त तीन मूढ़ताओं को सरागसम्यग्दृष्टि अवस्था में त्यागना चाहिए। मन—वचन—काय—गुप्ति रूप अवस्था वाले वीतराग सम्यक्त्व के प्रकरण में, अपना निरंजन तथा निर्दोष परमात्मा ही देव है' ऐसी निश्चय बुद्धि ही देवमूढ़ता का अभाव जानना चाहिए। तथा मिथ्यात्व राग आदि रूप मूढ़भावों का त्याग करने से जो निज शुद्ध-आत्मा में स्थिति है, वही लोकमूढ़ता से रहितता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प रूप परभावों के त्याग से तथा निर्विकार—वास्तविक—परमानन्दमय परम—समता—भाव से निज शुद्ध-आत्मा में ही जो सम्यक् प्रकार से अयन, गमन अथवा परिणमन है, उसको समयमूढ़ता का त्याग समझना चाहिये। इस प्रकार तीन मूढ़ता का व्याख्यान हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ मदाष्टस्वरूपं कथ्यते । विज्ञानैश्वर्यज्ञानतपःकुलबलजातिरूपसंज्ञं मदाष्टकं सरागसम्यग्दृष्टिभिस्त्याज्यमिति । वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनर्मानकषायादुत्पन्नमदमात्सर्यादिसमस्तविकल्पजालपरिहारेण ममकाराहङ्काररहिते स्वशुद्धात्मनि भावनैव मदाष्टकत्याग इति । ममकाराहङ्कारलक्षणं कथयति । कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाहमित्यहङ्कारलक्षणमिति ।

अथानायतनषट्कं कथयति । मिथ्यादेवो, मिथ्यादेवाराधका, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो, मिथ्यागमधराः पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्कं सरागसम्यग्दृष्टीनां त्याज्यं भवतीति । वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनः समस्तदोषायतनभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायरूपायतनानां परिहारेण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणायतनभूते स्वशुद्धात्मनि निवास एवानायतनसेवापरिहार इति । अनायतनशब्दस्यार्थः कथ्यते । सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति ।

अब आठ मदों का स्वरूप कहते हैं—विज्ञान (कला) १, ऐश्वर्य (धन सम्पत्ति) २, ज्ञान ३, तप ४, कुल ५, बल ६, जाति ७ और रूप ८; इन आठों संबंधी मदों का त्याग सरागसम्यग्दृष्टियों को करना चाहिए । मान कषाय से उत्पन्न होने वाले मद मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि समस्त विकल्प-समूह, उनके त्याग द्वारा, ममकार–अहंकार से रहित निज शुद्ध-आत्मा में भावना, वीतराग सम्यग्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है। ममकार तथा अहंकार का लक्षण कहते हैं—कर्मजनित देह, पुत्र–स्त्री आदि में 'यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है' इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो 'मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ, राजा हूँ' इस प्रकार मानना सो अहंकार का लक्षण है ।

अब छः अनायतनों का कथन करते हैं—मिथ्यादेव १, मिथ्यादेवों के सेवक २, मिथ्यातप ३, मिथ्यातपस्वी ४, मिथ्याशास्त्र ५ और मिथ्याशास्त्रों के धारक ६; इस प्रकार के छः अनायतन सरागसम्यग्दृष्टियों को त्याग करने चाहियें । वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के तो, सम्पूर्ण दोषों के स्थानभूत मिथ्यात्व–विषय–कषायरूप आयतनों के त्यागपूर्वक, केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों के स्थानभूत निज शुद्ध-आत्मा में निवास ही, अनायतनों की सेवा का त्याग है । अनायतन शब्द के अर्थ को कहते हैं—सम्यक्त्व आदि गुणों का आयतन घर–आवास–आश्रय (आधार) करने का निमित्त, उसको 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत 'अनायतन' है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः परं शङ्काद्यष्टमलत्यागं कथयति। निःशङ्काद्यष्टगुणप्रतिपालनमेव शङ्काद्यष्टमलत्यागो भण्यते। तद्यथा—रागादिदोषा अज्ञानं वाऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति, ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यैः शङ्का संशयः सन्देहो न कर्त्तव्यः। तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनरञ्जनचौरकथा प्रसिद्धा। तत्रैव विभीषणकथा। तथाहि—सीताहरणप्रघट्टके रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्यां सह संग्रामप्रस्तावे विभीषणेन विचारितं रामस्तावदष्टमबलदेवो लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणश्चाष्टमः प्रतिवासुदेव इति। तस्य च प्रतिवासुदेवस्य वासुदेवहस्तेन मरणमिति जैनागमे कथितमास्ते, तन्मिथ्या न भवतीति निःशङ्को भूत्वा, त्रैलोक्यकण्टकं रावणं स्वकीयज्येष्ठभ्रातरं त्यक्त्वा, त्रिंशदक्षौहिणीप्रमितचतुरङ्गबलेन सह स रामस्वामिपार्श्वे गत इति। तथैव देवकीवसुदेवद्वयं निःशङ्कं ज्ञातव्यम्। तथाहि—यदा देवकीबालकस्य मारणनिमित्तं कंसेन प्रार्थना कृता तदा ताभ्यां पर्यालोचितं मदीयः पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हस्तेन जरासिन्धुनाम्नो नवमप्रतिवासुदेवस्य कंसस्यापि मरणं

अब इसके अनन्तर शंका आदि आठ दोषों के त्याग का कथन करते हैं—निःशंक आदि आठ गुणों का जो पालन करना है, वही शंकादि आठ दोषों का त्याग कहलाता है। वह इस प्रकार है—राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलने में कारण हैं और ये दोनों ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव में नहीं हैं; इस कारण श्री जिनेन्द्र देव से निरूपित हेयोपादेयतत्त्व में (यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, इस प्रकार के तत्त्व में), मोक्ष में और मोक्षमार्ग में भव्य जीवों को शंका, संशय या संदेह नहीं करना चाहिए। यहाँ शंका दोष के त्याग के विषय में अंजन चोर की कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। विभीषण की कथा भी इस प्रकरण में प्रसिद्ध है। तथा—सीता के हरण के प्रसंग में जब रावण का राम लक्ष्मण के साथ युद्ध करने का अवसर आया, तब विभीषण ने विचार किया कि रामचन्द्र तो आठवें बलदेव हैं और लक्ष्मण आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवां प्रतिनारायण है। प्रतिनारायण का मरण नारायण के हाथ से होता है, ऐसा जैन शास्त्रों में कहा गया है, वह मिथ्या नहीं हो सकता, इस प्रकार निःशङ्क होकर अपने बड़े भाई तीनलोक के कंटक 'रावण' को छोड़कर, अपनी तीस अक्षौहिणी चतुरंग (हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे) सेना सहित रामचन्द्र के समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेव भी निःशंक जानने चाहियें।

जब कंस ने देवकी के बालक को मारने के लिये प्रार्थना की, तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया कि हमारा पुत्र नवमा नारायण होगा और उसके हाथ से जरासिंधु नामक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भविष्यतीति जैनागमे भणितं तिष्ठतीति, तथैवातिमुक्तभट्टारकैरपि कथितमिति निश्चित्य कंसाय स्वकीयं बालकं दत्तम् । तथा शेषभव्यैरपि जिनागमे शंका न कर्तव्येति । इदं व्यवहारेण निःशंकितत्वं व्याख्यानम् । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिःशंकागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमरणव्याधिवेदनाकस्मिक अभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहग्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनैव निशंकगुणो ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥

अथ निष्कांक्षितागुणं कथयति । इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकांक्षानिदानत्यागेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं दानपूजातपश्चरणाद्यनुष्ठानकरणं निष्कांक्षागुणो भण्यते । तथानन्तमतीकन्याकथा प्रसिद्धा । द्वितीया च सीतामहादेवीकथा । सा कथ्यते । सीता यदा लोकापवादपरिहारार्थं दिव्ये शुद्धा जाता तदा रामस्वामिना दत्तं पट्टमहादेवीविभूतिपदं त्यक्त्वा सकलभूषणानगारकेवलिपादमूले कृतान्तवक्त्रादिराजभिस्तथा बहुराज्ञीभिश्च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा शशिप्रभाधार्यिकासमुदायेन सह ग्रामपुरखेटकादिविहारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनया द्विषष्टिवर्षाणि

नवमे प्रतिनारायण का और कंस का भी मरण होगा; यह जैनागम में कहा है और श्री भट्टारक अतिमुक्त स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है, इस प्रकार निश्चय करके कंस को अपना बालक देना स्वीकार किया । इसी प्रकार अन्य भव्य जीवों को भी जैन-आगम में शंका नहीं नहीं करनी चाहिये । यह व्यवहार नय से निःशङ्कित अंग का व्याख्यान किया । निश्चय नय से उस व्यवहार निःशंक गुण की सहायता से, इस लोक का भय १, परलोक का भय २, अरक्षा का भय ३, अगुप्ति (रक्षा स्थान के अभाव का) भय ४, मरण भय ५, व्याधि–वेदना भय ६, आकस्मिक भय ७ । इन सात भयों को छोड़कर घोर उपसर्ग तथा परीषहों के आजाने पर भी, शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना को ही निःशंकित गुण जानना चाहिये ॥ १ ॥

अब निष्कांक्षित गुण को कहते हैं—इस लोक तथा परलोक सम्बन्धि आशारूप भोगाकांक्षानिदान के त्याग द्वारा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्रकटतारूप मोक्ष के लिये दान–पूजा–तपश्चरण आदि करना, वही निष्कांक्षित गुण कहलाता है । इस गुण में अनन्तमती की कथा प्रसिद्ध है । दूसरी सीतादेवी की कथा है । उसको कहते हैं—लोक की निन्दा को दूर करने के लिये सीता अग्नि-कुण्ड में प्रविष्ट होकर जब निर्दोष सिद्ध हुई, तब श्री रामचन्द्र द्वारा दिए गए पट्ट-महारानी पद को छोड़कर, केवलज्ञानी श्री सकलभूषण मुनि के पादमूल में, कृतान्तवक्त्र आदि राजाओं तथा बहुत सी रानियों के साथ, जिनदीक्षा ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह सहित ग्राम, पुर, खेटक आदि में विहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिनसमयप्रभावनां कृत्वा पश्चादवसाने त्रयस्त्रिंशद्दिवसपर्यन्तं निर्विकारपरमात्मभावनासहितं संन्यासं कृत्वाऽच्युताभिधानषोडशस्वर्गे प्रतीन्द्रतां याता । ततश्च निर्मलसम्यक्त्वफलं दृष्ट्वा धर्मानुरागेण नरके रावणलक्ष्मणयोः संबोधनं कृत्वेदानीं स्वर्गे तिष्ठति । अग्रे स्वर्गादागत्य सकलचक्रवर्ती भविष्यति । तौ च रावणलक्ष्मीधरौ तस्य पुत्रौ भविष्यतः । ततश्च तीर्थंकरपादमूले पूर्वभवान्तरं दृष्ट्वा पुत्रद्वयेन सह परिवारेण च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा भेदाभेदरत्नत्रयभावनया पञ्चानुत्तरविमाने त्रयोप्यहमिन्द्रा भविष्यन्ति । तस्मादागत्य रावणस्तीर्थंकरो भविष्यति, सीता च गणधर इति, लक्ष्मीधरो धातकीखण्डद्वीपे तीर्थंकरो भविष्यति । इति व्यवहारनिष्कांक्षितागुणो विज्ञातव्यः । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षागुणस्य सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसन्तोषः स एव निष्कांक्षा गुण इति ॥ २ ॥

अथ निर्विचिकित्सागुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते । यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं

द्वारा भेदाभेदरूप रत्नत्रय की भावना से बासठ वर्ष तक जिनमत की प्रभावना करके, अन्त्य समय में तैंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा के ध्यानपूर्वक समाधि-मरण करके अच्युत नामक सोहलवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई। वहाँ निर्मल सम्यग्दर्शन के फल को देखकर धर्म के अनुराग से नरक में जाकर सीता ने रावण और लक्ष्मण को सम्बोधा। सीता अब स्वर्ग में है। आगे सीता का जीव स्वर्ग से आकर सकल चक्रवर्त्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मण के जीव उसके पुत्र होंगे। पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में अपने पूर्वभवों को देखकर, परिवार सहित दोनों पुत्र तथा सीता के जीव जिनदीक्षा ग्रहण करके, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से वे तीनों पंच-अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होंगे। वहाँ से आकर रावण तीर्थंकर होगा और सीता का जीव गणधर होगा। लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप में तीर्थंकर होंगे। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षितगुण का स्वरूप जानना चाहिये । उसी व्यवहार निष्कांक्षा गुण की सहायता से देखे-सुने-अनुभव किये हुए पांचों इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों के त्याग से तथा निश्चय-रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न हुए पारमार्थिक व निज-आत्मिक सुखरूपी अमृत रस में चित्त का संतोष होना, वही निश्चय से निष्कांक्षागुण है ॥ २ ॥

अब निर्विचिकित्सा गुण को कहते हैं। भेद-अभेदरूप रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवों की दुर्गंधि तथा बुरी आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से यथा योग्य विचिकित्सा (ग्लानि) को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है। जैन मत में सब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु वस्त्राप्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा भाव निर्विचिकित्सा भण्यते । अस्य व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य विषय उद्दायनमहाराजकथा रुक्मिणीमहादेवीकथा चागमप्रसिद्धा ज्ञातव्येति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सागुण इति ॥ ३ ॥

इतः परं अमूढदृष्टिगुणं कथयति । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं धातुवादखन्यवादहरमेखलक्षुद्रविद्याव्यन्तरविकुर्वणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्ध्या तत्र रुचिं भक्तिं न कुरुते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते । तत्र चोत्तरमथुरायां उदुरुलिभट्टारकरेवतीश्राविकाचन्द्रप्रभनामविद्याधरब्रह्मचारिसम्बन्धिनीकथा प्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारामूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेनान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिथ्यात्वरागादिशुभाशुभसंकल्पविकल्पेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं

अच्छी २ बातें हैं, परन्तु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदि का न करना यही दूषण है' इत्यादि बुरे भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना वह भाव – निर्विचिकित्सा कहलाती है । इस व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण को पालने के विषय में उद्दायन राजा तथा रुक्मिणी (कृष्ण की पट्टरानी) की कथा शास्त्र में प्रसिद्ध जाननी चाहिये । इसी व्यवहारनिर्विचिकित्सा गुण के बल से समस्त राग-द्वेष आदि विकल्परूप तरङ्गों का त्याग करके, निर्मल आत्मानुभव रूप निजशुद्ध–आत्मा में जो स्थिति वही निश्चय निर्विचिकित्सागुण है ॥ ३ ॥

अब अमूढदृष्टि गुण को कहते हैं । वीतराग सर्वज्ञ देव–कथित शास्त्र से बहिरभूत कुदृष्टियों के द्वारा बनाये हुए तथा अज्ञानियों के चित्त में विस्मय को उत्पन्न करने वाले रसायन शास्त्र, खन्यवाद (खानिविद्या), हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादि शास्त्रों को देखकर तथा सुनकर, जो कोई मूढभाव द्वारा धर्म–बुद्धि से उनमें प्रतीति तथा भक्ति नहीं करता, उसी को व्यवहार से 'अमूढदृष्टि' कहते हैं । इस विषय में, उत्तर मुथरा में उदुरुलि भट्टारक तथा रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी सम्बन्धी कथायें शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं । इसी व्यवहार अमूढ दृष्टि गुण के प्रसाद से आत्म-तत्त्व और शरीरादिक बहिर्तत्त्व का निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण मिथ्यात्व–राग आदि तथा शुभ-अशुभ संकल्प–विकल्पों से इष्टबुद्धि–आत्मबुद्धि–उपादेयबुद्धि–हितबुद्धि और ममत्वभाव को छोड़कर, मन–वचन–काय–गुप्ति के द्वारा विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभावमयी निज आत्मा में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिरूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति । सङ्कल्पविकल्पलक्षणं कथ्यते । पुत्रकलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना सङ्कल्पः, अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति । अथवा वस्तुवृत्त्या सङ्कल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्यायः ।४।

अथोपगूहनगुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तावत्, तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशुन्यं दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यार्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थं दोषस्य झम्पनं निवारणं क्रियते तद्व्यवहारनयेनोपगूहनं भण्यते । तत्र मायाब्रह्मचारिणा पार्श्वभट्टारकप्रतिमालग्नरत्नहरणे कृते सत्युपगूहनविषये जिनदत्तश्रेष्ठिकथा प्रसिद्धेति । अथवा रुद्रजनन्या ज्येष्ठासंज्ञाया लोकापवादे जाते सति यद्दोषझम्पनं कृतं तत्र चेलिनीमहादेवीकथेति । तथैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादकाये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं यद्ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनमिति ॥ ५ ॥

निश्चल ठहरना, निश्चय अमूढदृष्टि गुण है । संकल्प-विकल्प के लक्षण कहते हैं—पुत्र, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों में 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना, संकल्प है । अन्तरंग में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं' इस प्रकार हर्ष–विषाद करना, विकल्प है । अथवा संकल्प का वास्तव में क्या अर्थ है ? वह विकल्प ही है अर्थात् संकल्प, विकल्प की ही पर्याय है ॥ ४ ॥

अब उपगूहन गुण को कहते हैं । भेद–अभेद रत्नत्रय की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्मपालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त से जो धर्म की चुगली, निन्दा, दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुकूल, शक्ति के अनुसार, धन से अथवा धर्मोपदेश से, धर्म के लिये जो उसके दोषों का ढकना तथा दूर करना है, उसको व्यवहारनय से उपगूहन गुण कहते हैं। इस विषय में कथा—एक कपटी ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा में लगे हुए रत्न को चुराया । तब जिनदत्त सेठ ने जो उपगूहन किया, वह कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है । अथवा रुद्र की ज्येष्ठा नामक माता की लोकनिन्दा होने पर, उसके दोष ढकने में चेलिनी महारानी की कथा शास्त्रप्रसिद्ध है । इस प्रकार व्यवहार उपगूहन गुण की सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को आच्छादन करने वाले मिथ्यात्व–राग आदि दोषों को, उसी परमात्मा में सम्यक् श्रद्धान–ज्ञान–आचरणरूप ध्यान के द्वारा ढकना, नाशकरना, छिपाना तथा झम्पना वही निश्चय से उपगूहन है । ५ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ स्थितीकरणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्णसङ्घस्य मध्ये यदा कोऽपि दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा परित्युक्तं वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण स्थितीकरणमिति । तत्र च पुष्पडालतपोधनस्य स्थिरीकरणप्रस्तावे वारिषेणकुमारकथागमप्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्रमोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पजालत्यागेन निजपरमात्मस्वभावभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन तल्लयतन्मयपरमसमरसीभावेन चित्तस्थितीकरणमेव स्थितीकरणमिति ॥ ६ ॥

अथ वात्सल्याभिधानं सप्तमाङ्गं प्रतिपादयति । बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसंघे वत्से धेनुवत्पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिमस्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते । तत्र च हस्तिनागपुराधिपतिपद्मराजसंबन्धिना बलिनामदुष्टमन्त्रिणा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिसप्तशतयतीनामुपसर्गे क्रियमाणे सति विष्णुकुमारनाम्ना निश्चयव्यवहारमोक्ष-

---

अब स्थितीकरण गुण को कहते हैं। भेद अभेद रत्नत्रय के धारक (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) चार प्रकार के संघ में से यदि कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन-ज्ञान को या चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे तो यथाशक्ति शास्त्रानुकूल धर्मोपदेश से, धन से या सामर्थ्य से या अन्य किसी उपाय से उस को धर्म में स्थिर कर देना, वह व्यवहार से स्थितीकरण है । पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसंग में वारिषेण की कथा आगम-प्रसिद्ध है। उसी व्यवहार स्थितीकरण गुण से धर्म में दृढता होने पर दर्शन–चारित्र–मोहनीय–उदय जनित समस्त मिथ्यात्व–राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज–परमात्म–स्वभाव भाव की भावना से उत्पन्न परम–आनन्द सुखामृत के आस्वादरूप परमात्मा में लीन अथवा परमात्मस्वरूप में समरसी भाव से चित्त का स्थिर करना, निश्चय से स्थितीकरण है । ६ ।

अब वात्सल्य नामक सप्तम अंग का प्रतिपादन करते हैं। गाय बछड़े की प्रीति के सदृश अथवा पांचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्तभूत पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदि में स्नेह की भांति, बाह्य–आभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक चारों प्रकार के संघ में स्वाभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनय से वात्सल्य कहा जाता है।

हस्तिनागपुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मंत्री ने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक श्री अकंपनाचार्य आदि सातसौ मुनियों को उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक विष्णुकुमार महामुनीश्वर ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्गाराधकपरमयतिना विक्रुर्वणद्धिप्रभावेण वामनरूपं कृत्वा बलिमन्त्रिपार्श्वे पादत्रयप्रमाणभूमिप्रार्थनं कृत्वा पश्चादेकः पादो मेरुमस्तके दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरपर्वते तृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति वचनछलेन मुनिवात्सल्यनिमित्तं बलिमन्त्री बद्ध इत्येका तावदागमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया च दशपुरनगराधिपतेर्वज्रकर्णनाम्नः उज्जयिनीनगराधिपतिना सिंहोदरमहाराजेन जैनोऽयं, मम नमस्कारं न करोतीति मत्वा दशपुरनगरं परिवेष्टय घोरोपसर्गे क्रियमाणे भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियेण रामस्वामिना वज्रकर्णवात्सल्यनिमित्तं सिंहोदरो बद्ध इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथेति । निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्तशुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसञ्जातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्गं व्याख्यातम् । ७ ।

अथाष्टमाङ्गं नाम प्रभावनागुणं कथयति । श्रावकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपःश्रुतादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो

से वामन रूप को धारण करके बलि नामक दुष्ट मंत्री के पास से तीन पग प्रमाण पृथ्वी की याचना की, और जब बलि ने देना स्वीकार किया, तब एक पग तो मेरु के शिखर पर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया और तीसरे पाद को रखने के लिये स्थान नहीं रहा तब वचनछल से मुनियों के वात्सल्य निमित्त बलि मन्त्री को बाँध लिया । इस विषय में यह एक आगम-प्रसिद्ध कथा है । दशपुर नगर के वज्रकर्ण नामक राजा की दूसरी कथा इस प्रकार है—उज्जयिनी के राजा सिंहोदर ने 'वज्रकर्ण जैन है और मुझको नमस्कार नहीं करता है' ऐसा विचार करके, वज्रकर्ण से नमस्कार कराने के लिये दशपुर नगर को घेर कर घोर उपसर्ग किया । तब भेदाभेद रत्नत्रय भावना के प्रेमी श्री रामचन्द्र ने वज्रकर्ण से वात्सल्य के लिये सिंहोदर को बाँध लिया । यह वात्सल्य संबंधी कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । इसी व्यवहार-वात्सल्यगुण के सहकारीपने से धर्म में दृढ़ता हो जाने पर मिथ्यात्व राग आदि समस्त शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीति छोड़कर रागादि विकल्पों की उपाधिरहित परमस्वास्थ्य के अनुभव से उत्पन्न सदा आनन्द रूप सुखमय-अमृत के आस्वाद के प्रति प्रीति का करना ही निश्चय वात्सल्य है । इस प्रकार सप्तम 'वात्सल्य' अङ्ग का व्याख्यान हुआ । ७ ।

अब अष्टम प्रभावनागुण को कहते हैं । श्रावक को तो दान पूजा आदि द्वारा और मुनि को तप, श्रुत आदि से जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिये । यह व्यवहार से प्रभावना गुण जानना चाहिये । इस गुण के पालने में, उत्तर मथुरा में जिनमत की प्रभावना करने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञातव्यः । तत्र पुनरुत्तरमथुरायां जिनसमयप्रभावनशीलाया उर्विल्लामहादेव्याः प्रभावननिमित्तमुपसर्गे जाते सति वज्रकुमारनाम्ना विद्याधरश्रमणेनाकाशे जैनरथ-भ्रमणेन प्रभावना कृतेत्येका आगमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया तु जिनसमयप्रभावना-शीलवप्रामहादेवीनामस्वकीयजनन्या निमित्तं स्वस्य धर्मानुरागेण च हरिषेणनाम-दशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्षगामिना जिनसमयप्रभावनार्थमुत्तुङ्गतोरणजिनचैत्याल-यमण्डितं सर्वभूमितलं कृतमिति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणाम-रूपपरसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्व-भावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव प्रभावनेति ॥ ८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टकषडनायतनशङ्काद्यष्टमलरहितं शुद्धजीवादि-तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम् । तथैव तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनो-त्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च

की अनुरागिणी उर्विला महादेवी को प्रभावना संबंधी उपसर्ग होने पर, वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण ने आकाश में जैन रथ को फिराकर प्रभावना की, यह एक आगम प्रसिद्ध कथा है । दूसरी कथा यह है—उसी भव से मोक्ष जाने वाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्त्ती ने जिनमत की प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त और अपने धर्मानुराग से जिनमत की प्रभावना के लिये ऊंचे तोरण वाले जिनमंदिरों से समस्त पृथ्वीतल को भूषित कर दिया । यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । इसी व्यवहार प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व–विषय–कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणाम रूप पर समय के प्रभाव को नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण वाले स्वसंवेदन ज्ञान से, निर्मल ज्ञान–दर्शनरूप स्वभाव–वाली निज शुद्ध-आत्मा का जो प्रकाशन अथवा अनुभवन, वह निश्चय से प्रभावना है ॥ ८ ॥

इस प्रकार तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषों से रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप सराग-सम्यक्त्व नामक व्यवहार-सम्यक्त्व जानना चाहिए । इसी प्रकार उसी व्यवहार-सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य, शुद्ध–उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचि रूप तथा वीतराग चारित्र का अविनाभावि वीतराग–सम्यक्त्व नामक निश्चयसम्यक्त्व जानना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञातव्यमिति । अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत् ? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति ।

इदानीं येषां जीवानां सम्यग्दर्शनग्रहणात्पूर्वमायुर्बन्धो नास्ति तेषां व्रताभावेऽपि नरनारकादिकुत्सितस्थानेषु जन्म न भवतीति कथयति । 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि । दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः । १ ।' इतः परं मनुष्यगतिमुत्पन्नसम्यग्दृष्टेः प्रभावं कथयति । 'ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः । महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः । १ ।' अथ देवगतौ पुनः प्रकीर्णकदेववाहनदेवकिल्बिषदेवनीचदेवत्रयं विहायान्येषु महर्द्धिकदेवेषूत्पद्यते सम्यग्दृष्टिः । इदानीं सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं देवायुष्कं विहाय ये बद्धायुष्कास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति । "हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं । पुण्णिंदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ।" तमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति । 'ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः

चाहिए । प्रश्न—यहाँ इस व्यवहार-सम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया गया ? उत्तर—व्यवहार-सम्यक्त्व से निश्चय-सम्यक्त्व साधा (सिद्ध किया) जाता है, (व्यवहार-सम्यक्त्व साधक और निश्चय-सम्यक्त्व साध्य) इस साध्यसाधक भाव को बतलाने के लिये किया गया है ।

अब जिन जीवों के सम्यग्दर्शन ग्रहण होने से पहले आयु का बंध नहीं हुआ है, व्रत के अभाव में भी निन्दनीय नर नारक आदि खोटे स्थानों में उनका जन्म नहीं होता, ऐसा कथन करते हैं । 'जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है किन्तु अव्रति हैं वे भी नरकगति, तिर्यंचगति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन-शरीर, अल्प-आयु और दरिद्रीपने को प्राप्त नहीं होते ।' इसके आगे मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों का वर्णन करते हैं—'जो दर्शन से पवित्र हैं वे उत्साह, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव से सहित उत्तम कुल वाले, विपुल धनशाली तथा मनुष्य शिरोमणि होते हैं ।' प्रकीर्णक देव, वाहन देव, किल्विष देव तथा व्यन्तर-भवनवासी-ज्योतिषी तीन नीच देवों के अतिरिक्त महाऋद्धि धारक देवों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं । जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण से पूर्व देव आयु को छोड़कर अन्य आयु बांध ली है, अब उनके प्रति सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं—'नीचे के ६ नरकों में ज्योतिषी-व्यन्तर-भवनवासी देवों में, सब स्त्रियों में और लब्ध्यपर्याप्तकों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता । नरक अपर्याप्तकों में सासादन नहीं होते ।' इसी आशय को अन्य प्रकार से कहते हैं—'ज्योतिषी, भवनवासी और व्यंतर देवों में, नीचे की ६ नरक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्वभ्रभूमिषु । तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते' ।१।' अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वत्रयमध्ये कस्यां गतौ कस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽस्तीति कथयति—"[२]सौधर्मादिष्वसंख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि । रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम् ।२।" कर्मभूमिजपुरुषे च त्रयं सम्भवति बद्धायुष्के लब्धायुष्केऽपि । किन्त्वौपशमिकमपर्याप्तावस्थायां महर्द्धिकदेवेष्वेव । "[३]शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । द्वौ वेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ।३॥" इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनः प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥४१॥

अथ रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गद्वितीयावयवरूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपं प्रतिपादयति—

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
महसं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥ ४२ ॥

पृथिवियों में, तिर्यंचों (कर्मभूमि तिर्यंच, भोगभूमि तिर्यंचनियों) में, मनुष्यनियों में तथा देवांगनाओं में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते । १ ।' औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामक तीन सम्यक्त्वों में से किस गति में कौन सा सम्यक्त्व हो सकता है, सो कहते हैं—'सौधर्म आदि स्वर्गों में, असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों में, मनुष्यों में और रत्नप्रभा प्रथम नरक में (उपशम, वेदक, क्षायिक) तीनों सम्यक्त्व होते हैं । २ ।' जिसने आयु बांध ली है या नहीं बांधी ऐसे कर्मभूमि-मनुष्यों के तीनों सम्यक्त्व होते हैं। परन्तु अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवों में ही होता है। 'शेष देवों व तिर्यंचों में और ६ नीचे की नरकभूमियों में पर्याप्त जीवों के वेदक और उपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं ।३।' इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग अवयवी का प्रथम अवयवभूत सम्यग्दर्शन का व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ॥ ४१ ॥

अब रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग के द्वितीय अवयव रूप सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं :—

गाथार्थ :—आत्मा का और परपदार्थों के स्वरूप का संशय, विमोह और विभ्रम रहित जानना, सम्यग्ज्ञान है । वह साकार और अनेक भेदों वाला है ॥ ४२ ॥

१; निकायत्रितये पूर्वे श्वभ्रभूमिषु षट्स्वधः । वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते ॥ २९८ ॥

२; नृभोगभूमितिर्यक्षु सौधर्मादिषु नाकिषु । आद्यायां श्वभ्रभूमौ च सम्यक्त्वत्रयमिष्यते ॥ ३०० ॥

३; शेष त्रिदशतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । पर्याप्तेषु द्वयं ज्ञेयं क्षायिकेण विनांगिषु ॥ ३०१ ॥

(अमितगति) पंचसंग्रह प्रथम परिच्छेद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं आत्मपरस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यक् ज्ञानं साकारं अनेकभेदं च ॥ ४२ ॥

व्याख्या :—"संसयविमोहविब्भमविवज्जियं" 'संशयः' शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति, संशयः । तत्र दृष्टान्तः—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । 'विमोहः' परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोहः । तत्र दृष्टान्तः—गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोहवद्वा । 'विभ्रमः' अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः । तत्र दृष्टान्तः—शुक्तिकायां रजतविज्ञानवत् । 'विवज्जियं' इत्युक्तलक्षणसंशयविमोहविभ्रमैर्वर्जितं, "अप्पपरसरूवस्स गहणं" सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वात्मरूपस्य ग्रहणं परिच्छेदनं परिच्छित्तिस्तथा परद्रव्यस्य च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपस्य जीवसम्बन्धिनस्तथैव पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपस्य परकीयजीवरूपस्य च परिच्छेदनं यत्तत् "सम्मण्णाणं" सम्यग्ज्ञानं भवति । तच्च कथंभूतं ? "सायारं" घटोऽयं पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः । पुनश्च किं विशिष्टं ? "अणेयभेयं तु" अनेकभेदं तु पुनरिति ।

वृत्त्यर्थ :—'संसयविमोहविब्भमविवज्जियं' संशय—शुद्ध आत्मतत्त्व आदि का प्रतिपादक शास्त्र ज्ञान, क्या वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य-मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह संशय है । इसका दृष्टान्त—स्थाणु (ठूंठ) है या मनुष्य । विमोह—परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दो नयों के अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का नहीं जानना, विमोह है । इसका दृष्टान्त—गमन करते हुए पुरुष के पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट ज्ञात नहीं होता क्या लगा, अथवा जंगल में दिशा का भूल जाना । विभ्रम—अनेकान्तात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है, यह अनित्य ही है' ऐसे एकान्त रूप जानना, विभ्रम है । इसका दृष्टान्त—सीप में चांदी और चांदी में सीप का ज्ञान । 'विवज्जियं' इन पूर्वोक्त लक्षणों वाले संशय, विमोह और विभ्रम से रहित, 'अप्पपरसरूवस्स गहणं' सहज-शुद्ध-केवल-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव निज-आत्म-स्वरूप का जानना और परद्रव्य का अर्थात् जीव सम्बन्धी भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का एवं पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का और परजीव के स्वरूप का जानना, सो 'सम्मण्णाणं' सम्यक् ज्ञान है । वह कैसा है ? 'सायारं' यह घट है, यह वस्त्र है इत्यादि जानने रूप व्यापार से साकार, विकल्प सहित, व्यवसायात्मक तथा निश्चय रूप ऐसा 'साकार' का अर्थ है । और फिर कैसा है ? 'अणेयभेयं तु' अनेक भेदों वाला है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्य भेदाः कथ्यन्ते। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पञ्चधा। अथवा श्रुतज्ञानापेक्षया द्वादशाङ्गमङ्गबाह्यं चेति द्विभेदम्। द्वादशाङ्गानां नामानि कथ्यन्ते। आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायनामधेयं, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययनं, अन्तकृतदशं, अनुत्तरोपपादिकदशं, प्रश्नव्याकरणं, विपाकसूत्रं, दृष्टिवादश्चेति। दृष्टिवादस्य च परिकर्मसूत्रप्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकाभेदेन पञ्चभेदाः कथ्यन्ते। तत्र चन्द्रसूर्यजम्बूद्वीपद्वीपसागरव्याख्याप्रज्ञप्तिभेदेन परिकर्म पञ्चविधं भवति। सूत्रमेकभेदमेव। प्रथमानोयोगोऽप्येकभेदः। पूर्वगतं पुनरुत्पादपूर्वं, अग्रायणीयं, वीर्यानुप्रवादं, अस्तिनास्तिप्रवादं, ज्ञानप्रवादं, सत्यप्रवादं, आत्मप्रवादं, कर्मप्रवादं, प्रत्याख्यानं, विद्यानुवादं, कल्याणनामधेयं, प्राणानुवादं, क्रियाविशालं, लोकसंज्ञं, पूर्वं चेति चतुर्दशभेदम्। जलगतस्थलगताकाशगतहरमेखलादिमायास्वरूपशाकिन्यादिरूपपरावर्त्तनभेदेन चूलिका पञ्चविधा चेति संक्षेपेण द्वादशाङ्गव्याख्यानम्। अङ्गबाह्यं पुनः सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवं, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकम्, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्पाकल्पं, महाकल्पं, पुण्डरीकं, महापुण्डरीकं, अशीतिकं चेति चतुर्दशप्रकीर्णकसंज्ञं बोद्धव्यमिति।

सम्यग्ज्ञान के भेद कहे जाते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदों से वह सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है। अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा द्वादशाङ्ग और अंगबाह्य से दो प्रकार का है। उनमें द्वादश (१२) अङ्गों के नाम कहते हैं—आचाराङ्ग १; सूत्रकृताङ्ग २; स्थानाङ्ग ३; समवायांग ४; व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग ५; ज्ञातृकथांग ६; उपासकाध्ययनांग ७; अन्तकृद्दशांग ८; अनुत्तरोपपादिकदशांग ९; प्रश्नव्याकरणांग १०; विपाकसूत्रांग ११ और दृष्टिवाद १२; ये द्वादश अंगों के नाम हैं। अब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के परिकर्म १; सूत्र २; प्रथमानुयोग ३; पूर्वगत ४ तथा चूलिका ५; ये पांच भेद हैं। उनका वर्णन करते हैं—उनमें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबू-द्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति, इस तरह परिकर्म पांच प्रकार का है। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग भी एक ही प्रकार का है। पूर्वगत—उत्पादपूर्व १, अग्रायणीयपूर्व २, वीर्यानुप्रवादपूर्व ३, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ४, ज्ञानप्रवादपूर्व ५, सत्यप्रवादपूर्व ६, आत्मप्रवादपूर्व ७, कर्मप्रवादपूर्व ८, प्रत्याख्यानपूर्व ९, विद्यानुवादपूर्व १०, कल्याणपूर्व ११, प्राणानुवादपूर्व १२, क्रियाविशालपूर्व १३; लोकबिन्दुसारपूर्व १४; इन भेदों से चौदह प्रकार का है। जलगत चूलिका १, स्थलगत चूलिका २, आकाशगत चूलिका ३, हरमेखला आदि मायास्वरूप चूलिका ४, और शाकिन्यादिरूप परावर्त्तन चूलिका ५, इन भेदोंसे चूलिका पंच प्रकारकी है। इस प्रकार संक्षेप से द्वादशांग का व्याख्यान है। और जो अंगबाह्य श्रुतज्ञान है वह सामायिक १, चतुर्विंशतिस्तव २, वंदना ३, प्रतिक्रमण ४, वैनयिक ५, कृतिकर्म ६, दशवैकालिक ७, उत्तराध्ययन ८,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थङ्करभरतादिद्वादशचक्रवर्त्तिविजयादिनवबलदेव त्रिपृष्ठादिनववासुदेवसुग्रीवादिनवप्रतिवासुदेवसम्बन्धित्रिषष्टिपुरुषपुराणभेदभिन्नः प्रथमानुयोगो भण्यते । उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते । त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेयः । प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषड्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते । इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम् । अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः । अथवा षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु (मध्ये) निश्चयनयेन स्वकीय शुद्धात्मद्रव्यं, स्वशुद्धजीवास्तिकायो निजशुद्धात्मतत्त्वं निजशुद्धात्मपदार्थ उपादेयः । शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेय भेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति ।

इदानीं तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं निश्चयज्ञानं कथ्यते । तथाहि—रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं,

---

कल्प-व्यवहार ९, कल्पाकल्प १०, महाकल्प ११, पुंडरीक १२, महापुंडरीक १३ और अशीतिक १४, इन प्रकीर्णकरूप भेदों से चौदह प्रकार का जानना चाहिये ।

अथवा श्रीऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों, भरत आदि बारह चक्रवर्ती विजय आदि नौ बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नौ नारायण, और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारायण सम्बन्धी तिरेसठ शलाका पुरुषों का पुराण भिन्न-भिन्न प्रथमानुयोग कहलाता है । उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और आचार आराधना आदि में मुनि का धर्म मुख्यता से कहा गया है, वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है । त्रिलोकसार में जिनान्तर (तीर्थंकरों का अन्तरकाल) व लोकविभाग आदि का व्याख्यान है, ऐसे ग्रन्थ करणानुयोग जानना चाहिये । प्राभृत (पाहुड़) और तत्त्वार्थ सिद्धान्त आदि में मुख्यता से शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छः द्रव्यों आदि का वर्णन किया गया है, वह द्रव्यानुयोग कहलाता है । इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चार अनुयोग रूप चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना चाहिये । अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ है । अथवा छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में निश्चयनय से मात्र अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज-शुद्ध-आत्मतत्त्व तथा निज-शुद्ध-आत्म पदार्थ उपादेय है । शेष हेय हैं । इस प्रकार संक्षेप से हेय-उपादेय भेद वाला व्यवहार-ज्ञान दो प्रकार का है ।

अब विकल्परूप व्यवहारज्ञान से साध्य निश्चयज्ञान का कथन करते हैं । तथा—राग के उदय से परस्त्री आदि की वांछारूप, और द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बांधने अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं जीवो बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते । निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते । निर्विकारपरमचैतन्यभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादमलभमानोऽयं जीवो दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतम् निरन्तरम् चित्तम् ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते । इत्युक्तलक्षणशल्यत्रयविभावपरिणामप्रभृतिसमस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसंवित्तिसमुत्पन्नताच्चिकपरमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदनं परिज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते ।

अत्राह शिष्यः । इत्युक्तप्रकारेण प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते, तन्न घटते । कस्मादितिचेत् तदुच्यते । सत्तावलोकरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते, परं

छेदने आदि की बांछारूप मेरा दुर्ध्यान है, उस को कोई भी नहीं जानता है; ऐसा मानकर, निज-शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षण वाला सुख–अमृतरसरूप निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर, लोक को प्रसन्न करता है, वह माया-शल्य कहलाती है । 'अपना निरंजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है', ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व से विलक्षण, मिथ्या-शल्य कहलाती है । निर्विकार–परम–चैतन्य–भावना से उत्पन्न एक परम–आनन्द–स्वरूप सुखामृत–रस के स्वाद को प्राप्त न करता हुआ, यह जीव, देखे–सुने और अनुभव में आये हुए भोगों में जो निरन्तर चित्त को देता है, वह निदान–शल्य है । इस प्रकार उक्त लक्षण वाले माया, मिथ्या और निदान–शल्य रूप विभाव परिणाम आदि समस्त शुभ–अशुभ संकल्प–विकल्प से रहित, परम निज-स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ परमानन्द एक लक्षण स्वरूप सुखामृत के रस-आस्वादन से तृप्त ऐसी अपनी आत्मा द्वारा जो निजस्वरूप का संवेदन, जानना व अनुभव करना है, वही निर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञान-निश्चयज्ञान कहा जाता है ।

यहाँ शिष्य की शंका—उक्त प्रकार से प्राभृत (पाहुड़) शास्त्र में जो विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है, वह घटित नहीं होता । (यदि कहो) क्यों नहीं घटित होता, तो कहता हूँ—जैनमत में सत्तावलोकनरूप चक्षु-आदि-दर्शन, जैसे निर्विकल्प कहा जाता है; वैसे ही बौद्धमत में 'ज्ञान निर्विकल्प कहलाता है, किन्तु निर्विकल्प होते हुए भी विकल्प को उत्पन्न करने वाला कहा गया है' । जैनमत में तो ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करने वाला ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न, किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति । तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारः । कथंचित् सविकल्पकं निर्विकल्पकं च । तथाहि—यथा विषयानन्दरूपं स्वसंवेदनं रागसम्वित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । तथा स्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपं वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । यत एवेहापूर्वस्वसम्वित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मा विकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम् । इदं तु सविकल्पकनिर्विकल्पकस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य ज्ञानस्य च व्याख्यानं यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति । स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृत इति ।

एवं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनो द्वितीयावयवभूतस्य ज्ञानस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥ ४२ ॥

नहीं है, किंतु स्वरूप (स्वभाव) से ही विकल्प-सहित है और इसी प्रकार स्व-पर-प्रकाशक है। शंका का परिहार—जैन सिद्धान्त में ज्ञान को कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते हैं—जैसे विषयों में आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है, वह राग के जानने रूप विकल्प-स्वरूप होने से सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित जो सूक्ष्म विकल्प हैं, उनका सद्भाव होने पर भी उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, इस कारण से उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। इसी प्रकार निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान, आत्मसंवेदन के आकाररूप एक विकल्पमयी होने से यद्यपि सविकल्प है, तथापि उस ज्ञान में बाह्य विषयों के अनिच्छित (नहीं चाहे हुए) विकल्पों का, सद्भाव होने पर भी, उनकी मुख्यता नहीं है, इस कारण उस स्वसंवेदन ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। यहाँ अपूर्व स्वसंवित्ति के आकाररूप अन्तरंग में मुख्य प्रतिभास के होने पर भी, क्योंकि बाह्य विषय सम्बन्धी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं; अतः ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक भी सिद्ध हो जाता है । यदि इस सविकल्प-निर्विकल्प तथा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान आगमशास्त्र-अध्यात्मशास्त्र-तर्कशास्त्र के अनुसार विशेषरूप से किया जाता तो महान् विस्तार होजाता। किन्तु यह द्रव्यसंग्रह अध्यात्मशास्त्र है, इस कारण ज्ञान का विशेष व्याख्यान यहाँ नहीं किया गया।

इस प्रकार रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग रूप अवयवी के दूसरे अवयवरूप ज्ञान के व्याख्यान द्वारा गाथा समाप्त हुई ॥ ४२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ निर्विकल्पसत्ताग्राहकं दर्शनं कथयति :—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥ ४३ ॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वा आकारम् ।
अविशेषयित्वा अर्थान् दर्शनं इति भण्यते समये ॥ ४३ ॥

व्याख्या—'जं सामण्णं गहणं भावाणं' यत् सामान्येन सत्तावलोकनेन ग्रहणं परिच्छेदनं, केषां ? भावानां पदार्थानां; किं कृत्वा ? "णेव कट्टुमायारं" नैव कृत्वा, कं ? आकारं विकल्पं, तदपि किं कृत्वा ? "अविसेसिदूण अट्ठे" अविशेष्याविभेद्यार्थान्; केन रूपेण ? शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादि । "दंसणमिदि भण्णए समए" तत्सत्तावलोकं दर्शनमिति भण्यते समये परमागमे । नेदमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम् । कस्मादिति-चेत् ? तत्र श्रद्धानं विकल्परूपमिदं तु निर्विकल्पं यतः । अयमत्र भावः—यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति, तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते, पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति ॥ ४३ ॥

अब विकल्प रहित सत्ता को ग्रहण करने वाले दर्शन को कहते हैं :—

गाथार्थ :— पदार्थों में विशेषता (भेद) न करके और विकल्प न करके पदार्थों का सामान्य से जो (सत्तावलोकनरूप) ग्रहण करना है, वह परमागम में दर्शन कहा गया है ।४३।

वृत्त्यर्थ :—"जं सामण्णं गहणं भावाणं" जो सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकन से ग्रहण करना; किसका ग्रहण करना ? पदार्थों का ग्रहण करना । क्या करके ? "णेव कट्टुमायारं" नहीं करके, किस को नहीं करके ? आकार अथवा विकल्प को नहीं करके । वह भी क्या करके ? "अविसेसिदूण अट्ठे" पदार्थों को विशेषित या भेद न करके । किस रूप से ? यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बड़ा है, यह छोटा, यह घट है और यह पट है, इत्यादि रूप से भेद न करके । "दंसणमिदि भण्णए समए" वह परमागम में सत्तावलोकनरूप दर्शन कहा जाता है । इसी दर्शन को तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण वाला सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिये । क्यों नहीं कहना चाहिये ? क्योंकि वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तो विकल्परूप है और यह दर्शन-उपयोग विकल्परहित है । तात्पर्य यह है—जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है, वह देखने वाला जब तक विकल्प न करे तब तक तो सत्तामात्र ग्रहण को दर्शन कहते हैं । पश्चात् शुक्ल आदि का विकल्प होजाने पर ज्ञान' कहा जाता है ॥ ४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ छद्मस्थानां ज्ञानं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं भवति, मुक्तात्मनां युगपदिति प्रतिपादयति :—

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ ४४ ॥

दर्शनपूर्वं ज्ञानं छद्मस्थानां न द्वौ उपयोगौ ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत् तु तौ द्वौ अपि ॥ ४४ ॥

व्याख्या—"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं" सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति छद्मस्थानां संसारिणां । कस्मात् ? 'ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा' ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं युगपन्न भवति यस्मात् । 'केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि' केवलिनाथे तु युगपत्तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ द्वौ भवत इति ।

अथ विस्तरः—चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वकीयस्वकीयक्षयोपशमानुसारेण तद्योग्यदेशस्थितरूपादिविषयाणां ग्रहणमेव सन्निपातः सम्बन्धः सन्निकर्षो भण्यते । न च नैयायिकमतवच्चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिस्वकीयस्वकीयविषयपार्श्वे गमनं

छद्मस्थों के सत्तावलोकनरूप दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, और मुक्त जीवों के दर्शन और ज्ञान एक ही साथ होते हैं, अब ऐसा बतलाते हैं :—

गाथार्थ :—छद्मस्थ जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है । क्योंकि, छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते । केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक साथ होते हैं ॥ ४४ ॥

वृत्त्यर्थ :—"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं" छद्मस्थ-संसारी जीवों के सत्तावलोकनरूप दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है । क्यों ? "ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा" क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों एक साथ नही होते । "केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि" और केवली भगवान के ज्ञान दर्शन दोनों उपयोग एक ही साथ होते हैं ।

इसका विस्तार—चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार अपने योग्य देश में विद्यमान रूप आदि अपने विषयों का ग्रहण करना ही सन्निपात, सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहा गया है । यहां नैयायिक मत के समान चक्षु आदि इन्द्रियों का जो अपने अपने रूप आदि विषयों के पास जाना है, उसको 'सन्निकर्ष' न कहना चाहिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति सन्निकर्षो वक्तव्यः । स एव सम्बन्धो लक्षणं यस्य तल्लक्षणं यन्निर्विकल्पं सत्तावलोकनदर्शनं तत्पूर्वं शुक्लमिदमित्याद्यवग्रहादिविकल्परूपमिन्द्रियानिन्द्रियजनितं मतिज्ञानं भवति । इत्युक्तलक्षणमतिज्ञानपूर्वकं तु धूमादग्निविज्ञानवदर्थादर्थान्तरग्रहणरूपं लिङ्गजं, तथैव घटादिशब्दश्रवणरूपं शब्दजं चेति द्विविधं श्रुतज्ञानं भवति । अथावधिज्ञानं पुनरवधिदर्शनपूर्वकमिति । ईहामतिज्ञानपूर्वकं तु मनःपर्ययज्ञानं भवति ।

अत्र श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूपं मतिज्ञानं भणितम्, तदपि दर्शनपूर्वकत्वादुपचारेण दर्शनं भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वकं ज्ञातव्यमिति । एवं छद्मस्थानां सावरणक्षयोपशमिकज्ञानसहितत्वात् दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति । केवलिनां तु भगवतां निर्विकारस्वसम्वेदनसमुत्पन्ननिरावरणक्षायिकज्ञानसहितत्वान्निर्मेघादित्ये युगपदातपप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विज्ञेयम् । छद्मस्था इति कोऽर्थः ? छद्मशब्देन ज्ञानदर्शना-

---

इन्द्रिय पदार्थ का वह सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष जिसका लक्षण है; ऐसे लक्षणवाला निर्विकल्पक-सत्तावलोकन दर्शन है, उस दर्शनपूर्वक 'यह सफेद है' इत्यादि अवग्रह आदि विकल्परूप तथा पांचों इन्द्रियों व अनिन्द्रिय मन से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है । उक्त लक्षण वाले मतिज्ञान पूर्वक, धुयें से अग्नि के ज्ञान के समान, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को ग्रहण करनेरूप लिंगज (चिन्ह से उत्पन्न होनेवाला) तथा इसी प्रकार घट आदि शब्दों के सुननेरूप शब्दज (शब्द से उत्पन्न होनेवाला), ऐसे दो प्रकार का श्रुतज्ञान होता है (श्रुतज्ञान दो तरह का है—लिंगज और शब्दज । उनमें से एक पदार्थ को जानकर उसके द्वारा दूसरे पदार्थ को जानना, वह लिंगज श्रुतज्ञान है । शब्दों को सुनने से जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है) । अवधि-दर्शन पूर्वक अवधिज्ञान होता है । ईहा मतिज्ञान पूर्वक मनःपर्ययज्ञान होता है ।

यहां श्रुतज्ञान को और मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करनेवाला अवग्रह, ईहा आदिरूप मतिज्ञान कहा है, वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है, इसलिये वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है । इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, इन दोनों को भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिये । इस प्रकार छद्मस्थ जीवों के सावरण क्षायोपशमिक-ज्ञान होने से, दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है । केवली भगवान् के निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न निरावरण क्षायिक ज्ञान होने से, बादल हट जाने पर सूर्य के युगपत् आतप और प्रकाश के समान, दर्शन और ज्ञान ये दोनों युगपत् होते हैं, ऐसा जानना चाहिये । प्रश्न—'छद्मस्थ' शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर—'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनों कर्म कहे जाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वरणद्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। एवं तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम्।

अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते। तथाहि—उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तद्ज्ञानमिति वार्त्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद्व्यावर्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते।

अत्राह शिष्यः—यद्यात्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मानं न जानाति; तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः। नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति; तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरि-

---

हैं, उस छद्म में जो रहते हैं वे छद्मस्थ है। इस प्रकार तर्क के अभिप्राय से सत्तावलोकन-रूप दर्शन का व्याख्यान किया।

इसके आगे सिद्धान्त के अभिप्राय से कहते हैं। तथा—आगे होने वाले ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न, उस रूप अथवा निज-आत्मा का जो परिच्छेदन अर्थात् अव-लोकन, वह दर्शन कहलाता है। उसके अनन्तर बाह्य विषय में विकल्परूप से जो पदार्थ का ग्रहण है, वह ज्ञान है; यह वार्त्तिक है। जैसे कोई पुरुष पहले घट विषयक विकल्प करता हुआ स्थित है, पश्चात् उसका चित्त पट को जानने के लिये होता है तब वह पुरुष घट के विकल्प से हट कर स्वरूप में जो प्रयत्न-अवलोकन-परिच्छेदन करता है; उसको दर्शन कहते हैं। उसके अनन्तर 'यह पट है' ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषयरूप से पदार्थ के ग्रहणरूप जो विकल्प होता है उस विकल्प को ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ शिष्य पूछता है, यदि अपने को ग्रहण करनेवाला दर्शन और पर-पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है; तो नैयायिकों के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है वैसे ही जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है; ऐसा दूषण आता है ? शङ्का का परिहार—नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन अलग-अलग दो गुण नहीं हैं, इस कारण उन नैयायिकों के मत में 'आत्मा को जानने के अभावरूप' दूषण आता है। किन्तु जैन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत् ? यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहकः, पचतीति पाचकः, विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। तथैवाभेदनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनय-विवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। किं च, यदि सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तदा ज्ञानस्य प्रमाणत्वं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत्—वस्तुग्राहकं प्रमाणं; वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं; ज्ञानेन पुनर्वस्त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो; न च वस्तु। सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्नत्वात् संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति।

अथ मतं—यदि दर्शनं बहिर्विषये न प्रवर्त्तते तदान्धवत् सर्वजनानामन्धत्वं प्राप्नोतीति ? नैवं वक्तव्यम्। बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं

सिद्धान्त में, आत्मा ज्ञान गुण से पर पदार्थ को जानता है तथा दर्शन गुण से आत्मा स्व को जानता है, इस कारण जैनमत में 'आत्मा को न जानने का' दूषण नहीं आता। यह दूषण क्यों नहीं आता ? उत्तर—जैसे एक ही अग्नि जलाती है, अतः वह दाहक है और पकाती है इस कारण पाचक है; विषय के भेद से दाहक, पाचक रूप अग्नि दो प्रकार की है। उसी प्रकार अभेदनय से चैतन्य एक ही है; भेदनय की विवक्षा में जब आत्मा को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उसका नाम 'दर्शन' है, और फिर जब पर पदार्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उस चैतन्य का नाम 'ज्ञान' है, इस प्रकार विषयभेद से चैतन्य दो प्रकार का होता है। विशेष बात यह है—यदि सामान्य के ग्रहण करने वाले को दर्शन और विशेष के ग्रहण करने वाले को ज्ञान कहा जावे तो ज्ञान को प्रमाणता नहीं आती। शङ्का—ज्ञान को प्रमाणता क्यों नहीं आती ? समाधान—वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण है। वस्तु सामान्य-विशेष स्वरूप है। ज्ञान ने वस्तु का एक देश जो विशेष, उस विशेष को ही ग्रहण किया, न कि सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण किया। सिद्धान्त से निश्चय-नय की अपेक्षा गुण-गुणी अभिन्न हैं; अतः संशय-विमोह-विभ्रम से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। जैसे प्रदीप स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और पर के सामान्य-विशेष को जानता है, इस कारण अभेद से आत्मा के ही प्रमाणता है।

आशङ्का—यदि दर्शन बाह्य विषय को ग्रहण नहीं करता तो अंधे की तरह सब मनुष्यों के अंधेपने का प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा ? समाधान—ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिच्छिनत्तीति । अयं तु विशेषः—दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति; ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्विस्त्वपि गृहीतं भवति इति । अथोक्तं भवता यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते, तर्हि 'जं सामण्णं गहणं भावाणं तद्दर्शनम्' इति गाथार्थः कथं घटते ? तत्रोत्तरं सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम् । कस्मादिति चेत् ? आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति; किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यत इति गाथार्थः ।

किं बहुना, यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धान्तार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति । कथमिति चेत् ? तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति । तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति । पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत् सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकन-

---

बाह्य विषय में दर्शनाभाव होने पर भी आत्मा ज्ञान द्वारा विशेष रूप से सब पदार्थों को जानता है । विशेष यह है—जब दर्शन से आत्मा का ग्रहण होता है, तब आत्मा में व्याप्त ज्ञान का भी दर्शन द्वारा ग्रहण होजाता है; ज्ञान के ग्रहण होजाने पर ज्ञान के विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है । शङ्का—जो आत्मा को ग्रहण करता है, यदि आप उसको दर्शन कहते हो, तो "जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है" यह गाथा-अर्थ आपके कथन में कैसे घटित होता है ? उत्तर—यहाँ पर 'सामान्य-ग्रहण' शब्द का अर्थ 'आत्मा का ग्रहण करना' है । 'सामान्य ही आत्मा है', ऐसा अर्थ क्यों है ? उत्तर—वस्तु का ज्ञान करता हुआ आत्मा, 'मैं इसको जानता हूँ, इसको नहीं जानता हूँ', इस प्रकार का विशेष पक्षपात नहीं करता है; किन्तु सामान्यरूप से पदार्थ को जानता है । इस कारण 'सामान्य' शब्द से 'आत्मा' कहा जाता है । यह गाथा का अर्थ है ।

बहुत कहने से क्या—यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जानकर, एकान्त दुराग्रह को त्याग करके, नयों के विभाग से मध्यस्थता धारण करके; व्याख्यान करता है तब तो तर्क-अर्थ व सिद्धान्त-अर्थ ये दोनों ही सिद्ध होते हैं । कैसे सिद्ध होते हैं ? उत्तर—तर्क में मुख्यता से अन्य-मतों का व्याख्यान है । इसलिये उसमें यदि कोई अन्य-मतावलम्बी पूछे कि, जैन-सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान, जो दो गुण कहे हैं; वे कैसे घटित होते हैं ? तब इसके उत्तर में उन अन्य मतियों को कहा जाय कि, 'जो आत्मा को ग्रहण करने वाला है, वह दर्शन है' तो वे अन्य मती इसको नहीं समझते । तब आचार्यों ने उनको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादिविशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति । सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या । तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति ।

अत्राह शिष्यः—सत्तावलोकनदर्शनस्य ज्ञानेन सह भेदो ज्ञातस्तावदिदानीं यत्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं वस्तुविचाररूपं सम्यग्ज्ञानं तयोर्विशेषो न ज्ञायते । कस्मादितिचेत् । सम्यग्दर्शने पदार्थनिश्चयोऽस्ति, तथैव सम्यग्ज्ञाने च, को विशेष इति ? अत्र परिहारः—अर्थग्रहणपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशमविशेषो ज्ञानं भण्यते, तत्रैव भेदनयेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मादितत्त्वेष्विदमेवेत्थमेवेति निश्चयसम्यक्त्वमिति । अविकल्परूपेणाभेदनयेन पुनर्यदेव सम्यग्ज्ञानं तदेव सम्यक्त्वमिति । कस्मादिति चेत्—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवबुद्धिरधर्मे धर्मबुद्धिरित्यादिविपरीताभिनिवेशरहितस्य ज्ञानस्यैव सम्यग्विशेषणवाच्योऽवस्थाविशेषः सम्यक्त्वं भण्यते यतः कारणात् ।

प्रतीति कराने के लिये स्थूल व्याख्यान से बाह्य विषय में जो सामान्य का ग्रहण है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया; 'यह सफेद है' इत्यादि रूप से बाह्य विषय में जो विशेष का जानना है, उसका नाम 'ज्ञान' स्थापित किया; अतः दोष नहीं है । सिद्धान्त में मुख्यता से निजसमय का व्याख्यान है, इसलिये सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यों ने 'जो आत्मा का ग्राहक है' उसको 'दर्शन' कहा है । अतः इसमें भी दोष नहीं ।

यहाँ शिष्य शङ्का करता है—सत्ता-अवलोकनरूप-दर्शन का ज्ञान के साथ भेद जाना, किन्तु तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप-सम्यग्दर्शन और वस्तु-विचाररूप-सम्यग्ज्ञान इन दोनों में भेद नहीं जाना । यदि कहो कि कैसे नहीं जाना; तो पदार्थ का जो निश्चय सम्यग्दर्शन में है वही सम्यग्ज्ञान में हैं । इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में क्या भेद है ? समाधान—पदार्थ के ग्रहण में जाननेरूप क्षयोपशम विशेष 'ज्ञान' कहलाता है । उस ज्ञान में ही, वीतराग सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में 'यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है', इस प्रकार का जो निश्चय है, भेदनय से वह सम्यक्त्व है । निर्विकल्परूप अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है । ऐसा क्यों है ? उत्तर—'अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि, अदेव (देव नहीं) में देव-बुद्धि और अधर्म में धर्म-बुद्धि' इत्यादि विपरीताभिनिवेश से रहित ज्ञान की ही, 'सम्यक्' विशेषण से कहे जाने वाली अवस्था-विशेष 'सम्यक्त्व' कहलाती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत् ? तत्रोत्तरम्—येन कर्मणार्थपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशमः प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपशमविशेषस्य यत् कर्म पूर्वोक्तलक्षणं विपरीताभिनिवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसंज्ञेति भेदनयेनावरणभेदः। निश्चयनयेन पुनरभेदविवक्षायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम्। एवं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ४४ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गतृतीयावयवभूतं स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोगलक्षणवीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति :—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम् ॥ ४५ ॥

असुभात् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम्।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥ ४५ ॥

शंका—यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद नहीं है तो उन दोनों गुणों के घातक ज्ञानावरण और मिथ्यात्व दो कर्म कैसे कहे गये हैं ? समाधान—जिस कर्म से पदार्थ के जानने रूप क्षयोपशम ढक जाता है; उसकी 'ज्ञानावरण' संज्ञा है और उस क्षयोपशम विशेष में जो कर्म, पूर्वोक्त लक्षण वाले विपरीत–अभिनिवेश को उत्पन्न करता है, उस कर्म की 'मिथ्यात्व' संज्ञा है। इस प्रकार भेद नय से आवरण में भेद है। निश्चय नय से अभेद की विवक्षा में कर्मपने की अपेक्षा उन दो आवरणों को एक ही जानना चाहिए। इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; ऐसा व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ॥ ४४ ॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान–पूर्वक होने वाला रत्नत्रय-स्वरूप मोक्षमार्ग का तीसरा अवयवरूप और स्व-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप-शुद्धोपयोग लक्षणवाले वीतराग चारित्र को परंपरा से साधने वाला, ऐसे सराग-चारित्र को कहते हैं:—

गाथार्थ :—अशुभ कार्य से निवृत्ति (दूर होना) और शुभ कार्य में प्रवृत्ति, उसको (व्यवहार) चारित्र जानो। श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार नय से उस चारित्र को ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ॥ ४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूतं देशचारित्रं तावत्कथ्यते। तद्यथा—मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामे वा सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवास्तवसुखामृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेषु योऽसौ हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती व्रतरहितो दार्शनिको भण्यते। यश्चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञद्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती श्रावको भण्यते।

तस्यैकादशभेदाः कथ्यन्ते। तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चकपरिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् संग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापद्धर्यादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादो निवृत्तः प्रथमो दार्शनिकश्रावको भण्यते। स एव सर्वथा त्रसवधे निवृत्तः सन् पञ्चाणुव्रतत्रयगुणव्रतशिक्षाव्रतचतुष्टयसहितो द्वितीयव्रतिकसंज्ञो भवति। स एव त्रिकालसामायिके प्रवृत्तः तृतीयः, प्रोषधोपवासे प्रवृत्तश्चतुर्थः, सचित्तपरिहारेण पञ्चमः, दिवा ब्रह्मचर्येण षष्ठः, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तमः,

---

वृत्त्यर्थ :—इसी सराग-चारित्र के एक देश अवयवरूप देशचारित्र को कहते हैं। वह इस प्रकार है—मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर अथवा अध्यात्म भाषा के अनुसार निज-शुद्ध-आत्मा के सन्मुख परिणाम होने पर, शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके, संसार शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धि है, वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध चतुर्थ गुणस्थान वाला व्रतरहित दार्शनिक है। जो अप्रत्याख्यानावरण द्वितीयकषाय के क्षयोपशम होने पर, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांच स्थावरों के वध में प्रवृत्त होते हुए भी, अपनी शक्ति अनुसार त्रसजीवों के वध से निवृत्त होता है (अर्थात् यथाशक्ति त्रसजीवों की हिंसा नहीं करता है), उसको पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक कहते हैं।

उस पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक के ११ भेद कहते हैं। सम्यग्दर्शन-पूर्वक मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलों के त्यागरूप आठ मूलगुणों को पालता हुआ जो जीव युद्धादि में प्रवृत्त होने पर भी, पाप को बढ़ाने वाले शिकार आदि के समान बिना प्रयोजन जीवघात नहीं करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं। वही दार्शनिक श्रावक जब त्रसजीव की हिंसा से सर्वथा रहित होकर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का आचरण करता है तब 'व्रती' नामक दूसरा श्रावक होता है। वही जब त्रिकाल सामायिक में प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाधारी, प्रोषध-उपवास में प्रवृत्त होने पर चौथी प्रतिमाधारी, सचित्त के त्याग से पांचवीं प्रतिमा, दिन में ब्रह्मचर्य धारण करने से छठी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तोऽष्टमः, वस्त्रप्रावरणं विहायान्यसर्वपरिग्रहनिवृत्तो-नवमः, गृहव्यापारादिसर्वसावद्यानुमतनिवृत्तो दशमः, उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशम इति। एतेष्वेकादशश्रावकेषु मध्ये प्रथमषट्कं तारतम्येन जघन्यम्, ततश्च त्रयं मध्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति संक्षेपेण दार्शनिकश्रावकाद्येकादशभेदाः ज्ञातव्याः।

अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तरं सकलचारित्रमुपदिशति। "असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं" अशुभान्निवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारित्रम्। तच्च कथम्भूतं? 'वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं' व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयाज्जिनैरुक्तमिति। तथाहि प्रत्याख्यानावरणसंज्ञ-तृतीयकषायक्षयोपशमे सति "विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो। उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो। १।" इति गाथाकथितलक्षणादशुभोपयोगान्निवृत्तिस्तद्विलक्षणे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे शिष्य चारित्रं जानीहि। तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्य-

---

प्रतिमा, सर्वथा ब्रह्मचर्य को धारण करने से सप्तम प्रतिमा, आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग से अष्टम प्रतिमा, पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सब परिग्रहों को त्यागने से नवमी प्रतिमा, घर-व्यापार आदि सम्बन्धी समस्त सावद्य (पापजनक) कार्यों में सम्मति (सलाह) देने के त्याग से दशमी प्रतिमा, और उद्दिष्ट आहार के त्याग से ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है। इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में, पहली छः प्रतिमा वाले तारतमता से जघन्य श्रावक हैं; सातवीं, आठवीं और नववीं इन तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं; दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाओं के धारक उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार संक्षेप से देश-चारित्र के दार्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहियें।

अब इस एकदेशचारित्र के व्याख्यान के अनन्तर सकलचारित्र को कहते हैं— "असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं" हे शिष्य! अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ में जो प्रवृत्ति है, उसको चारित्र जानो। वह कैसा है? "वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं" व्रत-समिति-गुप्तिरूप है, व्यवहार नय से श्री जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है। वह इस प्रकार है—प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरी कषाय के क्षयोपशम होने पर "जिसका उपयोग विषय-कषायों में मग्न है, दुःश्रुति (विकथा), दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (बुरी संगति), उग्र तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) में तत्पर है, वह जीव अशुभ में स्थित है। १।" "इस गाथा में कहे हुए अशुभोपयोग से छूटना और उक्त अशुभोपयोग से विलक्षण (उल्टा) शुभोपयोग में प्रवृत्त होना", हे शिष्य! उसको तुम चारित्र जानो। आचार-आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे अनुसार वह चारित्र पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति । तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः । एवं निश्चयचारित्रसाधकं व्यवहारचारित्रं व्याख्यातमिति ॥ ४५ ॥

अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति :—

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४६ ॥

बहिरभ्यन्तरक्रियारोधः भवकारणप्रणाशार्थम् ।
ज्ञानिनः यत् जिनोक्तम् तत् परमं सम्यक्चारित्रम् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—'तं' तत् 'परमं' परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं 'सम्मचारित्तं' सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम् । तत्किं—'बहिरब्भंतरकिरियारोहो' निष्क्रियनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपक्षभूतस्य बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे

गुप्तिरूप है, तो भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षण वाला सरागचारित्र होता है। उसमें भी बाह्य में जो पांचों इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है, वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय से चारित्र है और अन्तरंग में जो राग आदि का त्याग है, वह अशुद्ध निश्चय नय से चारित्र है। इस तरह नय-विभाग जानना चाहिये। ऐसे निश्चयचारित्र को साधने वाले व्यवहारचारित्र का व्याख्यान किया ॥ ४५ ॥

अब उसी व्यवहारचारित्र से साध्य निश्चयचारित्र का निरूपण करते हैं:—

गाथार्थ :—संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये ज्ञानी जीव के जो बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं का निरोध है; श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ॥४६॥

वृत्त्यर्थ :—'तं' वह 'परमं' परम उपेक्षा लक्षण वाला (संसार, शरीर, असंयम आदि में अनादर) तथा निर्विकार स्वसंवेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत उत्कृष्ट 'सम्मचारित्तं' सम्यक्चारित्र जानना चाहिए। वह क्या ? 'बहिरब्भंतरकिरियारोहो' निःक्रिय-नित्य-निरंजन-निर्मल ज्ञानदर्शन स्वभाव वाली निज-आत्मा से प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल), बाह्य में वचन काय के शुभाशुभ व्यापाररूप, अन्तरंग में मन के शुभाशुभ विकल्परूप, ऐसी क्रियाओं के व्यापार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः, स च किमर्थं ? 'भवकारणप्पणासट्ठं' पञ्चप्रकारभवातीतनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति । इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति ? "णाणिस्स" निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः । पुनरपि किं विशिष्टं ? "जं जिणुत्तं" यज्जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तमिति । एवं वीतरागसम्यक्त्वज्ञानाविनाभूतं निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गं तृतीयावयवरूपं वीतरागचारित्रं व्याख्यातम् ॥ ४६ ॥ इति द्वितीयस्थले गाथाष्टकं गतम् ।

एवं मोक्षमार्गप्रतिपादकतृतीयाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसंक्षेपकथनेन सूत्रद्वयम्, तदनन्तरं तस्यैव मोक्षमार्गस्यावयवभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां विशेषविवरणरूपेण सूत्रषट्कं चेति स्थलद्वयसमुदायेनाष्टगाथाभिः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अतः परं ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं, ततः परं पञ्चपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं, ततश्च तस्यैव

का निरोध (त्याग), चारित्र है । वह चारित्र किस लिए है ? 'भवकारणप्पणासट्ठं' पांच प्रकार के संसार से रहित निर्दोष परमात्मा से विलक्षण जो संसार, उस संसार के व्यापार का कारणभूत शुभ-अशुभ कर्म-आस्रव, उस आस्रव के विनाश के लिये चारित्र है । ऐसा बाह्य, अन्तरङ्ग क्रियाओं के त्यागरूप चारित्र किसके होता है ? 'णाणिस्स' निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अभेदज्ञानी जीव के ऐसा चारित्र होता है । वह चारित्र फिर कैसा है ? 'जं जिणुत्तं' वह चारित्र जिनेन्द्रदेव वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ है । इस प्रकार वीतराग सम्यक्त्व व ज्ञान का अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग का तीसरा अवयवरूप वीतराग-चारित्र का व्याख्यान हुआ । ४६ । ऐसे दूसरे स्थल में छः गाथायें समाप्त हुईं ।

इस प्रकार मोक्षमार्ग को प्रतिपादन करने वाले तीसरे अधिकार में निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग के संक्षेप कथन से दो सूत्र और तदनन्तर उसी मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के विशेष व्याख्यान रूप से छः सूत्र हैं । इस प्रकार दो स्थलों के समुदायरूप आठ गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करने वाला), ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) और ध्यान का फल इनके वर्णन की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथायें, तदनन्तर पंच-परमेष्ठियों के व्याख्यान रूप से दूसरे स्थल में पांच गाथायें; और इसके पश्चात् उसी ध्यान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानस्योपसंहाररूपविशेषव्याख्यानेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयमिति स्थलत्रयसमुदायेन द्वादशसूत्रेषु द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

तथाहि—निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमित्युपदिशति :—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

द्विविधं अपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनिः नियमात् ।
तस्मात् प्रयत्नचित्ताः यूयं ध्यानं समभ्यसत ॥ ४७ ॥

व्याख्या—"दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा" द्विविधमपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यस्मात् मुनिर्नियमात् । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षहेतुं निश्चयमोक्षमार्गं तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च यं साध्यसाधकभावेन कथितवान् पूर्वं, तद् द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति यस्मात्कारणात् "तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह" तस्मात् प्रयत्नचित्ताः सन्तो हे भव्या

के उपसंहाररूप विशेष व्याख्यान द्वारा तीसरे स्थल में चार गाथायें, इस प्रकार तीन स्थलों के समुदाय से बारह गाथासूत्रमयी दूसरे अंतराधिकार की समुदाय रूप भूमिका है ।

तथाहि—निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग को साधने वाले ध्यान का अभ्यास करो, ऐसा उपदेश देते हैं :—

गाथार्थ :—ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को पाते हैं । इस कारण तुम चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो ।४७।

वृत्त्यर्थ :—'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा' क्योंकि मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष-कारणों को प्राप्त होते हैं । विशेष—निश्चय-रत्नत्रय-स्वरूप निश्चय-मोक्ष-कारण अर्थात् निश्चय मोक्ष-मार्ग और इसी प्रकार व्यवहार-रत्नत्रय-स्वरूप व्यवहार-मोक्षहेतु अर्थात् व्यवहार-मोक्षमार्ग, जिनको साध्यसाधक भाव से (निश्चय-साध्य और व्यवहार-साधक है) पहले कहा है, उन दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों को, क्योंकि मुनि निर्विकार स्वसंवेदन स्वरूप परमध्यान द्वारा प्राप्त होते हैं, 'तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह' इसी कारण एकाग्रचित्त होकर हे भव्यजनों ! तुम भले प्रकार से ध्यान का अभ्यास करो,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यूयं ध्यानं सम्यगभ्यसत । तथा हि—तस्मात्कारणात् दृष्टश्रुतानुभूतनानामनोरथ-रूपसमस्तशुभाशुभरागादिविकल्पजालं त्यक्त्वा, परमस्वास्थ्यसमुत्पन्नसहजानन्दैक-लक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमिति ॥ ४७ ॥

अथ ध्यातृ-पुरुषलक्षणं कथयति :—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणाप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥

मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु ।
स्थिरं इच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥ ४८ ॥

व्याख्या—"मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्तमोहरागद्वेषजनित-विकल्पजालरहितनिजपरमात्मतत्त्वभावनासमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्व-काशादुद्गता संजाता तत्रैव परमात्मसुखास्वादे लीना तन्मया या तु परमकला परमसंवित्तिस्तत्र स्थित्वा हे भव्या मोहरागद्वेषान्मा कुरुत । केषु विषयेषु ? "इट्ठणिट्ठअट्ठेसु" स्रग्वनिताचन्दनताम्बूलादय इष्टेन्द्रियार्थाः, अहिविषकण्टक-

---

अथवा इसी कारण देखे–सुने और अनुभव किये हुए अनेक मनोरथ रूप शुभाशुभ राग आदि विकल्प समूह का त्याग करके तथा परम-निज-स्वरूप में स्थित होने से उत्पन्न हुए सहज-आनन्दरूप एक-लक्षण वाले सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद के अनुभव में स्थित हो कर, तुम ध्यान का अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

अब ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण कहते हैं :—

गाथार्थ :—यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में राग–द्वेष और मोह मत करो ॥४८॥

वृत्त्यर्थः—मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्त मोह, राग–द्वेष से उत्पन्न विकल्प समूह से रहित निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न हुआ एक परमानन्दरूप सुखामृत-रस से उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वाद में लीनरूप जो परम कला अर्थात् परमसंवित्ति (आत्मस्वरूप का अनुभव), उसमें स्थित होकर, हे भव्य जीवो ! मोह, राग द्वेष को मत करो । किनमें मोह–राग–द्वेष मत करो ? "इट्ठणिट्ठअट्ठेसु" माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदिरूप इन्द्रियों के इष्ट विषयों में व सर्प, विष, कांटा, शत्रु तथा रोग आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शत्रुव्याधिप्रभृतयः पुनरनिष्टेन्द्रियार्थास्तेषु । यदि किम् ? "थिरमिच्छहि जइ चित्तं" तत्रैव परमात्मानुभवे स्थिरं निश्चलं चित्तं यदीच्छत यूयं । किमर्थम् ? "विचित्तझाणप्पसिद्धीए" विचित्रं नानाप्रकारं यद्ध्यानं तत्प्रसिद्ध्यै निमित्तं । अथवा विगतं चित्तं चित्तोद्भवशुभाशुभविकल्पजालं यत्र तद्विचित्तं ध्यानम् तदर्थमिति ।

इदानीं तस्यैव ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदाः कथ्यन्ते । तथाहि—इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतीकारभोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विधमार्त्तध्यानम् । तच्च तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिषट्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम् । यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति तथापि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति । कस्मादिति चेत् ? स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूतसंक्लेशाभावादिति ।

अथ रौद्रध्यानं कथ्यते—हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दविषयसंरक्षणानन्दप्रभवं रौद्रं चतुर्विधम् । तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चमगुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवम् ।

इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष मत करो, "थिरमिच्छहि जइ चित्तं" यदि उसी परमात्मा के अनुभव में तुम निश्चल चित्त को चाहते हो । किसलिये स्थिर चित्त को चाहते हो ? "विचित्तझाणप्पसिद्धीए" विचित्र अर्थात् अनेक तरह के ध्यान की सिद्धि के लिये । अथवा जहाँ पर चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभ-अशुभ विकल्प समूह दूर हो गया है, सो 'विचित्त ध्यान' है, उस विचित्त ध्यान की सिद्धि के लिये ।

अब प्रथम ही आगमभाषा के अनुसार उसी ध्यान के नानाप्रकार के भेदों का कथन करते हैं—वह इस प्रकार है इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग और रोग इन तीनों को दूर करने में तथा भोगों व भोगों के कारणों में वांछारूप चार प्रकार का आर्त्तध्यान है (इष्ट का वियोग १, अनिष्ट का संयोग २, रोग ३, इन के होने पर इन के दूर करने की इच्छा करना और भोगनिदानों की वांछा करना) । वह आर्त्तध्यान तारतमता से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान तक के जीवों के होता है । वह आर्त्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यंच गति के बंध का कारण होता है तथापि जिस जीव के सम्यक्त्व से पहले तिर्यंच-आयु बंध चुकी, उस को छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टि के वह आर्त्तध्यान तिर्यंचगति का कारण नहीं है । शङ्का—क्यों नहीं है ? उत्तर—'निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है' ऐसी भावना के कारण सम्यग्दृष्टि जीवों के तिर्यंचगति का कारणरूप संक्लेश नहीं होता ।

अब रौद्रध्यान को कहते हैं । रौद्रध्यान—हिंसानन्द (हिंसा करने में आनंद मानना) १,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तच्च मिथ्यादृष्टीनां नरकगतिकारणमपि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति । तदपि कस्मादिति चेत् ? निजशुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति विशिष्टभेदज्ञानबलेन तत्कारणभूततीव्रसंक्लेशाभावादिति ।

अतः परम आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञचतुर्भेदभिन्नं, तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवं, मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारणं चेति धर्मध्यानं कथ्यते । तथाहि—स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावे अपि शुद्धजीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति "सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ १ ॥" इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरणमाज्ञाविचयध्यानं भण्यते । तथैव भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेनास्माकं परेषां वा कदा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तनमपायविचयं ज्ञातव्यम् । शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मविपाकरहितोऽप्ययं जीवः

मृषानन्द (झूठ बोलने में आनन्द मानना) २. स्तेयानन्द (चोरी करने में प्रसन्न होना) ३, विषयसंरक्षणानन्द (परिग्रह की रक्षा में आनन्द मानना) ४ के भेद से चार प्रकार का है । वह मिथ्यादृष्टि से पंचम गुणस्थान तक के जीवों के तारतमता से होता है । रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है, तो भी जिस जीव ने सम्यक्त्व से पूर्व नरकायु बांध ली है उसके अतिरिक्त अन्य सम्यग्दृष्टियों के वह रौद्रध्यान नरकगति का कारण नहीं होता । प्रश्न—ऐसा क्यों है ? उत्तर—सम्यग्दृष्टियों के 'निजशुद्ध-आत्म-तत्त्व ही उपादेय है' इस प्रकार के विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नरकगति का कारणभूत तीव्र संक्लेश नहीं होता ।

इसके आगे आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान के त्यागरूप, १. आज्ञाविचय, २. अपायविचय, ३. विपाकविचय और ४. संस्थानविचय इन चार भेदवाला तारतम वृद्धि के क्रम से असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त इन चार गुणस्थान वाले जीवों के होनेवाला, और प्रधानता से पुण्यबंध का कारण होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारणभूत, ऐसा धर्मध्यान कहा जाता है । वह इस प्रकार है—स्वयं अल्पबुद्धि हो तथा विशेष ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो तब शुद्ध जीव आदि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर, 'श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतुओं से खण्डित नहीं हो सकता, अतः जो सूक्ष्म तत्त्व है उसको जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि श्रीजिनेन्द्र अन्यथावादी (झूठा उपदेश देनेवाले) नहीं हैं ॥ १ ॥' इस श्लोक के अनुसार पदार्थ का निश्चय करना, 'आज्ञाविचय' प्रथम धर्मध्यान कहलाता है । उसी प्रकार भेद–अभेद–रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा, इस प्रकार का चिन्तवन 'अपायविचय' दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिये । शुद्ध निश्चयनय से यह जीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पश्चादनादिकर्मबन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादिदुःखविपाकफलमनुभवति, पुण्योदयेन देवादिसुखविपाकमनुभवतीति विचारणं विपाकविचयं विज्ञेयम् । पूर्वोक्तलोकानुप्रेक्षाचिन्तनं संस्थानविचयम् । इति चतुर्विधं धर्मध्यानं भवति ।

अथ पृथक्त्ववितर्कवीचारं एकत्ववितर्कावीचारं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चेति भेदेन चतुर्विधं शुक्लध्यानं कथयति । तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कवीचारं तावत्कथ्यते । द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनम् वचनाद्वचनान्तरपरिणमनम् मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते । अयमत्रार्थः—यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते । तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमकानिवृत्त्युपशमकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति । क्षपक-

---

शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से रहित है, फिर भी अनादि कर्म-बन्ध के कारण पाप के उदय से नारक आदि के दुःखरूप फल का अनुभव करता है और पुण्य के उदय से देव आदि के सुखरूप विपाक को भोगता है; इस प्रकार विचार करना सो 'विपाकविचय' तीसरा धर्मध्यान जानना चाहिये। पहले कही हुई लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करना, 'संस्थानविचय' चौथा धर्मध्यान है। इस तरह चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

अब १. पृथक्त्ववितर्कवीचार, २. एकत्ववितर्क अवीचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, ४. व्युपरतक्रियानिवृत्ति, ऐसे चार प्रकार के शुक्लध्यान को कहते हैं। 'पृथक्त्ववीचार' प्रथम शुक्लध्यान का कथन करते हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को 'पृथक्त्व' कहते हैं। निज-शुद्ध-आत्मा का अनुभवरूप भावश्रुत को और निज-शुद्ध-आत्मा को कहनेवाले अन्तरजल्परूप वचन को 'वितर्क' कहते हैं। इच्छा बिना ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे वचन में, मन वचन काय इन तीनों योगों में से किसी एक योग से दूसरे योग में, जो परिणमन (पलटन) है, उसको 'वीचार' कहते हैं। इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज-शुद्ध-आत्मसंवेदन को छोड़कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशों से स्वरूप में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से अनिच्छितवृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस कारण इस ध्यान को 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' कहते हैं। यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण-उपशमक, अनिवृत्तिकरण-उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्तकषाय, इन (८, ९, १०, ११) चार गुण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रेण्यां पुनरपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसाम्परायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथमं शुक्लध्यानं व्याख्यातम् ।

निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूयावीचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तनं न करोति यत्तदेकत्ववितर्कावीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते । तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिः इति । अथ सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूपं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं तृतीयं शुक्लध्यानम् । तच्चोपचारेण सयोगिकेवलिजिने भवतीति । विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद्व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानं । तच्चोपचारेणायोगिकेवलि जिने भवतीति । इति संक्षेपेणागमभाषया विचित्रध्यानं व्याख्यातम् ।

अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादि-

---

स्थानों में होता है । क्षपकश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक और सूक्ष्मसाम्परायक्षपक नामक, (८, ९, १०) इन तीन गुणस्थानों में होता है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान का व्याख्यान हुआ ।

निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य में या विकार रहित आत्मसुख-अनुभवरूप पर्याय में, या उपाधिरहित स्वसंवेदन गुण में, इन तीनों में से जिस एक द्रव्य, गुण या पर्याय में (जो ध्यान) प्रवृत्त होगया और उसी में वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय में परावर्त्तन नहीं करता, वह "एकत्ववितर्क अवीचार" नामक, क्षीणकषाय (१२ वें) गुणस्थान में होनेवाला, दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है । इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है । अब सूक्ष्म काय की क्रिया के व्यापाररूप और अप्रतिपाति (कभी न गिरे) ऐसा "सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति" नामक तीसरा शुक्लध्यान है । वह उपचार से सयोगिकेवलिजिन (१३ वें) गुणस्थान में होता है । विशेषरूप से उपरत अर्थात् दूर होगई हैं क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिय है; व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति अर्थात् निवृत्ति न हो (मुक्त न हुआ हो), वह "व्युपरतक्रियानिवृत्ति" नामा चतुर्थ शुक्लध्यान है । वह उपचार से अयोगि केवलि जिन के (१४ वें गुणस्थान में) होता है । आगम भाषा से नाना प्रकार के ध्यानों का संक्षेप से कथन हुआ ।

अध्यात्म भाषा से, सहज-शुद्ध-परम-चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्द का धारी भगवान् निज आत्मा में उपादेयबुद्धि (निज-शुद्ध-आत्मा ही ग्राह्य है) करके, फिर 'मैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावनारूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति । तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानम् इति । अथवा "पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ।१।" इति श्लोककथितक्रमेण विचित्रध्यानं ज्ञातव्यमिति ।

अथ ध्यानप्रतिबन्धकानां मोहरागद्वेषाणां स्वरूपं कथ्यते । शुद्धात्मादितत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशजनको मोहो दर्शनमोहो मिथ्यात्वमिति यावत् । निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणवीतरागचारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो रागद्वेषौ भण्येते । चारित्रमोहो शब्देन रागद्वेषौ कथं भण्येते ? इति चेत्—कषायमध्ये क्रोधमानद्वयं द्वेषाङ्गम्, मायालोभद्वयं च रागाङ्गम्, नोकषायमध्ये तु स्त्रीपुंनपुंसकवेदत्रयं हास्यरतिद्वयं च रागाङ्गम्, अरतिशोकद्वयं भयजुगुप्साद्वयं च द्वेषाङ्गमिति ज्ञातव्यम् । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिता इति ? तत्रोत्तरम्—स्त्रीपुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता

अनन्त ज्ञानमयी हूं, मैं अनन्त सुखरूप हूँ' इत्यादि भावनारूप अन्तरङ्ग धर्मध्यान है। पंचपरमेष्ठियों की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभ अनुष्ठान का करना बहिरङ्ग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज-शुद्ध-आत्मा में विकल्परहित समाधिरूप शुक्लध्यान है। अथवा "मन्त्रवाक्यों में स्थित 'पदस्थध्यान' है, निज आत्मा का चिंतवन 'पिण्डस्थध्यान' है, सर्वचिद्रूप का चिन्तवन 'रूपस्थध्यान' है और निरंजन का ध्यान 'रूपातीत' ध्यान है। १।" इस श्लोक में कहे हुए क्रम के अनुसार अनेक प्रकार का ध्यान जानना चाहिये।

अब ध्यान के प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) मोह, राग तथा द्वेष का स्वरूप कहते हैं। शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करनेवाला मोह, दर्शनमोह अथवा मिथ्यात्व है। निर्विकार-निज-आत्मानुभवरूप वीतराग चारित्र को ढकने वाला चारित्रमोह अथवा राग-द्वेष कहलाता है। प्रश्न—चारित्रमोह शब्द से राग द्वेष कैसे कहे गये? उत्तर—कषायों में क्रोध-मान ये दो द्वेष अंश हैं और माया-लोभ ये दोनों राग अंश हैं। नोकषायों में स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये तीन तथा हास्य-रति ये दो, ऐसी पांच नोकषाय राग के अंश; अरति-शोक ये दो, भय तथा जुगुप्सा ये दो, इन चार नोकषायों को द्वेष का अंश जानना चाहिये।

शिष्य पूछता है—राग-द्वेष आदि, कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से? इसका उत्तर—स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान, चूना तथा हल्दी इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए लाल रङ्ग की तरह, राग द्वेष आदि जीव और कर्म इन दोनों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति । पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते । तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति । स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अथ मतम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयम् । तत्रोत्तरम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति । एवं ध्यातृव्याख्यानमुख्यत्वेन तद्बलेन विचित्रध्यानकथनेन च सूत्रं गतम् ॥ ४८ ॥

अतः ऊर्ध्वं पदस्थं ध्यानं मन्त्रवाक्यस्थं यदुक्तं तस्य विवरणं कथयति :—

पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ४९ ॥

पञ्चत्रिंशत् षोडश षट् पञ्च चत्वारि द्विकं एकं च जपत ध्यायत ।
परमेष्ठिवाचकानां अन्यत् च गुरूपदेशेन ॥ ४९ ॥

के संयोग से उत्पन्न हुए हैं । नय की विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से तो राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं । अशुद्ध-निश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं । यह अशुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है । शङ्का—साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय से ये राग-द्वेष किसके हैं; ऐसा हम पूछते हैं ? समाधान—स्त्री और पुरुष के संयोग बिना पुत्र की अनुत्पत्ति की भांति और चूना व हल्दी के संयोग बिना लाल रङ्ग की अनुत्पत्ति के समान साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से इन राग द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती । इसलिये हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर ही कैसे देवें । (जैसे पुत्र न केवल स्त्री से ही होता है और न केवल पुरुष से ही होता है, किन्तु स्त्री व पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है; इसी प्रकार राग द्वेष आदि न केवल कर्मजनित ही हैं और न केवल जीवजनित ही हैं, किन्तु जीव और कर्म इन दोनों के संयोगजनित हैं । साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि में जीव और पुद्गल दोनों शुद्ध हैं और इनके संयोग का अभाव है । इसलिये साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा राग द्वेष आदि की उत्पत्ति ही नहीं है) । इस प्रकार ध्याता (ध्यान करनेवाले) के व्याख्यान की प्रधानता से तथा उसके आश्रय से विचित्र ध्यान के कथन से यह गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

अब आगे 'मन्त्रवाक्यों में स्थित जो पदस्थ ध्यान कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ :—पंच परमेष्ठियों को कहनेवाले पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपद हैं, उनका जाप्य करो और ध्यान करो; इनके अतिरिक्त अन्य मन्त्रपदोंको भी गुरु के उपदेशानुसार जपो और ध्यावो ॥ ४९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—"पणतीस" 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' एतानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते। "सोल" 'अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू' एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि भण्यन्ते। "छ" 'अरिहन्तसिद्ध' एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नाम-पदे द्वे भण्येते। "पण" 'अ सि आ उ सा' एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि भण्यन्ते। "चउ" 'अरिहंत' इदमक्षरचतुष्टयमर्हतो नामपदम्। "दुगं" 'सिद्ध' इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम्। "एगं च" 'अ' इत्येकाक्षरमर्हत आदिपदम्। अथवा 'ओं' एकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम्। तत्कथमिति चेत्? "अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया। मुणिणो पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी। १।" इति गाथाकथितप्रथमाक्षराणां 'समानः सवर्णे दीर्घोभवति' 'परश्च लोपम्' 'उवर्णे ओ' इति स्वरसन्धिविधानेन 'ओं' शब्दो निष्पद्यते। कस्मादिति? 'जवह उज्झाएह' एतेषां पदानां सर्वमंत्रवादपदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोके-ष्टफलप्रदानामर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण वचनोच्चारणेन च

वृत्त्यर्थ :—"पणतीस" 'णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं' ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं। "सोल" 'अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' ये १६ अक्षर पंचपरमेष्ठियों के नाम पद कहलाते हैं। "छ" 'अरिहंतसिद्ध' ये छः अक्षर—अर्हन्त—सिद्ध इन दो परमेष्ठियों के नाम पद कहे जाते हैं। "पण" 'अ सि आ उ सा' ये पंच अक्षर पंच परमेष्ठियों के आदि-पद कहलाते हैं। "चउ" 'अरिहंत' ये चार अक्षर अर्हन्त परमेष्ठी के नामपद हैं। "दुगं" 'सिद्ध' ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नामपद हैं। "एगं च" 'अ' यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठी का आदिपद है; अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों के आदि-पदस्वरूप हैं। प्रश्न—'ओं' यह पंच-परमेष्ठियों के आदिपद रूप कैसे है? उत्तर—"अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ', आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ', मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पांचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओंकार' है, वही पंचपरमेष्ठियों के नाम का आदिपद है।" इस प्रकार गाथा में कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ म्) हैं, इनमें पहले 'समानः सवर्णे दीर्घो भवति' इस सूत्र से 'अ अ आ' मिलकर दीर्घ 'आ' बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे पर अक्षर 'आ' का लोप करके अ अ आ इन तीनों के स्थान में एक 'आ' सिद्ध किया फिर "उवर्णे ओ" इस सूत्र से 'आउ' के स्थान में 'ओ' बनाया ऐसे स्वरसंधि करने से 'ओम्' यह शब्द निस्पन्न हुआ। किस कारण? "जवह उज्झाएह" सब मन्त्रशास्त्र के पदों में सारभूत इस लोक तथा परलोक में इष्ट फल को देने वाले इन पदों का अर्थ जानकर फिर अनन्त-ज्ञान आदि गुणों के स्मरण रूप वचन का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जापं कुरुत । तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुप्तावस्थायां मौनेन ध्यायत । पुनरपि कथम्भूतानां ? 'परमेष्ठिवाचयाणं' 'अरिहंत' इति पदवाचकमनन्तज्ञानादिगुणयुक्तोऽर्हद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्चपरमेष्ठिवाचकानां । 'अण्णं च गुरूवएसेण' अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं, बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम् । इति पदस्थध्यानस्वरूपं व्याख्यातम् ॥ ४६ ॥

एवमनेन प्रकारेण "गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् । एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरौ ॥ १ ॥" इति श्लोककथितलक्षणानां ध्यातृध्येयध्यानफलानां संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथात्रयेण द्वितीयान्तराधिकारे प्रथमं स्थलं गतम् ।

अतः परं रागादिविकल्पोपाधिरहितनिजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादतृप्तिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतम् यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानं तद्ध्येयभूतानां पंचपरमेष्ठिनां मध्ये तावदर्हत्-

---

उच्चारण करके जाप करो । इसी प्रकार शुभोपयोगरूप त्रिगुप्त (मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति) अवस्था में मौनपूर्वक (इन पदों का) ध्यान करो । फिर किन पदों को जपें, ध्यावें ? "परमेष्ठिवाचयाणं" 'अरिहंत' पद वाचक है और अनन्त ज्ञान आदि गुणों से युक्त 'श्रीअर्हत्' इस पद का वाच्य व अभिधेय (कहा जानेवाला) है; आदि प्रकार से पंचपरमेष्ठियों के वाचकों को जपो । "अण्णं च गुरूवएसेण" पूर्वोक्त पदों से अन्य का भी तथा बारहहजार श्लोक प्रमाण पंचनमस्कारमहात्म्य नामक ग्रन्थ में कहे हुए क्रम से लघुसिद्धचक्र, बृहत्सिद्धचक्र इत्यादि देवों के पूजन के विधान का, भेदाभेद-रत्नत्रय के आराधक गुरु के प्रसाद से जानकर, ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार पदस्थ ध्यान के स्वरूप का कथन किया ॥४६॥

इस प्रकार "पांचों इन्द्रियों और मन को रोकने वाला ध्याता (ध्यान करने वाला) है; यथास्थित पदार्थ, ध्येय है; एकाग्र चिन्तन ध्यान है; संवर तथा निर्जरा ये दोनों ध्यान के फल हैं ॥ १ ॥" इस श्लोक में कहे हुए लक्षण वाले ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल का संक्षेप से कथन करने वाली तीन गाथाओं से द्वितीय अन्तराधिकार में प्रथम स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे राग आदि विकल्प रूप उपाधि से रहित निज-परमात्म-पदार्थ की भावना से उत्पन्न होने वाले सदानन्द एक लक्षण वाले सुखामृत रसास्वाद से तृप्ति रूप निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षण वाला व्यवहार ध्यान है उसके ध्येयभूत पंच-परमेष्ठियों में से प्रथम ही जो अर्हत् परमेष्ठी हैं उनके स्वरूप को कहता हूँ, यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूपं कथयामीत्येका पातनिका। द्वितीया तु पूर्वसूत्रोदितसर्वपदनामपदादिपदानां वाचकभूतानां वाच्या ये पञ्चपरमेष्ठिनस्तद्व्याख्याने क्रियमाणे प्रथमतस्तावज्जिन-स्वरूपं निरूपयामि। अथवा तृतीया पातनिका पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति पातनिकात्रयं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति :—

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ ५० ॥

नष्टचतुर्घातिकर्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः।
शुभदेहस्थः आत्मा शुद्धः अर्हन् विचिन्तनीयः ॥ ५० ॥

व्याख्या—"णट्ठचदुघाइकम्मो" निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्वं घातिकर्ममुख्यभूतमोहनीयस्य विनाशनात्तदनन्तरं ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञ-युगपद्घातित्रयविनाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्घातिकर्मा। "दंसणसुहणाणवीरियम-ईओ" तेनैव घातिकर्माभावेन लब्धानन्तचतुष्टयत्वात् सहजशुद्धाविनश्वरदर्शन-ज्ञानसुखवीर्यमयः। "सुहदेहत्थो" निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहित-

---

एक पातनिका है। पूर्व गाथा में कहे हुए सर्वपद-नामपद-आदिपदरूप वाचकों के वाच्य जो पंच-परमेष्ठी, उनका व्याख्यान करने में प्रथम ही श्री जिनेन्द्र के स्वरूप को निरूपण करता हूँ, यह दूसरी पातनिका है। अथवा पदस्थ, पिंडस्थ तथा रूपस्थ इन तीन ध्यानों के ध्येयभूत श्री अर्हंत सर्वज्ञ के स्वरूप को दिखलाता हूं, यह तीसरी पातनिका है। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओं को मन में धारण करके सिद्धान्तदेव श्री नेमिचन्द्र आचार्य इस अग्रिम गाथासूत्र का प्रतिपादन करते हैं:—

गाथार्थ :—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्त-दर्शन-सुख-ज्ञान और वीर्य के धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध-आत्मस्वरूप अरिहंत का ध्यान करना चाहिये ॥ ५० ॥

वृत्त्यर्थ :—"णट्ठचदुघाइकम्मो" निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगमयी ध्यान के द्वारा पहले घातिया कर्मों में प्रधान मोहनीयकर्म का नाश करके, पश्चात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों ही घातिया कर्मों का एक ही साथ नाश करने से, जो चारों घातिया कर्मों का नष्ट करने वाले हो गये हैं। "दंसणसुहणाणवीरियमईओ" उन घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य) के धारक होने से स्वभाविक-शुद्ध-अविनाशी-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिवाकरसहस्रभासुरपरमौदारिकशरीरत्वात् शुभदेहस्थः । "सुद्धो" "क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः ॥ १ ॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः । एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सो अयमाप्तो निरञ्जनः ॥ २ ॥" इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशदोषरहितत्वात् शुद्धः । "अप्पा" एवं गुणविशिष्ट आत्मा । "अरिहो" अरिशब्दवाच्यमोहनीयस्य, रजःशब्दवाच्यज्ञानदर्शनावरणद्वयस्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरायस्य च हननाद्विनाशात् सकाशात् इन्द्रादिविनिर्मितां गर्भावतरणजन्माभिषेकनिःक्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्चमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते । 'विचिन्तिज्जो' इत्युक्तविशेषणैर्विशिष्टमाप्तागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतरागसर्वज्ञाद्यष्टोत्तरसहस्रनामानमर्हंतं जिनभट्टारकं पदस्थपिंडस्थरूपस्थध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत हे भव्या यूयमिति ।

अत्रावसरे भट्टचार्वाकमतं गृहीत्वा शिष्यः पूर्वपक्षं करोति । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः । खरविषाणवत् ? तत्र प्रत्युत्तरम्—किमत्र देशेऽत्र काले अनु-

---

'सुहदेहत्थो' निश्चयनय से शरीर रहित हैं तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा, सात धातुओं (कुधातु) से रहित व हजारों सूर्यों के समान दैदीप्यमान ऐसे परम औदारिक शरीर वाले हैं, इस कारण शुभदेह में विराजमान हैं। "सुद्धो"—'क्षुधा १, तृषा २, भय ३, द्वेष ४, राग ५, मोह ६, चिंता ७, जरा ८, रुजा (रोग) ९, मरण १०, स्वेद (पसीना) ११, खेद १२, मद १३, अरति १४, विस्मय १५, जन्म १६, निद्रा १७ और विषाद १८; इन १८ दोषों से रहित निरंजन आप्त श्री जिनेन्द्र हैं। २।' इस प्रकार इन दो श्लोकों में कहे हुए अठारह दोषों से रहित होने के कारण 'शुद्ध' हैं। 'अप्पा' पूर्वोक्त गुणों की धारक आत्मा है। 'अरिहो'—'अरि' शब्द से कहे जाने वाले मोहनीय कर्म का, 'रज' शब्द से वाच्य ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों का तथा 'रहस्य' शब्द का वाच्य अन्तरायकर्म, इन चारों कर्मों का नाश करने से इन्द्र आदि द्वारा रची हुई गर्भावतार-जन्माभिषेक-तपकल्याण-केवलज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण समय में होने वाली पांच महाकल्याण रूप पूजा के योग्य होते हैं, इस कारण 'अर्हन्' कहलाते हैं। 'विचिंतिज्जो' हे भव्यो ! तुम पदस्थ, पिंडस्थ व रूपस्थ ध्यान में स्थित होकर, आप्त-उपदिष्ट आगम आदि ग्रन्थ में कहे हुए तथा इन उक्त विशेषणों सहित वीतराग-सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नाम वाले अर्हंत जिन-भट्टारक का विशेष रूप से चिन्तवन करो।

इस अवसर पर भट्ट और चार्वाक मत का आश्रय लेकर शिष्य पूर्व पक्ष करता है—सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधे के सींग ? उत्तर—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पलब्धिः, सर्वदेशे काले वा। यदत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव। अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं कथं ज्ञातं भवता। ज्ञातं चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञः। अथ न ज्ञातं तर्हि निषेधः कथं क्रियते। तत्र दृष्टान्तः—यथा कोऽपि निषेधको घटस्याधारभूतं घटरहितं भूतलं चक्षुषा दृष्ट्वा पश्चाद्वदत्यत्र भूतले घटो नास्तीति युक्तम्; यस्तु चक्षुःरहितस्तस्य पुनरिदं वचनमयुक्तम्। [1]तथैव यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं जानाति तस्य जगत्त्रये कालत्रयेऽपि सर्वज्ञो नास्तीति वक्तुं युक्तं भवति, यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं [2]जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति। कस्मादिति चेत्? [3]जगत्त्रयकालत्रयपरिज्ञानेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति।

अथोक्तमनुपलब्धेरिति हेतुवचनं तदप्ययुक्तम्। कस्मादिति चेत्—किं

सर्वज्ञ की प्राप्ति क्या इस देश और इस काल में नहीं है या सब देश और सब काल में नहीं है। यदि कहो कि, इस देश और इस काल में सर्वज्ञ नहीं है, तब तो ठीक ही है, क्योंकि हम भी ऐसा मानते हैं। यदि कहो सर्व देश और सर्व कालों में सर्वज्ञ नहीं है, तो तुमने यह कैसे जाना कि तीनों लोक और तीनों काल में सर्वज्ञ का अभाव है। यदि कहो कि अभाव जान लिया, तो तुम ही सर्वज्ञ हो गये (जो तीन लोक तथा तीन काल के पदार्थों को जानता है वही सर्वज्ञ है. सो तुमने यह जान ही लिया है कि तीनों लोक और तीनों कालों में सर्वज्ञ नहीं है, इसलिये तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हुए)। 'तीन लोक व तीनों काल में सर्वज्ञ नहीं' इसको यदि नहीं जाना तो 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध कैसे करते हो? दृष्टान्त—जैसे कोई निषेध करने वाला, घट की आधारभूत पृथ्वी को नेत्रों से घट रहित देख कर, फिर कहे कि 'इस पृथ्वी पर घट नहीं है', तो उसका यह कहना ठीक है; परन्तु जो नेत्रहीन है, उसका ऐसा वचन ठीक नहीं है। इसी प्रकार जो तीन जगत्, तीन काल को सर्वज्ञ रहित जानता है, उसका यह कहना कि तीन जगत् तीन काल में सर्वज्ञ नहीं, उचित होसकता है; किंतु जो तीन जगत् तीन काल को जानता है, वह सर्वज्ञ का निषेध किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। क्यों नहीं कर सकता? तीन जगत् तीन काल को जानने से वह स्वयं सर्वज्ञ होगया, अतः वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता।

सर्वज्ञ के निषेध में 'सर्वज्ञ की अनुपलब्धि' जो हेतु वाक्य है, वह भी ठीक नहीं। क्यों ठीक नहीं? उत्तर यह है—क्या आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है या तीन

---

१ तथा योसौ जगत्त्रयं कालत्रय सर्वज्ञरहितं प्रत्यक्षेण जानाति स एव सर्वज्ञनिषेधे समर्थो, न चान्योन्ध इव, यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति। कस्मात्? जगत्त्रयकालत्रयविषयपरिज्ञान सहितत्वेन स्वमेव सर्वज्ञत्वादिति। (पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्तिः गा० २९)

२ 'न जानाति' इति पाठान्तरं। ३ 'किं भवतामनुपलब्धेः जगत्त्रय' इति पाठान्तरं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवतामनुपलब्धिः, किं जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणां वा ? यदि भवतामनुपलब्धिस्तावता सर्वज्ञाभावो न सिध्यति, भवद्भिरनुपलभ्यमानानां परकीयचित्तवृत्तिपरमाणवादिसूक्ष्मपदार्थानामिव । अथवा जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणामनुपलब्धिस्तत्कथं ज्ञातं भवद्भिः । ज्ञातं चेत्तर्हि भवन्त एव सर्वज्ञा इति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति । इत्यादिहेतुदूषणं ज्ञातव्यम् । यथोक्तं खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचनम् तदप्यनुचितम् । खरे विषाणं नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्वं न भवति इति दृष्टान्तदूषणं गतम् ।

अथ मतं—सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाणं निराकृतं भवद्भिस्तर्हि सर्वज्ञसद्भावसाधकं प्रमाणं किम् ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्मः, एवं धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावादिति हेतुवचनम् । किंवत्, स्वयमनुभूयमानसुखदुःखादिवदिति दृष्टान्तवचनम् । एवं सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तरूपेण त्र्यङ्गमनुमानं

जगत् तीन काल के पुरुषों के अनुपलब्धि है । यदि आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है, तो इतने मात्र से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि, जैसे पर के मनोविचार तथा परमाणु आदि की आपके अनुपलब्धि है, तो भी उनका अभाव सिद्ध नहीं होता । यदि तीन जगत् तीन काल के पुरुषों के 'सर्वज्ञ' की अनुपलब्धि है, तो इसको आपने कैसे जाना ? यदि कहो 'जान लिया' तो आप ही सर्वज्ञ हुए, ऐसा पहले कहा जा चुका है । इस प्रकार से 'हेतु' में दूषण जानना चाहिए । सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि में जो 'गधे के सींग' का दृष्टान्त दिया था, वह भी ठीक नहीं है । गधे के सींग नहीं हैं, किन्तु गौ आदि के सींग हैं । सींग का जैसे अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नहीं, वैसे ही 'सर्वज्ञ' का विवक्षित देश व काल में अभाव होने पर भी सर्वथा अभाव नहीं है । इस प्रकार दृष्टान्त में दूषण आया ।

प्रश्न—आपके द्वारा सर्वज्ञ के सम्बन्ध में बाधक प्रमाण का तो खंडन हुआ, किन्तु सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करने वाला क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं—'कोई पुरुष (आत्मा) सर्वज्ञ है', इसमें 'पुरुष' धर्मी है और 'सर्वज्ञता', जिसको सिद्ध करना है, वह धर्म है; इस प्रकार 'धर्मी धर्म समुदाय' को पक्ष कहते हैं (जिसको सिद्ध करना वह साध्य अर्थात् धर्म है । जिसमें धर्म पाया जावे या रहे, वह धर्मी है । धर्म और धर्मी दोनों मिलकर 'पक्ष' कहलाते हैं) । इसमें हेतु क्या है ? पूर्वोक्त अनुसार 'बाधक प्रमाण का अभाव' यह हेतु है । किसके समान ? अपने अनुभव में आते हुए सुख-दुःख आदि के समान, यह दृष्टान्त है । इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूप से तीन अंगों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञेयम् । अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते—रामरावणादयः कालान्तरिता, मेर्वादयो देशान्तरिता भूतादयो भवान्तरिताः परचेतोवृत्तयः परमाणवादयश्च सूक्ष्मपदार्था धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत्, अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम् । किंवत्, यद्यदनुमानविषयं तत्तत्कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथाग्न्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनं । अनुमानेन विषयाश्चेति, इत्युपनयवचनम् । तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनं । इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते—यन्न कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न भवति, यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम् । अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम् । तस्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति । किन्त्वनुमानविषयत्वादित्ययं हेतुः, सर्वज्ञस्वरूपे साध्ये सर्वप्रकारेण सम्भवति यतस्ततः कारणात्स्वरूपासिद्धभावासिद्धविशेषणादसिद्धो[1] न भवति । तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षं विहाय सर्वज्ञाऽभावं विपक्षं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न

धारक अनुमान जानना चाहिये । अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान कहते हैं । राम और रावण आदि काल से दूर व ढके पदार्थ, मेरु आदि देश से अन्तरित पदार्थ, भूत आदि भव से ढके हुए पदार्थ, तथा पर पुरुषों के चित्तों के विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, ये धर्मी 'किसी भी विशेष-पुरुष के प्रत्यक्ष देखने में आते हैं', यह उन राम रावणादि धर्मियों में सिद्ध करने योग्य धर्म है; इस प्रकार धर्मी और धर्म के समुदाय से पक्षवचन (प्रतिज्ञा) है । राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष क्यों हैं ? 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन है । किसके समान ? 'जो-जो अनुमान का विषय है, वह-वह किसी के प्रत्यक्ष होता है, जैसे—अग्नि आदि', यह अन्वय दृष्टान्त का वचन है । 'देश काल आदि से अन्तरित पदार्थ भी अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन है । इसलिये 'राम रावण आदि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं' यह निगमन वाक्य है । अब व्यतिरेक दृष्टान्त को कहते हैं—'जो किसी के भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमान के विषय भी नहीं होते; जैसे कि आकाश के पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्त का वचन है । 'राम रावण आदि अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन है । इसलिये 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं' यह निगमन वाक्य है । 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमान के विषय होने से' यहाँ पर 'अनुमान के विषय होने से' यह हेतु है । सर्वज्ञ रूप साध्य में यह हेतु सब तरह से सम्भव है; इस कारण यह हेतु स्वरूपासिद्ध, भावासिद्ध, इन विशेषणों से असिद्ध नहीं है । तथा उक्त हेतु, सर्वज्ञ रूप अपने पक्ष को छोड़कर सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष को सिद्ध नहीं करता, इस कारण विरुद्ध भी नहीं है । और जैसे 'सर्वज्ञ के सद्भाव रूप अपने पक्ष में रहता

---

१ 'विशेषणाद्यसिद्धो' इति पाठान्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति । तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्तते तथा सर्वज्ञाभावेऽपि विपक्षेऽपि न वर्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति । अनैकान्तिकः कोऽर्थो ? व्यभिचारीति । तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितो न भवति, तथैव च प्रतिवादिनां प्रत्यसिद्धं सर्वज्ञसद्भावं साधयति, तेन कारणेनाकिंचित्करोऽपि न भवति । एवमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करहेतुदोषरहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव । इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानम् ज्ञातव्यमिति ।

किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शे विद्यमानेऽपि प्रतिबिम्बानां परिज्ञानं न भवति, तथा लोचनस्थानीयसर्वज्ञतागुणरहितपूरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथितानां प्रतिबिम्बस्थानीयपरमाणवाद्यनन्तसूक्ष्मपदार्थानां क्वापिकाले परिज्ञानं न भवति । तथाचोक्तं "यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् । लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १ ॥' इति संक्षेपेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र बोद्धव्या । एवं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्याने ध्येयभूतस्य सकलात्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ५० ॥

है, जैसे सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष में नहीं रहता, इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है । अनैकान्तिक का क्या अर्थ है ? 'व्यभिचारी' । प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित भी नहीं है, तथा सर्वज्ञ को न मानने वाले भट्ट और चार्वाक के लिये सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता है अतः इन दोनों कारणों से अकिंचित् कर भी नहीं है । इस प्रकार से 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर रूप हेतु के दूषणों से रहित है, इस कारण सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता ही है । इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप से पांचों अंगों वाला अनुमान जानना चाहिये ।

विशेष :—जैसे नेत्रहीन पुरुष को दर्पण के विद्यमान रहने पर भी प्रतिबिंबों का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार नेत्रों के स्थानभूत सर्वज्ञतारूप गुण से रहित पुरुष को दर्पण के स्थानभूत वेदशास्त्र में कहे हुए प्रतिबिम्बों के स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थों का किसी भी समय ज्ञान नहीं होता । ऐसा कहा भी है कि—'जिस पुरुष के स्वयं बुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है ? क्योंकि नेत्रों से रहित पुरुष का दर्पण क्या उपकार करेगा ? (अर्थात् कुछ उपकार नहीं कर सकता) । १ ।' इस प्रकार यहाँ संक्षेप से सर्वज्ञ की सिद्धि जाननी चाहिए । ऐसे पदस्थ, पिंडस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानों में ध्येयभूत सकल-परमात्म-श्रीजिन-भट्टारक के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ सिद्धसदृशानिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूपं 'णमो सिद्धाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थं ध्यानं तस्य ध्येयभूतं सिद्धपरमेष्ठीस्वरूपं कथयति :—

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५१ ॥

नष्टाष्टकर्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः द्रष्टा ।
पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः ॥ ५१ ॥

व्याख्या—'णट्ठट्ठकम्मदेहो' शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिधेयकर्मकाण्डस्य निर्मूलनसमर्थेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकलक्षणसुन्दरमनोहरानन्दस्यंदिनिःक्रियाद्वैतशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशितज्ञानावरणाद्यष्टकर्मौदारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेहः। 'लोयालोयस्स जाणओदट्ठा' पूर्वोक्तज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयेन लोकालोकगतत्रिकालवर्तिसमस्तवस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावानामेकसमयज्ञायकदर्शकत्वात् लोकालोकस्य ज्ञाता द्रष्टा भवति । 'पुरिसायारो'

अब सिद्धों के समान निज-परमात्म-तत्त्व में परमसमरसी-भाव वाले रूपातीत नामक निश्चय-ध्यान के परम्परा से कारणभूत तथा मुक्ति को प्राप्त, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की भक्तिरूप 'णमो सिद्धाणं' इस पद के उच्चारणरूप लक्षण वाला जो पदस्थ-ध्यान, उसके ध्येयभूत सिद्ध-परमेष्ठी के स्वरूप को कहते है :—

गाथार्थ :—अष्ट कर्म रूपी शरीर को नष्ट करने वाली, लोकालोक-आकाश को जानने-देखने वाली, पुरुषाकार, लोक-शिखर पर विराजमान, ऐसी आत्मा सिद्ध-परमेष्ठी है। अतः तुम सब उन सिद्ध-परमेष्ठी का ध्यान करो ॥ ५१ ॥

वृत्त्यर्थ :—'णट्ठट्ठकम्मदेहो' शुभ-अशुभ मन-वचन और काय की क्रिया रूप तथा द्वैत शब्द के अभिधेयरूप कर्म समूह का नाश करने में समर्थ, निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न, रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित, परम आनन्द एक लक्षण वाला, सुन्दर-मनोहर-आनन्द को बहाने वाला, क्रियारहित और अद्वैत शब्द का वाच्य, ऐसे परमज्ञानकांड द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्म एवं औदारिक आदि पांच शरीरों को नष्ट करने से, जो नष्ट-अष्ट-कर्म-देह है। 'लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा' पूर्वोक्त ज्ञानकांड की भावना के फलस्वरूप पूर्ण निर्मल केवलज्ञान और दर्शन दोनों के द्वारा लोकालोक के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलननिर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः। 'अप्पा' इत्युक्तलक्षण आत्मा। किं भण्यते ? 'सिद्धो' अञ्जनसिद्धपादुकासिद्धगुटिकासिद्धखड्गसिद्धमायासिद्धादिलौकिकसिद्धविलक्षणः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणः सिद्धो भण्यते। 'झाएह लोयसिहरत्थो' तमित्थंभूतं सिद्धपरमेष्ठिनं लोकशिखरस्थं दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपनानाविकल्पजालत्यागेन त्रिगुप्तिलक्षणरूपातीतध्याने स्थित्वा ध्यायत हे भव्या यूयम् इति। एवं निष्कलसिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानेन गाथा गता ॥ ५१ ॥

अथ निरुपाधिशुद्धात्मभावनानुभूत्यविनाभूतनिश्चयपञ्चाचारलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं निश्चयव्यवहारपञ्चाचारपरिणताचार्यभक्तिरूपं 'णमो आयरियाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतमाचार्यपरमेष्ठिनं कथयति :—

तीन कालवर्त्ती सर्व पदार्थ सम्बन्धी विशेष तथा सामान्य भावों को एक ही समय में जानने और देखने से, लोकालोक को जानने–देखनेवाले हैं। "पुरिसायारो" निश्चयनय की दृष्टि से इन्द्रियागोचर–अमूर्त्तिक–परमचैतन्य से भरे हुए शुद्ध-स्वभाव की अपेक्षा आकार रहित हैं; तो भी व्यवहार से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने के कारण, मोमरहित मूस के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिंब के समान, पुरुषाकार है। "अप्पा" पूर्वोक्त लक्षणवाली आत्मा; वह क्या कहलाती है ? 'सिद्धो' अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि लोकिक (लोक में कहे जानेवाले) सिद्धों से विलक्षण केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रकटतारूप सिद्ध कहलाती है। "झाएह लोयसिहरत्थो" हे भव्यजनो ! तुम देखे–सुने–अनुभव किये हुए जो पाँचों इन्द्रियों के भोग आदि समस्त मनोरथरूप अनेक विकल्प-समूह के त्याग द्वारा मन–वचन–काय की गुप्तिस्वरूप रूपातीत ध्यान में स्थिर होकर, लोक के शिखर पर विराजमान पूर्वोक्त लक्षणवाले सिद्ध परमेष्ठी को ध्यावो ! इस प्रकार अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी के व्याख्यानरूप यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५१ ॥

अब उपाधि रहित शुद्ध-आत्मभावना की अनुभूति (अनुभव) का अविनाभूत निश्चय–पंच-आचार-रूप-निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकार के पाँच आचारों में परिणत (तत्पर वा तल्लीन) ऐसे आचार्य परमेष्ठी की भक्तिरूप और "णमो आयरियाणं" इस पद के उच्चारण-रूप जो पदस्थ ध्यान, उस पदस्थ-ध्यान के ध्येयभूत आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥ ५२ ॥

दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतप आचारे ।
आत्मानं परं च युनक्ति सः आचार्यः मुनिः ध्येयः ॥ ५२ ॥

व्याख्या—'दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे' सम्यग्दर्शनज्ञान-प्रधाने वीर्यचारित्रवरतपश्चरणाचारेऽधिकरणभूते 'अप्पं परं च जुंजइ' आत्मानं परं शिष्यजनं च योऽसौ योजयति सम्बन्धं करोति 'सो आयरिओ मुणी झेओ' स उक्तलक्षण आचार्यो मुनिस्तपोधनो ध्येयो भवति । तथाहि—भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयसारशब्दवाच्यो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः । १ । तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः । २ । तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्रा-

---

गाथार्थ :—दर्शनाचार १, ज्ञानाचार २, की मुख्यता सहित वीर्याचार २, चारित्राचार ३ और तपाचार ५, इन पाँचों आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य (शिष्यों) को भी लगाते हैं, वह आचार्यमुनि ध्यान करने योग्य हैं ॥ ५२ ॥

वृत्त्यर्थ :—"दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे" सम्यग्दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानाचार की प्रधानता सहित, वीर्याचार, चारित्राचार और तपश्चरणाचार में "अप्पं परं च जुंजइ" अपने को और अन्य अर्थात् शिष्य-जनों को लगाते हैं, "सो आयरिओ मुणी झेओ" वे पूर्वोक्त लक्षणवाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य हैं । विशेष—भूतार्थनय (निश्चयनय) का विषयभूत, 'शुद्धसमयसार' शब्द से वाच्य, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म आदि समस्त पर-पदार्थों से भिन्न और परम-चैतन्य का विलासरूप लक्षण वाली, यह निज-शुद्ध-आत्मा ही उपादेय है; ऐसी रुचि सम्यक्-दर्शन है; उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयदर्शनाचार है । १ । उसी शुद्ध आत्मा को, उपाधि रहित स्व-संवेदनरूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-राग आदि परभावों से भिन्न जानना, सम्यग्ज्ञान है; उस सम्यग्ज्ञान में आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयज्ञानाचार है । २ । उसी शुद्ध आत्मा में राग आदि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चल-चित्त होना, वीतरागचारित्र है; उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयचारित्राचार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारः । ३ । समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं, तच्चरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः । ४ । तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगूहनं निश्चयवीर्याचारः । ५ । इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारे तथैव "छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसन्दरिसे । सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वंदे । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेणाचाराराधनादिचरणानुयोगशास्त्रविस्तीर्णबहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यवहारपञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बधं करोति स आचार्यो भवति । स च पदस्थध्याने ध्यातव्यः । इत्याचार्यपरमेष्ठिव्याख्यानेन सूत्रं गतम् ॥ ५२ ॥

अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्यायस्तल्लक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नत्रयादितत्त्वोपदेशकं परमोपाध्यायभक्तिरूपं 'णमो उवज्झायाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत् पदस्थध्यानं, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीश्वरं कथयति—

है । ३ । समस्त परद्रव्यों की इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बारह–तप–रूप–बहिरंगसहकारीकारण से जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चयतपश्चरण है; उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन निश्चयतपश्चरणाचार है । ४ । इन चार प्रकार के निश्चय आचार की रक्षा के लिये अपनी शक्ति का नहीं छिपाना, निश्चयवीर्याचार है । ५ । ऐसे उक्त लक्षणों वाले पाँच प्रकार के निश्चय आचार में और इसी प्रकार, "छत्तीस गुणों से सहित, पांच प्रकार के आचार को करने का उपदेश देने वाले तथा शिष्यों पर अनुग्रह (कृपा) रखने में चतुर जो धर्माचार्य हैं उनको मैं सदा वंदना करता हूं । १ ।" इस गाथा में कहे अनुसार आचार आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से कहे हुए बहिरङ्गसहकारीकारणरूप पांच प्रकार के व्यवहार आचार में जो अपने को तथा अन्य को लगाते हैं (स्वयं उस पंचाचार को साधने हैं और दूसरों से सधाते हैं) वे आचार्य कहलाते हैं। वे आचार्य परमेष्ठी पदस्थध्यान में ध्यान करने योग्य हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अब निज शुद्ध आत्मा में जो उत्तम अध्ययन अर्थात् अभ्यास करना है, उसको निश्चय स्वाध्याय कहते हैं। उस निश्चयस्वाध्यायरूप निश्चयध्यान के परम्परा से कारणभूत भेद–अभेद–रत्नत्रय आदि तत्त्वों का उपदेश करनेवाले, परम उपाध्याय की भक्तिस्वरूप "णमो उवज्झायाणं" इस पद के उच्चारणरूप जो पदस्थध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं :—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥ ५३ ॥

यः रत्नत्रययुक्तः नित्यं धर्मोपदेशने निरतः ।
सः उपाध्यायः आत्मा यतिवरवृषभः नमः तस्मै ॥ ५३ ॥

व्याख्या—'जो रयणत्तयजुत्तो' योऽसौ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः परिणतः । 'णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो' षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं स्वशुद्धजीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेषं च हेयं, तथैवोत्तमक्षमादिधर्मं च नित्यमुपदिशति योऽसौ स नित्यं धर्मोपदेशने निरतो भण्यते । 'सो उवज्झाओ अप्पा' स चेत्थंभूत आत्मा उपाध्याय इति । पुनरपि किं विशिष्टः ? 'जदिवरवसहो' पञ्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणां यतिवराणां मध्ये वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभः । 'णमो तस्स' तस्मै द्रव्यभावरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु । इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ५३ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्या-

---

गाथार्थ :—जो रत्नत्रय से सहित, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर तथा मुनीश्वरों में प्रधान है, वह आत्मा उपाध्याय है । उसके लिये नमस्कार हो ॥ ५३ ॥

वृत्त्यर्थ :—"जो रयणत्तयजुत्तो" जो बाह्य, आभ्यन्तर रत्नत्रय के अनुष्ठान (साधन) से युक्त हैं (निश्चय–व्यवहार–रत्नत्रय को साधने में लगे हुए हैं)। "णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो" 'छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व व नव पदार्थों में निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य, निज–शुद्ध–जीवास्तिकाय, निज–शुद्ध–आत्मतत्व और निज–शुद्ध–आत्मपदार्थ ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं' इस विषय का तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का जो निरन्तर उपदेश देते हैं, वे नित्य धर्मोपदेश देने में तत्पर कहलाते हैं । "सो उवज्झाओ अप्पा" इस प्रकार की वह आत्मा उपाध्याय है । उसमें और क्या विशेषता है ? "जदिवरवसहो" पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतने से निज–शुद्ध–आत्मा में प्रयत्न करने में तत्पर, ऐसे मुनीश्वरों में वृषभ अर्थात् प्रधान होने से यतिवृषभ हैं । "णमो तस्स" उन उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो । इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र पूर्ण हुआ ॥ ५३ ॥

अब निश्चयरत्नत्रयस्वरूप–निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, बाह्य–अभ्यन्तर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षणं यत् पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतं साधुपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥

दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यः हि चारित्रम् ।
साधयति नित्यशुद्धं साधुः सः मुनिः नमः तस्मै ॥ ५४ ॥

व्याख्या—'साहू स मुणी' स मुनिः साधुर्भवति । यः किं करोति ? 'जो हु साधयदि' यः कर्ता हु स्फुटं साधयति । किं ? 'चारित्तं' चारित्रं । कथंभूतं ? 'दंसणणाणसमग्गं' वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां समग्रम् परिपूर्णम् । पुनरपि कथम्भूतं ? 'मग्गं मोक्खस्स' मार्गभूतं; कस्य ? मोक्षस्य । पुनश्च किम् रूपं ? 'णिच्चसुद्धं' नित्यं सर्वकालं शुद्धं रागादिरहितम् । 'णमो तस्स' एवं गुणविशिष्टो यस्तस्मै साधवे नमो नमस्कारोऽस्त्विति । तथाहि—"उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधनं च निस्तरणम् । दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भिः ।१।"

मोक्षमार्ग के साधनेवाले परमसाधु की भक्तिस्वरूप "णमो लोए सव्वसाहूणं" पद के उच्चारण, जपने और ध्यानेरूप जो पदस्थ ध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे साधु परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं :—

गाथार्थ :—दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, सदाशुद्ध, ऐसे चारित्र को जो साधते हैं, वे मुनि 'साधु परमेष्ठी' हैं, उनको मेरा नमस्कार हो ॥ ५४ ॥

वृत्त्यर्थ :—'साहू स मुणी' वह मुनि साधु होते हैं । वे क्या करते हैं ? 'जो हु साधयदि' जो प्रकट रूप से साधते हैं । किसको साधते हैं ? 'चारित्तं' चारित्र को साधते हैं । किस प्रकार के चारित्र को साधते हैं ? 'दंसणणाण समग्गं' वीतराग सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण चारित्र को साधते हैं । पुनः चारित्र कैसा है ? 'मग्गं मोक्खस्स' जो चारित्र मार्गस्वरूप है । किस का मार्ग है ? मोक्ष का मार्ग है । वह चारित्र किस रूप है ? 'णिच्च सुद्धं' जो चारित्र नित्य सर्वकालशुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । (वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, नित्य रागादि रहित, ऐसे चारित्र को अच्छी तरह पालनेवाले मुनि, साधु हैं) । "णमो तस्स" पूर्वोक्त गुण सहित उस साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो । स्पष्टीकरण—"दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण है, उसको सत्पुरुषों ने आराधना कहा है । १ । इस आर्याछन्द में कही हुई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यार्याकथितबहिरङ्गचतुर्विधाराधनाबलेन, तथैव "समयं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव । चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं । १ ।" इति गाथाकथिताभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्त्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति । तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो भावनमस्कारस्तथा 'णमो लोए सव्वसाहूणं' द्रव्यनमस्कारश्च भवत्विति ॥ ५४ ॥

एवमुक्तप्रकारेण गाथापञ्चकेन मध्यमप्रतिपत्त्या पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं ज्ञातव्यम् । अथवा निश्चयेन "अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी । ते वि हु चिट्ठदि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण संक्षेपेण, तथैव विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठिकथितग्रन्थक्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादसंबन्धिपञ्चनमस्कारग्रन्थे चेति । एवं गाथापञ्चकेन द्वितीयस्थलं गतम् ।

अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकारान्तरेणो-

---

बहिरङ्ग–दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आराधना के बल से, तथा "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारों आत्मा में निवास करते हैं, इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत है । १ ।" इस प्रकार गाथा में कहे अनुसार, आभ्यन्तर एवं निश्चय चार प्रकार की आराधना के बलसे अथवा बाह्य-आभ्यन्तर-मोक्षमार्ग दूसरा नाम है जिसका ऐसी बाह्य–आभ्यन्तर आराधना करके जो वीतरागचारित्र के अविनाभूत निज–शुद्ध–आत्मा को साधते हैं अर्थात् भावते हैं; वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं । उन्ही के लिये मेरा स्वाभाविक-शुद्ध-सदानन्द की अनुभूतिरूप भावनमस्कार तथा "णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पद के उच्चारणरूप द्रव्यनमस्कार हो ॥ ५४ ॥

उक्त प्रकार से पाँच गाथाओं द्वारा मध्यमरूप से पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप का कथन किया गया है, यह जानना चाहिये । अथवा निश्चयनय से "अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी हैं वे भी आत्मा में स्थित हैं; इस कारण आत्मा ही मुझे शरण है । १ ।" इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार संक्षेप से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप जानना चाहिये । विस्तार से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप, पञ्चपरमेष्ठी का कथन करनेवाले ग्रन्थ से क्रमानुसार जानना चाहिये । तथा सिद्धचक्र आदि देवों की पूजनविधिरूप जो मन्त्रवाद-सम्बन्धी पञ्चनमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थ है, उस से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक जानना चाहिये । इस प्रकार पाँच गाथाओं से दूसरा स्थल समाप्त हुआ ।

अब उसी ध्यान को विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चयरूप प्रकारान्तर से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पसंहाररूपेण पुनरप्याह। तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यातृलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानलक्षणं चतुर्थपादे नयविभागं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति :—

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छियं ज्झाणं ॥ ५५ ॥

यत् किंचित् अपि चिन्तयन् निरीहवृत्तिः भवति यदा साधुः।
लब्ध्वा च एकत्वं तदा आहुः तत् तस्य निश्चयं ध्यानम् ॥ ५५ ॥

व्याख्या—'तदा' तस्मिन् काले। 'आहु' आहुर्ब्रुवन्ति। 'तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं' तत्तस्य निश्चयध्यानमिति। यदा किम्? 'णिरीहवित्ती हवे जदा साहू' निरीहवृत्तिर्निष्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति। किं कुर्वन्? 'जं किंचिवि चिंतंतो' यत् किमपि ध्येयं वस्तुरूपेण विचिन्तयन्निति। किं कृत्वा पूर्वं? 'लद्धूण य एयत्त' तस्मिन् ध्येये लब्ध्वा। किं? एकत्वं एकाग्रचिन्तानिरोधनमिति। अथ विस्तरः— यत् किञ्चिद् ध्येयमित्यनेन किमुक्तं भवति? प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति।

संक्षेपपूर्वक कहते हैं। 'गाथा के प्रथम पाद में ध्येय का लक्षण, द्वितीय पाद में ध्याता (ध्यान करनेवाले) का लक्षण, तीसरे पाद में ध्यान का लक्षण और चौथे पाद में नयों के विभाग को कहता हूँ।' इस अभिप्राय को मन में धारण करके भगवान् (श्री नेमिचंद्र आचार्य) सूत्र का प्रतिपादन करते हैं :—

गाथार्थ :—ध्येय में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निःस्पृह-वृत्ति (समस्त इच्छारहित) होते हैं तब उनका वह ध्यान निश्चयध्यान होता है ।५५।

वृत्त्यर्थ :—'तदा' उस काल में। 'आहु' कहते हैं। 'तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं' उसको, उसका निश्चय ध्यान (कहते हैं)। जब क्या होता है!? 'णिरीहवित्ती हवे जदा साहू' जब निस्पृह वृत्तिवाला साधु होता है। क्या करता है? 'जं किंचिवि चिंतंतो' जिस किसी ध्येय वस्तु स्वरूप का विशेष चिन्तवन करता है। पहिले क्या करके? 'लद्धूण य एयत्तं' उस ध्येय में प्राप्त होकर। क्या प्राप्त होकर? एकपने को अर्थात् एकाग्र-चिन्ता-निरोध को प्राप्त होकर। (ध्येय पदार्थ में एकाग्र-चिन्ता का निरोध करके यानी एकचित्त होकर, जिस किसी ध्येय वस्तु का चिन्तवन करता हुआ साधु जब निस्पृह-वृत्तिवाला होता है, उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चयध्यान कहते हैं)। विस्तार से वर्णन—गाथा में 'यत् किंचित् ध्ययेम्' (जिस किसी भी ध्येय पदार्थ को) इस पद से क्या कहा है? प्रारम्भिक अवस्था की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति। निष्पृहवचनेन पुनर्मिथ्यात्वं वेदत्रयं हास्यादिषट्कक्रोधादिचतुष्टयरूपचतुर्दशाऽभ्यन्तरपरिग्रहेण तथैव क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डाऽभिधानदशविधबहिरङ्गपरिग्रहेण च रहितं ध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति। एकाग्रचिन्तानिरोधेन च 'पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चलत्वं ध्यानलक्षणं भणितमिति। निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः, निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्यः। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः ॥५५॥

अथ शुभाशुभमनोवचनकायनिरोधे कृते सत्यात्मनि स्थिरो भवति तदेव परमध्यानमित्युपदिशति :—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥ ५६ ॥

अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है, उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिये तथा चित्त को स्थिर करने के लिये पञ्चपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव निज-शुद्ध-आत्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है। 'निस्पृह' शब्द से मिथ्यात्व, तीनों वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह अन्तरङ्ग परिग्रहों से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड नामक दश बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित, ध्यान करनेवाले का स्वरूप कहा गया है। 'एकाग्र-चिन्ता-निरोध' से पूर्वोक्त नाना प्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थों में स्थिरता और निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है। 'निश्चय' शब्द से, अभ्यास प्रारम्भ करनेवाले की अपेक्षा व्यवहाररत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये और ध्यान में निष्पन्न पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोग-रूप विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिये। विशेष निश्चय आगे कहा जाने वाला है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है ॥ ५५ ॥

(ध्याता पुरुष) शुभ-अशुभ मन-वचन-काय का निरोध करने पर आत्मा में स्थिर होता है। वह स्थिर होना ही परम ध्यान है, ऐसा उपदेश देते हैं :—

गाथार्थ :—(हे भव्यो!) कुछ भी चेष्टा मत करो (काय की क्रिया मत करो), कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत चिन्तवन करो (संकल्प-विकल्प न करो) जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन होकर स्थिर होजावे, आत्मा में लीन होना ही परमध्यान है ।५६।

---

१ 'पूर्वोक्तविविध' पाठान्तरम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत किमपि येन भवति स्थिरः ।
आत्मा आत्मनि रतः इदं एव परं ध्यानं भवति ॥ ५६ ॥

व्याख्या—'मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि' नित्यनिरञ्जननिष्क्रिय-निजशुद्धात्मानुभूतिप्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूपं कायव्यापारं, तथैव शुभाशुभान्तर्बहिर्जल्परूपं वचनव्यापारं, तथैव शुभाशुभविकल्पजालरूपं चित्तव्यापारं च किमपि मा कुरुत हे विवेकीजनाः ! 'जेण होइ थिरो' येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स कः ? 'अप्पा' आत्मा । कथम्भूतः स्थिरो भवति ? 'अप्पम्मि रओ' सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशाह्लादजनकसुखास्वादपरिणतिसहिते निजात्मनि रतः परिणतस्तल्लीयमानस्तच्चित्तस्तन्मयो भवति । 'इणमेव परं हवे ज्झाणं' इदमेवात्मसुखस्वरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति ।

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम् । तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते । तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मसम्वित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन

वृत्त्यर्थ :—" मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि" हे विवेकी पुरुषो ! नित्य निरञ्जन और क्रियारहित निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभव को रोकनेवाली शुभ-अशुभ चेष्टारूप काय की क्रिया को तथा शुभ-अशुभ-अन्तरङ्ग-बहिरङ्गरूप वचन को और शुभ-अशुभ विकल्प समूहरूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो । "जेण होइ थिरो" जिन तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है । वह कौन ? "अप्पा" आत्मा । कैसा होकर स्थिर होता है ? "अप्पम्मि रओ" स्वाभाविक शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक परम-ध्यान के अनुभव से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों को आनन्ददायक ऐसे सुख के अनुभवरूप परिणति सहित स्व-आत्मा में रत, तल्लीन, तच्चित्त तथा तन्मय होकर स्थिर होता है । 'इणमेव परं हवे ज्झाणं" यही जो आत्मा के सुखस्वरूप में तन्मयपना है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है ।

उस परमध्यान में स्थित जीवों को जो वीतरागपरमानन्द सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है । वह अन्य पर्यायवाची नामों से क्या २ कहा जाता है, सो कहते हैं । वही शुद्ध आत्म-स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एक देश में प्रकटतारूप विवक्षित एक देश शुद्ध-निश्चयनय से निज-शुद्ध-आत्मानुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत-जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस-स्वरूप है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमहंसस्वरूपम् । इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनाभिधानमालायां यथासम्भवं सर्वत्र योजनीयमिति ।

तदेव परब्रह्मस्वरूपं, तदेव परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परमशिवस्वरूपं, तदेव परमबुद्धस्वरूपं, तदेव परमजिनस्वरूपं, तदेव परमस्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धस्वरूपं, तदेव निरञ्जनस्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसम्वेदनज्ञानम्, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव परमावस्थास्वरूपम्, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमात्मज्ञानं, तदेव परमावस्थारूप-परमात्मस्पर्शनं, तदेव ध्येयभूतशुद्धपारिणामिकभावरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं, तदेव शुद्धचारित्रं, तदेव परमपवित्रं, तदेवान्तस्तत्त्वं, तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्रव्यं, तदेव परमज्योतिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्मप्रतीतिः, सैवात्मसंवित्तिः, सैव स्वरूपोपलब्धिः, स एव नित्योपलब्धिः, स एव परमसमाधिः, स एव परमानन्दः, स एव नित्यानन्दः, स एव सहजानन्दः, स एव सदानन्दः, स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूपः, स एव परमस्वाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एव चैकाग्रचिन्तानिरोधः, स एव परमबोधः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव भूतार्थः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपञ्चाचारः, स एव

परमात्मध्यान के भावना की नाममाला में इस एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को यथासम्भव सब जगह लगा लेना चाहिये। (ये नाम एकदेशशुद्धनिश्चयनय से अपेक्षित हैं)

वही परब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही परम-निज-आत्मोपलब्धिरूप सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही निर्मलस्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परम अवस्था स्वरूप है, वही परमात्म-दर्शन है, वही परमात्मज्ञान है, वह ही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध-पारिणामिक-भावरूप है, वही ध्यानभावनारूप है, वही शुद्ध-चारित्र है, वह ही परम-पवित्र है, वही अन्तरङ्ग तत्त्व है, वही परम-तत्त्व है, वही शुद्ध-आत्म-द्रव्य है, वही परम-ज्योति है, वही शुद्ध-आत्मानुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म-संवित्ति (आत्म-संवेदन) है, वही निज-आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम-समाधि है, वही परम-आनन्द है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वाभाविक आनन्द है, वही सदानंद है, वही शुद्ध आत्म-पदार्थ के अध्ययन रूप है, वही परमस्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्र-चिंता-निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध-उपयोग है, वह ही परम-योग (समाधि) है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समयसारः, स एवाध्यात्मसारः, तदेव ममतादिनिश्चयषडावश्यकस्वरूपं, तदेवाभेद-रत्नत्रयस्वरूपं, तदेव वीतरागसामायिकं, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव केवल-ज्ञानोत्पत्तिकारणं, तदेव सकलकर्मक्षयकारणं, सैव निश्चयचतुर्विधाराधना, सैव परमात्मभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखानुभूतिरूपपरमकला, सैव दिव्यकला, तदेव परमाद्वैतं, तदेव परमामृतपरमधर्मध्यानं, तदेव शुक्लध्यानं, तदेव रागादि-विकल्पशून्यध्यानं, तदेव निष्कलध्यानं, तदेव परमस्वास्थ्यं, तदेव परमवीतरागत्वं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमैकत्वं, तदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमसमरसीभावः, इत्यादि समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चय-मोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्मतत्त्व-विद्भिरिति ॥ ५६ ॥

अतः परं यद्यपि पूर्वं बहुधा भणितं ध्यातृपुरुषलक्षणं ध्यानसामग्री च तथापि चूलिकोपसंहाररूपेण पुनरप्याख्याति :—

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥ ५७ ॥

तप—वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है; वह ही अध्यात्मसार है। वही समता आदि निश्चय—षट—आवश्यक स्वरूप है, वह ही अभेद—रत्नत्रय—स्वरूप है, वह ही वीतराग सामायिक है, वह ही परमशरणरूप उत्तम मंगल है, वही केवल—ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय—दर्शन—ज्ञान—चरित्र—तप—आराधना-स्वरूप है, वही परमात्मा—भावनारूप है, वही शुद्धात्म—भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूति-रूप परमकला है, वही दिव्य—कला है, वही परम—अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परम—धर्म-ध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परम—स्वास्थ्य है, वही परम—वीतरागता है, वही परम—समता है, वही परम—एकत्व है, वही परम—भेदज्ञान है, वही परम—समरसी—भाव है; इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि रहित, परमआह्लाद एक—सुख—लक्षणमयीध्यान—स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहनेवाले अन्य बहुत से पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होते हैं ।५६।

यद्यपि पहिले ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण और ध्यान की सामग्री का बहु प्रकार से वर्णन कर चुके हैं, फिर भी चूलिका तथा उपसंहार रूप से ध्याता पुरुष और ध्यानसामग्री को इसके आगे कहते हैं :—

गाथार्थ :—क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान-रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिये निरंतर तप, श्रुत और व्रत में तत्पर होवो ॥ ५७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात् ।
तस्मात् तत्त्रिकनिरताः तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥ ५७ ॥

व्याख्या—'तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा' तपश्रुतव्रतवानात्मा चेतयिता ध्यानरथस्य धुरन्धरो समर्थो भवति, 'जम्हा' यस्मात् 'तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह' तस्मात् कारणात् तपश्रुतव्रतानां संबन्धेन यत् त्रितयं तत् त्रितये रताः सर्वकाले भवत हे भव्याः । किमर्थं ? तस्य ध्यानस्य लब्धिस्तल्लब्धिस्तदर्थमिति । तथाहि—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशभेदेन बाह्यं षड्विधं, तथैव प्रायश्चित्तविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदेनाऽभ्यन्तरमपि षड्विधं चेति द्वादशविधं तपः । तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च । तथैवाचाराराधनादिद्रव्यश्रुतं, तदाधारेणोत्पन्नं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपं भावश्रुतं च । तथैव च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां द्रव्यभावरूपाणां परिहरणं व्रतपञ्चकं चेति । एवमुक्तलक्षणतपःश्रुतव्रतसहितो ध्याता पुरुषो भवति । इयमेव ध्यानसामग्री चेति । तथाचोक्तम्—"वैराग्यं तत्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं *समचित्तता । परीषहजयश्चेति

वृत्त्यर्थ :—'तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा' क्योंकि तप, श्रुत और व्रतधारी आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने के लिये समर्थ होता है । 'तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह' हे भव्यो ! इस कारण से तप, श्रुत और व्रत, इन तीन में सदा लीन हो जाओ । किस लिये ? उस ध्यान की प्राप्ति के लिये । विशेष वर्णन—१. अनशन (उपवास करना), २. अवमौदर्य्य (कम भोजन करना), ३. वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी करके भोजन करने जाना), ४. रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, खांड व नमक, इन छह रसों में से एक दो आदि रसों का त्याग करना), ५. विविक्तशय्यासन (निर्जन और एकान्त स्थल में शयन करना, रहना, बैठना), ६. कायक्लेश (आत्मशुद्धि के लिये आतापन योग आदि करना), यह छह प्रकार का बाह्य तप; प्रायश्चित १, विनय २, वैयावृत्य ३, स्वाध्याय ४, व्युत्सर्ग (बाह्य अभ्यन्तर उपधि का त्याग) ५ और ध्यान ६, यह छह प्रकार का अन्तरङ्ग तप; ऐसे बाह्य तथा आभ्यन्तररूप बारह प्रकार का (व्यवहार) तप है। उसी (व्यवहार) तप से सिद्ध होने योग्य निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चय तप है । इसी प्रकार आचार व आराधना आदि द्रव्यश्रुत है तथा उस द्रव्य-श्रुत के आधार से उत्पन्न व विकार रहित निज-शुद्ध-स्वसंवेदनरूप ज्ञान, भावश्रुत है । तथा हिंसा, अनृत, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह, इनका द्रव्य व भावरूप से त्याग करना, पांच व्रत हैं। ऐसे पूर्वोक्त तप, श्रुत और व्रत से सहित

* 'वशचित्तता' इत्यपि पाठः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चैते ध्यानहेतवः । १ ।''

भगवन् ! ध्यानं तावन्मोक्षमार्गभूतम् । मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यबन्धकारणत्वाद्व्रतानि त्याज्यानि भवन्ति, भवद्भिः पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तपःश्रुतव्रतानि व्याख्यातानि, तत् कथं घटत इति ? तत्रोत्तरं दीयते—व्रतान्येव केवलानि त्याज्यान्येव न, किन्तु पापबन्धकारणानि हिंसादिविकल्परूपाणि यान्यव्रतानि तान्यपि त्याज्यानि । तथाचोक्तम् पूज्यपादस्वामिभिः—''अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः । अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ १ ॥ किंत्वव्रतानि पूर्वं परित्यज्य ततश्च व्रतेषु तन्निष्ठो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपं परमात्मपदं प्राप्य पश्चादेकदेशव्रतान्यपि त्यजति । तदप्युक्तम् तैरेव—'अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः । त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः । १ ।'

अयं तु विशेषः—व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि । यानि पुनः सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्ति-

---

पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है । तप, श्रुत तथा व्रत ही ध्यान की सामग्री है । सो ही कहा है 'वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, परिग्रहों का त्याग, साम्यभाव और परीषहों का जीतना ये पांच ध्यान के कारण हैं । १ ।'

शंका—भगवान् ! ध्यान तो मोक्ष का कारण है, मोक्ष चाहनेवाले पुरुष को पुण्यबंध के कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है (व्रतों से पुण्य कर्म का बंध होता है; पुण्यबंध संसार का कारण है; इस कारण मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है), किन्तु आपने तप, श्रुत और व्रतों को ध्यान की सामग्री बतलाया है । सो यह आपका कथन कैसे सिद्ध होता है ? उत्तर—केवल व्रत ही त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु पापबंध के कारण हिंसा आदि अव्रत भी त्याज्य हैं । सो ही श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है 'अव्रतों से पाप का बंध और व्रतों से पुण्य का बंध होता है, पाप तथा पुण्य इन दोनों का नाश होना मोक्ष है, इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे । १ ।' परन्तु मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके पश्चात् व्रतों को धारण करके निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतों का भी त्याग कर देता है । यह भी श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधिकशतक में कहा है, 'मोक्ष चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर परमात्मपद प्राप्त करे और परमपद पाकर उन व्रतों का भी त्याग करे । १ ।'

विशेष यह है—जो व्यवहाररूप से प्रसिद्ध एकदेशव्रत हैं, ध्यान में उनका त्याग किया है; किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्ध-आत्म-अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान में समस्त शुभ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्षणस्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वीकृतान्येव, न च त्यक्तानि । प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि जातानि ? इति चेत्तदुच्यते—जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति । तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति । तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले त्यागः; न च समस्तशुभाशुभनिवृत्तिलक्षणस्य निश्चयव्रतस्येति । त्यागः कोऽर्थः ? यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि । कस्मादिति चेत् ? त्रिगुप्तावस्थायां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवावकाशो नास्ति । अथवा वस्तुतस्तदेव निश्चयव्रतम् । कस्मात्—सर्वनिवृत्तित्वादिति । योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भरतश्चक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा परचाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवानिति । परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति । तदेव भरतस्य दीक्षाविधानं कथ्यते ।

अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत ग्रहण किये हैं, उनका त्याग नहीं किया है। प्रश्न—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेश रूप व्रत कैसे हो गये ? उत्तर—अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात से निवृत्ति है; तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत में यद्यपि असत्य वचन का त्याग है, तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है। अचौर्यमहाव्रत में यद्यपि बिना दिए हुए पदार्थ के ग्रहण का त्याग है, तो भी दिए हुए पदार्थों (पीछी, कमण्डल शास्त्र) के ग्रहण करने में प्रवृत्ति है। इत्यादि एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पांचों महाव्रत देशव्रत हैं। इन एकदेश रूप व्रतों का, त्रिगुप्ति स्वरूप निर्विकल्प समाधि-काल में त्याग है। किन्तु समस्त शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत का त्याग नहीं है। प्रश्न—त्याग शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर—जैसे हिंसा आदि पाँच अव्रतों की निवृत्ति है, उसी प्रकार अहिंसा आदि पंचमहाव्रतरूप एकदेशव्रतों की भी निवृत्ति है, यहाँ त्याग शब्द का यह अर्थ है। शंका—इन एकदेशव्रतों का त्याग किस कारण होता है ? उत्तर—त्रिगुप्तिरूप अवस्था में प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्प का स्वयं स्थान नहीं है। (ध्यान में कोई विकल्प नहीं होता। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप हैं अतः वे ध्यान में नहीं रह सकते)। अथवा वास्तव में वह निर्विकल्प ध्यान ही निश्चयव्रत है क्योंकि उसमें पूर्ण निवृत्ति है। दीक्षा के बाद दो घड़ी (४८ मिनट) काल में ही भरतचक्रवर्ती ने जो मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने भी जिन-दीक्षा ग्रहण करके, थोड़े काल तक विषय-कषाय की निवृत्तिरूप व्रत का परिणाम करके, तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रयमयी निश्चयव्रत नामक वीतरागसामायिक संज्ञा वाले निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान को प्राप्त किया है। परंतु व्रतपरिणाम के स्तोक काल के कारण लोग श्री भरत जी के व्रतपरिणाम को नहीं जानते। अब उन ही भरत जी के दीक्षा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हे भगवन् ! जिनदीक्षादानानन्तरं भरतचक्रिणः कियति काले केवलज्ञानं जातमिति श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणमध्ये श्रेणिकमहाराजेन पृष्टे सति गौतमस्वामी आह—'पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रोट्यन् बंधस्थितीन् कचान् । लोचानंतरमेवापद्राजन् श्रेणिक केवलम् । १ ।'

अत्राह शिष्यः । अद्य काले ध्यानं नास्ति । कस्मादिति चेत्—उत्तमसंहननाभावाद्दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानाभावाच्च । अत्र परिहारः शुक्लध्यानं नास्ति धर्मध्यानमस्तीति । तथाचोक्तं मोक्षप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः 'भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स । तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ।१। अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ।२।' तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं 'अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनाम् ।१।' यथोक्तमुत्तमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन, पुनरुपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति, तच्चोत्तमसंहननेनैव, अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं,

---

विधान का कथन करते हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के समवसरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! भरतचक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पीछे कितने समय में केवलज्ञान हुआ ? श्री गौतम गणधरदेव ने उत्तर दिया "हे श्रेणिक ! पंच-मुष्टियों से बालों को उखाड़कर (केश लोंच करके) कर्मबंध की स्थिति तोड़ते हुए, केशलोंच के अनन्तर ही भरतचक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। १।"

शिष्य का प्रश्न—इस पंचमकाल में ध्यान नहीं है। क्योंकि इस काल में उत्तमसंहनन (वज्रऋषभ नाराच संहनन) का अभाव है तथा दश एवं चौदहपूर्व श्रुतज्ञान भी नहीं पाया जाता ? उत्तर—इस समय शुक्लध्यान नहीं है परन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षप्राभृत में कहा है "भरतक्षेत्र विषय दुःषमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्मध्यान होय है। यह धर्मध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित के होय है। जो यह नहीं मानता, वह अज्ञानी है। १।" इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लोकांतिकदेव पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चयकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते हैं। २।" ऐसा ही तत्त्वानुशासन ग्रंथ में भी कहा है—"इस समय (पंचमकाल) में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं; किन्तु श्रेणी से पूर्व में होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है। १।" तथा—जो यह कहा है कि 'इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है इस कारण ध्यान नहीं होता' सो यह उत्सर्ग वचन है। अपवादरूप व्याख्यान से तो, उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान होता है और वह उत्तमसंहनन से ही होता है; किन्तु अपूर्वकरण (८ वें) गुणस्थान से नीचे के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति । तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने "यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् । १ ।"

यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानञ्च । यद्येवमपवादव्याख्यानं नास्ति तर्हि "तुसमासं घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो" इत्यादिगन्धर्वाराधनादिभणितं व्याख्यानम् कथम् घटते ? अथ मतम्—पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतमिति जानाति । इदं भावश्रुतं पुनः सर्वमस्ति । नैवं वक्तव्यम् । यदि पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतं जानाति तर्हि 'मा रूसह मा तूसह' इत्येकं पदं किं न जानाति । तत एव ज्ञायतेऽष्टप्रवचनमातृप्रमाणमेव भावश्रुतं, द्रव्यश्रुतं पुनः किमपि नास्ति । इदन्तु व्याख्यानमस्माभिर्न कल्पितमेव । तच्चारित्रसारादिग्रन्थेष्वपि भणितमास्ते । तथाहि—अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं ये केवलज्ञानमुत्पादयन्ति ते क्षीणकषायगुणस्थानवर्त्तिनो निर्ग्रंथसंज्ञा

गुणस्थानों में जो धर्मध्यान होता है, वह धर्मध्यान पहले तीन उत्तम संहननों के अभाव होने पर भी अंतिम के (अर्द्धनाराच, कीलक और सृपाटिका) तीन संहननों से भी होता है। यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रंथ में कहा है—"वज्रकाय (संहनन) वाले के ध्यान होता है, ऐसा आगम-वचन उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है। यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है।"

जो ऐसा कहा है कि, 'दश तथा चौदहपूर्व तक के श्रुतज्ञान से ध्यान होता है' वह भी उत्सर्ग-वचन है। अपवाद व्याख्यान से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान और केवलज्ञान होता है। यदि ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो, तो 'तुष-माष का उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी होगये' इत्यादि गंधर्वाराधनादि ग्रन्थों में कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे। शंका—श्री शिवभूति मुनि पांच समिति और तीन गुप्तियों को प्रतिपादन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे और भावश्रुत उनके पूर्णरूप से था। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, यदि शिवभूति मुनि पांच समिति और तीन गुप्तियों का कथन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होंने "मा तूसह मा रूसह" अर्थात् 'किसी में राग और द्वेष मत कर' इस एक पद को क्यों नहीं जाना। इसी कारण से जाना जाता है कि पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन मातृका प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। यह व्याख्यान मैंने ही कल्पित नहीं किया है; किंतु 'चारित्रसार' आदि शास्त्रों में भी यह वर्णन हुआ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऋषयो भण्यन्ते। तेषां चोत्कर्षेण चतुर्दशपूर्वादिश्रुतं भवति, जघन्येन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिमात्रमेवेति।

अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किं प्रयोजनम्? नैवं, अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत्? स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेपि पूर्वभवे भेदाभेदरत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भवे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति। एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्—"वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः।१। संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्। तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पद्मेऽपरं भवति कल्मषसंश्रयस्य। २। दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तमुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरङ्गम्। धाम्नि स्फुरेद्यदि

तथाहि—अंतर्मुहूर्त्त में जो केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं वे क्षीणकषाय गुणस्थान में रहने वाले 'निर्ग्रंथ' नामक ऋषि कहलाते हैं और उनके उत्कृष्टता से ग्यारह अंग चौदह पूर्व पर्यंत श्रुतज्ञान होता है, जघन्य से पाँच समिति तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।

शंका—मोक्ष के लिये ध्यान किया जाता है और इस पञ्चम काल में मोक्ष होता नहीं, अतः ध्यान करने से क्या प्रयोजन? ऐसा नहीं है, क्योंकि इस पंचमकाल में भी परंपरा से मोक्ष है। प्रश्न—परम्परा से मोक्ष कैसे है? उत्तर—(ध्यानी पुरुष) निज-शुद्ध-आत्म-भावना के बल से संसार-स्थिति को अल्प करके स्वर्ग में जाते हैं। वहां से आकर मनुष्य भव में रत्नत्रय की भावना को प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष जाते हैं। जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचंद्र, पाण्डव (युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम) आदि मोक्ष गये हैं, वे भी पूर्वभव में भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से संसार-स्थिति को स्तोक करके फिर मोक्ष गये। उसी भव में सब को मोक्ष हो जाती है, ऐसा नियम नहीं। उपरोक्त कथनानुसार अल्पश्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। यह जानकर क्या करना चाहिये? 'द्वेष से किसी को मारने, बांधने व अंग काटने आदि का और राग से परस्त्री आदि का जो चिंतवन करना है, निर्मल बुद्धि के धारक आचार्य जिनमत में उसको अपध्यान कहते हैं। १। हे जीव! संकल्परूपी कल्प वृक्ष का आश्रय करने से तेरा चंचल चित्त इस मनोरथरूपी सागर में डूब जाता है, वैसे उन संकल्पों में जीव का वास्तव में कुछ प्रयोजन नहीं सधता, प्रत्युत कलुषता से समागम करने वालों का अर्थात् कलुषित चित्त वालों का अकल्याण होता है।२। जिस प्रकार दुर्भाग्य से दुःखित मन वाले तेरे अन्तरंग में भोग भोगने की इच्छा से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः । ३ । कंखिद कलुसिदभूतो कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो । ण य भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि । ४ ।' इत्याद्यपध्यानं त्यक्त्वा—"ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो । आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे । १ । आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य । आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे । २ । एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो । सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा । ३ ।" इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्त्तव्यमिति ।

अथ मोक्षविषये पुनरपि नयविचारः कथ्यते । तथाहि मोक्षस्तावत् बंधपूर्वकः । तथाचोक्तं—"मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बंधो मोचनं कथम् । अबंधे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः । १ ।" बंधश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति, तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा सर्वदैव बंध एव, मोक्षो नास्ति । किंच—यथा शृङ्खलाबद्धपुरुषस्य बंधच्छेदकारणभूतभावमोक्ष-

---

व्यर्थ तरंगें उठती रहती हैं । उसी प्रकार यदि वह मन परमात्मरूप स्थान में स्फुरायमान हो तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो सकता है ? अर्थात् तेरा जन्म सफल हो जावे । ३ । आकांक्षा से कलुषित हुआ और काम भोगों में मूर्च्छित, यह जीव भोगों को नहीं भोगता हुआ भी भावों से कर्मों को बाँधता है । ४ ।" इत्यादि रूप दुर्ध्यान को छोड़कर "निर्ममत्त्व में स्थित होकर अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ, मेरे आत्मा का ही आलंबन है, अन्य सबको मैं त्यागता हूँ । १ । मेरा आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है । २ । ज्ञान-दर्शन का धारक अविनाशी एक मेरा आत्मा है, और शेष सब संयोग लक्षण वाले बाह्य भाव हैं । ३ ।" इत्यादि सारभूत पदों को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए ।

अब मोक्ष के विषय में फिर भी नय-विचार को कहते हैं—मोक्ष बंधपूर्वक है । सो ही कहा है—"यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये । क्योंकि यदि बंध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है । इसलिये अबंध (न बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुंच् धातु (छूटने की वाचक) का प्रयोग ही व्यर्थ है" (कोई मनुष्य पहले बंधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है। ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी को मोक्ष होती है) । शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से बंध है ही नहीं । इस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है । यदि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध होता रहे, मोक्ष ही न हो । जैसे जंजीर से बंधे हुए पुरुष के, बंधनाश के कारणभूत जो भावमोक्ष है उसकी जगह जो जंजीर के बंधन को छेदने का कारणभूत उद्यम है, वह पुरुष का स्वरूप नहीं है और इसी प्रकार द्रव्यमोक्ष के स्थान में जो जंजीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थानीयं बंधच्छेदकारणभूतं पौरुषं पुरुषस्वरूपं न भवति, तथैव शृङ्खलापुरुषयोर्यद्द्रव्यमोक्षस्थानीयं पृथक्करणं तदपि पुरुषस्वरूपं न भवति। किंतु ताभ्यां भिन्नं यद्दृष्टं हस्तपादादिरूपं तदेव पुरुषस्वरूपम्। तथैव शुद्धोपयोगलक्षणं भावमोक्षस्वरूपं शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवति, तथैव तेन साध्यं यज्जीवकर्मप्रदेशयोः पृथक्करणं द्रव्यमोक्षरूपं तदपि जीवस्वभावो न भवति ; किंतु ताभ्यां भिन्नं यदनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं फलभूतं तदेव शुद्धजीवस्वरूपमिति। अयमत्रार्थः— यथा विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन पूर्वं मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायमोक्षरूपो मोक्षोऽपि, न च शुद्धनिश्चयनयेनेति। यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः, स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यानभावनापर्याये ध्येयो भवति, न च ध्यानभावनापर्यायरूपः। यदि पुनरेकान्तेन द्रव्यार्थिकनयेनापि स एव मोक्षकारणभूतो ध्यानभावना पर्यायो भण्यते तर्हि द्रव्यपर्यायरूपधर्मद्वयाधारभूतस्य जीवधर्मिणो मोक्षपर्याये जाते सति यथा ध्यानभावनापर्यायरूपेण विनाशो भवति, तथा ध्येयभूतस्य जीवस्य शुद्धपारिणामिकभावलक्षणद्रव्यरूपेणापि विनाशः

और पुरुष इन दोनों का अलग होना है, वह भी पुरुष का स्वरूप नहीं है, किन्तु उस उद्यम और जंजीर के छुटकारे से जुदा जो देखा हुआ हस्तपाद आदि रूप आकार है, वही पुरुष का स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप जो भाव मोक्ष का स्वरूप है, वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप नहीं है और उसी तरह उस भावमोक्ष से साध्य जो जीव और कर्म के प्रदेशों के पृथक् होने रूप द्रव्य मोक्ष का स्वरूप है, वह भी जीव का स्वभाव नहीं है, किंतु उन भाव व द्रव्यमोक्ष से भिन्न तथा उनका फलभूत जो अनन्त ज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है। यहाँ तात्पर्य यह है कि, जैसे विवक्षित-एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से पहिले मोक्षमार्ग का व्याख्यान है; उसी प्रकार पर्यायमोक्ष रूप जो मोक्ष है, वह भी एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से है; किन्तु शुद्ध-निश्चयनय से नहीं है। जो शुद्ध-द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध-पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है, वह परमनिश्चय मोक्ष जीव में अबहोगी, ऐसा नहीं है। राग आदि विकल्पों से रहित मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय में, वही परमनिश्चय मोक्ष ध्येय होता है, वह निश्चय मोक्ष ध्यान-भावना-पर्यायरूप नहीं है। यदि एकांत से द्रव्यार्थिक नय से भी उसी (परमनिश्चय मोक्ष) को मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय कहा जावे, तो द्रव्य और पर्याय रूप दो धर्मों के आधारभूत जीव-धर्मी का, मोक्षपर्याय प्रकट होने पर, जैसे ध्यान-भावना-पर्याय रूप से विनाश होता है, उसी प्रकार शुद्धपारिणामिक-भाव स्वरूप द्रव्य रूप से भी ध्येयभूत जीव का विनाश प्राप्त होगा; किन्तु द्रव्य रूप से जीव का विनाश नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्नोति, न च द्रव्यरूपेण विनाशोऽस्ति । ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकमेव बन्धमोक्षौ न भवत इति ।

अथात्मशब्दार्थः कथ्यते । 'अत' धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते । गमन-शब्देनात्र ज्ञानं भण्यते, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इतिवचनात् । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा । अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा ।

किञ्च—यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलघटेषु दृश्यते तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तत्तु न घटते । कस्मादिति चेत् —चन्द्रकिरणोपाधि-वशेन घटस्थजलपुद्गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकश्चन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखा-कारेण परिणता, न चैकं देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणतम् । परिणमतीति चेत्— तर्हि दर्पणस्थप्रतिबिम्बं चैतन्यं प्राप्नोतीति, न च तथा । किन्तु यद्येक एव जीवो

है । इस कारण, 'शुद्धपारिणामिक भाव से जीव के बंध और मोक्ष नहीं है' यह कथन सिद्ध हो गया ।

अब 'आत्मा' शब्द का अर्थ कहते हैं । 'अत' धातु निरंतर गमन करने रूप अर्थ में है और 'सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं' इस बचन से यहाँ पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है । इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणों में सर्व प्रकार वर्त्तता है, वह आत्मा है । अथवा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा यथासंभव तीव्र-मंद आदि रूप से जो पूर्णरूपेण वर्त्तता है, वह आत्मा है । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्त्तता है, वह आत्मा है ।

आशंका—जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जल के भरे हुए घटों में देखा जाता है, इसी प्रकार एक ही जीव अनेक शरीरों में रहता है । उत्तर—यह कथन घटित नहीं होता । प्रश्न—क्यों नहीं घटित होता ? उत्तर—चंद्रकिरणरूप उपाधि-वश से घटों में स्थित जल-रूपी पुद्गल ही नाना-चन्द्र-आकार रूप परिणत हुआ है, एक चंद्रमा अनेक रूप नहीं परिणमा है । दृष्टांत कहते हैं—जैसे देवदत्त के मुख रूप उपाधि के वश से अनेक दर्पणों में स्थित पुद्गल ही अनेक मुख रूप परिणमते हैं, एक देवदत्त का मुख अनेक रूप नहीं परिणमता । यदि कहो कि देवदत्त का मुख ही अनेक मुख रूप परिणमता है, तो दर्पणस्थित देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्ब भी, देवदत्त के मुख की तरह, चेतन (सजीव) हो जायेंगे, परंतु ऐसा नहीं है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति, तदैकजीवस्य सुखदुःखजीवितमरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषां जीवितमरणादिकं प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते । अथवा ये वदन्ति यथैकोपि समुद्रः क्वापि क्षारजलः क्वापि मिष्टजलस्तथैकोऽपि जीवः सर्वदेहेषु तिष्ठतीति । तदपि न घटते । कथमिति चेत्—जलराश्यपेक्षया तत्रैकत्वं, न च जलपुद्गलापेक्षया तत्रैकत्वम् । यदि जलपुद्गलापेक्षया भवत्येकत्वं तर्हि स्तोकजले गृहीते शेषजलं सहैव किन्नायाति । ततः स्थितं षोडशवर्णिकासुवर्णराशिवदनन्तज्ञानादिलक्षणं प्रत्येकं जीवराशिं प्रति, न चैकजीवापेक्षयेति ।

अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते । मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानं तदध्यात्ममिति । एवं ध्यानसामग्रीव्याख्यानोपसंहाररूपेण गाथा गता ॥ ५७ ॥

अथौद्धत्यपरिहारं कथयति :—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥ ५८ ॥

(दर्पणों में मुख-प्रतिबिम्ब चेतन नहीं हैं), यदि अनेक शरीरों में एक ही जीव हो तो, एक जीव को सुख-दुःख-जीवन-मरण आदि प्राप्त होने पर, उसी क्षण सब जीवों को सुख-दुःख-जीवन-मरण आदि प्राप्त होने चाहियें; किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता । अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कहीं तो खारे जल वाला है, कहीं मीठे जल वाला है, उसी प्रकार एक ही जीव सब देहों में विद्यमान है' सो यह कहना भी घटित नहीं होता । प्रश्न—क्यों नहीं घटित होता ? उत्तर—समुद्र में जलराशि की अपेक्षा से एकता है, जल-पुद्गलों (कणों) की अपेक्षा से एकता नहीं है । यदि जलपुद्गलों की अपेक्षा से एकता होती (एक अखंड द्रव्य होता) तो समुद्र में से थोड़ा जल ग्रहण करने पर शेष जल भी उसके साथ ही क्यों न आजाता । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सोलह-वानी के सुवर्ण की राशि के समान अनंतज्ञान आदि लक्षण की अपेक्षा जीवराशि में एकता है और एक जीव की (समस्त जीवराशि में एक ही जीव है, इस) अपेक्षा से जीवराशि में एकता नहीं है ।

अब 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ कहते हैं । मिथ्यात्व-राग आदि समस्त विकल्प समूह के त्याग द्वारा निज-शुद्ध-आत्मा में जो अनुष्ठान (प्रवृत्ति का करना), उसको 'अध्यात्म' कहते हैं । इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसंहार रूप से यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५७ ॥

अब ग्रन्थकार अपने अभिमान के परिहार के लिये छन्द कहते हैं :—

गाथार्थ :—अल्पज्ञान के धारक मुझ नेमिचन्द्र मुनि ने जो यह द्रव्यसंग्रह कहा है, दोषों से रहित और ज्ञान से पूर्ण ऐसे आचार्य इसका शोधन करें ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यसंग्रहं इमं मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः ।
शोधयन्तु तनुश्रुतधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणितं यत् ॥ ५८ ॥

व्याख्या—'सोधयंतु' शुद्धं कुर्वन्तु । के कर्तारः ? "मुणिणाहा' मुनिनाथा मुनिप्रधानाः । किं विशिष्टाः ? "दोससंचयचुदा" निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषास्तथैव च निर्दोषपरमात्मादितत्त्वपरिज्ञानविषये संशयविमोहविभ्रमास्तैश्च्युता रहिता दोषसंचयच्युताः । पुनरपि कथम्भूताः ? "सुदपुण्णा" वर्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन च पूर्णाः समग्राः श्रुतपूर्णाः । कं शोधयन्तु ? "दव्वसंगहमिणं" शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मादिद्रव्याणां संग्रहो द्रव्यसंग्रहस्तं द्रव्यसंग्रहाभिधानम् ग्रन्थमिमं प्रत्यक्षीभूतम् । किं विशिष्टं ? "भणियं जं" भणितः प्रतिपादितो यो ग्रन्थः । केन कर्तृभूतेन ? "णेमिचन्दमुणिणा" श्री नेमिचन्द्रमुनिना श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवाभिधानेन मुनिना सम्यग्दर्शनादिनिश्चयव्यवहाररूपपञ्चाचारोपेताचार्येण । कथम्भूतेन ? "तणुसुत्तधरेण" तनुश्रुतधरेण तनुश्रुतं स्तोकं श्रुतं तद्धरतीति तनुश्रुतधरस्तेन । इति क्रियाकारकसम्बन्धः । एवं ध्यानोपसंहारगाथात्रयेण, औद्धत्यपरिहारं प्राकृतवृत्तेन च द्वितीयान्तराधिकारे तृतीयं स्थलं गतम् ।५८। इत्यन्तराधिकारद्वयेन विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः समाप्तः

वृत्त्यर्थ :—'सोधयंतु' शुद्ध करें । कौन शुद्ध करें ? 'मुणिणाहा' मुनिनाथ, मुनियों में प्रधान अर्थात् आचार्य । कैसे हैं वे आचार्य ? 'दोससंचयचुदा' निर्दोष-परमात्मा से विलक्षण जो राग आदि दोष तथा निर्दोष-परमात्मादि तत्त्वों के जानने में संशय-विमोह-विभ्रमरूप दोष, इन दोषों से रहित होने से, दोषों से रहित हैं । फिर कैसे हैं ? 'सुदपुण्णा' वर्तमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से तथा उस परमागम के आधार से उत्पन्न निर्विकार-स्व-अनुभव रूप भावश्रुत से परिपूर्ण होने से श्रुत पूर्ण हैं । किसको शुद्ध करें ? 'दव्वसंगहमिणं' शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव परमात्मा आदि द्रव्यों के संग्रह रूप जो द्रव्यसंग्रह, इस प्रत्यक्षीभूत 'द्रव्यसंग्रह' नामक ग्रन्थ को । कैसे द्रव्यसंग्रह को ? 'भणियं जं' जिस ग्रन्थ को कहा है । किसने कहा है? 'णेमिचन्दमुणिणा' सम्यग्दर्शन आदि निश्चय-व्यवहार रूप पंच-आचार सहित आचार्य 'श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' नामक मुनि ने । कैसे नेमिचन्द्र आचार्य ने ? 'तणुसुत्तधरेण' अल्पश्रुतज्ञानी ने । जो स्तोक श्रुत को धारण करे वह अल्प-श्रुत-ज्ञानी है । इस प्रकार क्रिया और कारकों का सम्बन्ध है । इस प्रकार ध्यान के उपसंहार रूप तीन गाथाओं से तथा ज्ञान के अभिमान के परिहार के लिये एक प्राकृत छन्द से द्वितीय अन्तराधिकार में तृतीय स्थल समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

ऐसे दो अन्तराधिकारों द्वारा बीस गाथाओं से मोक्षमार्ग-प्रतिपादक तृतीयाधिकारसमाप्त हुआ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र ग्रन्थे 'विवक्षितस्य सन्धिर्भवति' इति वचनात्पदानां सन्धिनियमो नास्ति। वाक्यानि च स्तोकस्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम्। तथैव लिङ्गवचन-क्रियाकारकसम्बन्धसमासविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादिप्रति-पादनविषये विस्मृतिदूषणं च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण "जीवमजीवं दव्वं" इत्यादिसप्तविंशतिगाथाभिः षट्द्रव्य-पञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोधिकारः। तदनन्तरं "आसव बन्धण" इत्येकादशगाथाभिः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारः। ततः परं "सम्मद्दंसण" इत्यादिविंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः॥

इत्यधिकारत्रयेनाष्टाधिकपञ्चाशत्सूत्रैः श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य द्रव्यसंग्रहाभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्ता।

इस ग्रन्थ में 'विवक्षित विषय की संधि होती है' इस वचन-अनुसार पदों की संधि का नियम नहीं है। (कहीं पर संधि की है और कहीं पर नहीं)। सरलता से बोध कराने के लिये वाक्य छोटे-छोटे बनाये गये हैं। लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सम्बंध, समास, विशेषण और वाक्य-समाप्ति आदि दूषण एवं शुद्ध-आत्मा आदि तत्त्वों के कथन में विस्मरण (भूल) आदि दूषण इस ग्रन्थ में हों, उन्हें विद्वान् पुरुष ग्रहण न करें।

इस तरह "जीवमजीवं दव्वं" इत्यादि २७ गाथाओं का 'षट्द्रव्यपंचास्तिकायप्रति-पादकनामा' प्रथम अधिकार है। तदनन्तर "आसव बंधण" इत्यादि ११ गाथाओं का 'सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा' दूसरा अधिकार है। उसके पश्चात् "सम्मद्दंसण" आदि बीस गाथाओं का 'मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा' तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार श्रीनेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तिदेव विरचित तीन अधिकारों की ५८ गाथाओं वाले द्रव्यसंग्रह ग्रंथ की श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-वृत्ति तथा उसका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[लघुद्रव्यसंग्रहः]

छद्दव्व पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य ।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥ १ ॥

अर्थ—'जेण' जिनके द्वारा 'छद्दव्व' छः द्रव्य, 'पंच अत्थी' पाँच अस्तिकाय, 'सत्त वि तच्चाणि' सात तत्त्व, 'णव पयत्था य' नव पदार्थ और 'भंगुप्पाय-धुवत्ता' व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य, 'णिद्दिट्ठा' निर्देश किये गये हैं, 'सो जिणो' वे श्री जिनेन्द्रदेव 'जयउ' जयवन्त रहो ॥ १ ॥

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य ।
दव्वाणि कालरहिया पदेश बाहुल्लदो* अत्थिकाया य ॥२॥

अर्थ—'जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य दव्वाणि' जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — द्रव्य हैं, 'कालरहिया पदेश बाहुल्लदो अत्थिकाया य' काल को छोड़ कर शेष उक्त पांच द्रव्य, बहुप्रदेशी होने के कारण, अस्तिकाय हैं ॥२॥

जीवाजीवासवबंध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो ।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ॥ ३ ॥

अर्थ—'जीवाजीवासवबन्ध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो तच्चाणि सत्त' जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष—सात तत्त्व हैं; 'एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य' ये (उक्त सात तत्त्व) पुण्य व पाप सहित नव पदार्थ हैं ॥ ३ ॥

[1]जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता ।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा ॥ ४ ॥

अर्थ—'जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता भोत्ता' जीव (द्रव्य) अमूर्तिक, स्वदेह-प्रमाण, चेतना सहित, कर्ता और भोक्ता है, 'सो पुण दुविहो' वह (जीव) दो प्रकार का है, 'सिद्धो संसारिओ' सिद्ध और संसारी; 'णाणा' (संसारी जीव) नाना प्रकार के हैं ॥ ४ ॥

१—कुछ अन्तर से वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ से मिलती है । *'अ(ऽ)त्थिकाया' इत्यपि पाठः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[1]अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठ-संट्ठाणं ॥ ५ ॥

अर्थ—'जीवं' जीव को 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं अलिंग-ग्गहणं अणिदिट्ठं-संट्ठाणं' रस-रहित, रूप-रहित, गंध-रहित, अव्यक्त (स्पर्श-रहित), शब्द-रहित; अलिंग-ग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण में नहीं आने वाला), अनिर्दिष्ट संस्थान वाला (जिसका कोई संस्थान निर्दिष्ट नहीं है) और चेतन-गुण-वाला 'जाण' जानो ॥५॥

वण्ण-रस-गंध-फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा ।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ॥ ६ ॥

अर्थ—'जस्स' जिसके 'वण्ण-रस-गंध-फासा' वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श 'विज्जंते' विद्यमान हैं, 'सो मुत्तो पुग्गलकाओ' वह मूर्तिक पुद्गल-काय 'पुढवी पहुदी हु सोढा' पृथ्वी प्रभृति (आदि) छः प्रकार का 'जिणवरुद्दिट्ठा' श्रीजिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया है ॥ ६ ॥

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥ ७ ॥

अर्थ—'पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू' १-पृथ्वी, २-जल, ३-छाया, ४-(नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष) चार इन्द्रियों के विषय (वायु, शब्द आदि), ५-कर्मवर्गणा, ६-परमाणु, 'छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं' श्री जिनेन्द्रदेव ने पुद्गल द्रव्य को (ऐसे) छः प्रकार का कहा है ॥ ७ ॥

[2]गईपरिणयाण[3] धम्मो पुग्गलजीवाण गमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ ८ ॥

अर्थ—'गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी' गमन से परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्म-द्रव्य है, 'तोयं जह मच्छाणं' जैसे मछलियों को (गमन में) जल सहकारी है, 'अच्छंता णेव सो णेई' (किन्तु) गमन न करते हुए (ठहरे हुये पुद्गल व जीवों को) वह (धर्म-द्रव्य) गमन नहीं कराता है ॥ ८ ॥

[4]ठाणजुयाण अधम्मो[5] पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ ९ ॥

अर्थ—'ठाणजुयाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी' ठहरे हुये पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी अधर्म-द्रव्य है, 'छाया जह पहियाणं' जैसे छाया पन्थियों को ठहरने में सहकारी है, 'गच्छंता णेव सो धरई' गमन करते हुये (जीव व पुद्गलों को) वह (अधर्म-द्रव्य) नहीं ठहराता है ॥ ९ ॥

---

१ स.सा.गा. ४९,२ वृ.द्र.सं.गा. १७, ३ 'परियाण' अपि पाठ, ४वृ.द्र.गा. १८, ५ 'अहम्मो' अपि पाठ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[1]अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं [2]अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ १० ॥

अर्थ—'अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं जेण्हं' जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने योग्य है, उसको श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो, 'लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं' लोकाकाश और अलोकाकाश (इन भेदों से आकाश) दो प्रकार का है ॥ १० ॥

[3]दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
लोगागासपएसो एक्केक्काणु य परमट्ठो ॥ ११ ॥

अर्थ—'दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो' जो द्रव्यों के परिवर्तन से जायमान है; वह व्यवहार-काल है; 'लोगागासपएसो एक्केक्काणू य परमट्ठो' लोकाकाश में प्रदेश रूप सेस्थित एक-एक कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल है ॥ ११ ॥

[4]लोयायासपदेसे एक्केक्के[5] जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ १२ ॥

अर्थ—'लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का रयणाणं रासीमिव' जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर, रत्नों के ढेर के समान, (परस्पर भिन्न २ होकर) एक-एक स्थित हैं; 'ते कालाणू असंखदव्वाणि' वे कालाणू असंख्यात द्रव्य हैं ॥ १२ ॥

[6]संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे ।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ॥ १३ ॥

अर्थ—'संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे' एक जीव में, धर्म (द्रव्य) में तथा अधर्म (द्रव्य) में असंख्यात (प्रदेश) हैं, 'अणन्त आयासे' आकाश में अनन्त (प्रदेश) हैं, 'संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति पुद्गल में संख्यात, असंख्यात व (अनंत) प्रदेश हैं; 'णो काले' काल में (प्रदेश)नहीं हैं (अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है, उसमें शक्ति या व्यक्ति की अपेक्षा से बहुप्रदेशीपना नहीं है) ॥ १३ ॥

[7]जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ १४ ॥

अर्थ—'जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे' अविभागी पुद्गलाणु से जितना आकाश रोका जाता है, उसको प्रदेश जानो; 'सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं' (वह प्रदेश) सब (पुद्गल) परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ है ॥ १४ ॥

१-बृ.द्र.सं. गाथा १९ । २-'अलोगागास' इत्यपि पाठः । ३-बृ.द्र.सं.गा. २१ कुछ अंतर से । ४-बृ.द्र. सं.गा. २२ । ५-'एक्कके' इति पाठान्तरः । ६-बृ.द्र.सं.गाथा २५ का रूपान्तर । ७-बृ.द्र.सं.गा. २७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अजीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ॥ १५ ॥

अर्थ—'जीवो णाणी' जीव ज्ञानी (ज्ञानवाला) है, 'पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य अजीवा' पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल — अजीव हैं, 'जिणभणिओ' ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है; 'ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो' जो ऐसा नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥ १५ ॥

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥ १६ ॥

अर्थ—'मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो' मिथ्यात्व, हिंसा आदि (अव्रत), कषाय और योगों से आस्रव होता है, 'बंधो सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं' कषाय सहित जीव नाना प्रकार के पुद्गल को जो ग्रहण करता है, वह बंध है ॥ १६ ॥

मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे ।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य ॥ १७ ॥

अर्थ—'मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ' श्री जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्वादि के त्याग को संवर कहा है, 'णिज्जरादेसे कम्माण खओ' कर्मों का एकदेश क्षय निर्जरा है, 'सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य' बहुरि वह (निर्जरा) अभिलाषा-सहित (सकाम, अविपाक) और अभिलाषा-रहित (अकाम, सविपाक) ऐसे दो प्रकार की है ॥ १७ ॥

कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥ १८ ॥

अर्थ—'कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो' कर्मों के बंधन से बद्ध सद्भूत (प्रशस्त) अन्तरात्मा का 'सव्वकम्म-विणिम्मुक्को' जो सर्व कर्मों से पूर्णरूपेण मुक्त होना (छूटना) है 'जिणेडिदो मोक्खो होई' वह मोक्ष है; ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है ।१८।

सादाऽऽउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे ।
पुण्ण तित्थयरादी अण्णं पावं तु आगमे ॥ १९ ॥

अर्थ—'सादाऽऽउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे पुण्ण तित्थयरादी' साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र एवं तीर्थङ्कर आदि प्रकृतियां पुण्य प्रकृतियां हैं, 'अण्णं पावं तु' अन्य (शेष प्रकृतियां) पाप हैं, 'आगमे' ऐसा परमागम में कहा है ।१९।

णासइ णार-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ ।
जीवो स एव सव्वस्सभंगुप्पाया धुवा एवं ॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—'णासइ णर-पज्जाओ' नर (मनुष्य) पर्याय नष्ट होती है, 'उप्पज्जइ देव-पज्जओ' देव पर्याय उत्पन्न होती है, 'तत्थ जीवो स एव' तथा जीव वह का वह ही रहता है, 'सव्वस्स भगुप्पाया धुवा एवं' इस ही प्रकार सर्व द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है ।२०।

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णाएण (णयेण) ।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥ २१ ॥

अर्थ—'उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णाएण' वस्तु में उत्पाद तथा व्यय पर्याय-नय से होता है, 'दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा' द्रव्य-दृष्टि से (वस्तु) नित्य (ध्रौव्य) जाननी चाहिये; 'सव्वजिणवुत्ता' श्रीसर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा ऐसा कहा गया है ॥२१॥

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता ।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास (णासं)॥ २२ ॥

अर्थ—'जइ इच्छइ कम्मणो णासं' यदि कर्मों का नाश करना चाहते हो तो 'एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता' इस प्रकार सूत्र से अभिगत होकर (परमागम के ज्ञाता होकर), काय को निश्चल करके और मन को स्थिर करके 'छंडउ रायं रोसं' राग तथा द्वेष को छोड़ो ॥ २२ ॥

विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा ।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं ॥ २३ ॥

अर्थ—'जो अप्पा' जो आत्मा 'विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु' विषयों में लगे हुए मन को रोक कर, 'अप्पणो झायइ अप्पाणेणं' अपनी आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, 'सो पावेइ खलु सेयं' वह (आत्मा) वास्तव में कल्याण (सुख) को पाता है ॥ २३ ॥

सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं ।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ॥ २४ ॥

अर्थ—'सम्मं जीवादीयाणच्चा' जीवादि को सम्यक् प्रकार जानकर 'जेहिं सम्मं सुकित्तिदा' जिन्होंने उन जीवादि का भले प्रकार वर्णन किया है, 'मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं' जो मोहरूपी गज (हस्ती) के लिये केसरी (सिंह) के समान हैं, उन साधुओं को (हमारा) नमस्कार होऊ नमस्कार होऊ ॥ २४ ॥

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥ २५ ॥

अर्थ—'सोमच्छलेण' श्री सोम (श्रेष्ठी) के निमित्त से 'भव्वुवयारणिमित्तं' भव्य जीवों के उपकार के लिये 'सिरिणेमिचंदेण गणिणा' श्री नेमिचन्द्र आचार्य द्वारा 'पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ' पदार्थों का लक्षण कहनेवाली गाथायें 'रइया' रची गई हैं ॥२५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथाः

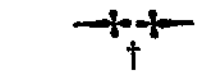

गाथा-संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
१	जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं । देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥	४
२	जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो । भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥	८
३	तिक्काले चदुपाणा इन्दियबलमाउआणपाणो य । ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥	१०
४	उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा । चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥	१३
५	णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि । मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्ख-परोक्खभेयं च ॥	१४
६	अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं । ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥	१७
७	वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे । णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥	१९
८	पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो । चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥	२०
९	ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि । आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥	२२
१०	अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा । असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥	२४
११	पुढविजलतेयवाऊ वण्णप्फदि विविहथावरेइंदी । विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥	२८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा-संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
१२	समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे। बादर सुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥	२६
१३	मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया। विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥	३१
१४	णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥	४०
१५	अजीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं। कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु) ॥	४८
१६	सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेद-तमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥	५०
१७	गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी। तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥	५३
१८	ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी। छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥	५४
१९	अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं। जेएहं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥	५५
२०	धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये। आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति (तो) ॥	५६
२१	दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥	५८
२२	लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का। रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥	६२
२३	एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं। उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥	६६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा-संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
२४	संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा । काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥	६६
२५	होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे । मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥	६८
२६	एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि । बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥	७०
२७	जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं । तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥	७२
२८	आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे । जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥	८३
२९	आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ । भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥	८५
३०	मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया । पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।	८६
३१	णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि । दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥	८८
३२	बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो । कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥	८९
३३	पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो । जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥	९०
३४	चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू । सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥	९३
३५	वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य । चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥	९८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा-संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
३६	जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण । भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥	१४६
३७	सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो । णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ॥	१५२
३८	सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा । सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥	१५६
३९	सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥	१६०
४०	रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि । तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥	१६१
४१	जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु । दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥	१६३
४२	संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स । गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥	१७७
४३	जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं । अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥	१८३
४४	दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा । जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥	१८४
४५	असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं । वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम् ॥	१९०
४६	बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं । णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥	१९३
४७	दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा । तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥	१९५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा-संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
४८	मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु । थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥	१९६
४९	पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह झाएह । परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥	२०२
५०	णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ । सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥	२०५
५१	णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा । पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥	२११
५२	दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे । अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥	२१३
५३	जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो । सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥	२१५
५४	दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं । साधयदि णिच्चसुद्धं स मुणी णमो तस्स ॥	२१६
५५	जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहु । लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥	२१८
५६	मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो । अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥	२१९
५७	तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा । तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥	२२२
५८	दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा । सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥	२३२

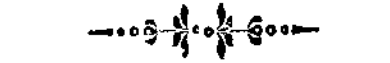

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अकारादिक्रमेण बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य गाथासूची

गाथा-आदिपद	गा. सं.	पृ. सं.	गाथा-आदिपद	गा. सं.	पृ. सं.
अजीवो पुण णेओ	१५	४८	दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा	५८	२३२
अट्ठ चदु णाण दंसण	६	१७	दुविहं पि मोक्खहेउं	४७	१६५
अणुगुरुदेहपमाणो	१०	२४	दंसणणाणपहाणे	५२	२१३
अवगासदाणजोग्गं	१९	५५	दंसणणाणसमग्गं	५४	२१६
असुहादो विणिवित्ती	४५	१९०	दंसणपुव्वं णाणं	४४	१८४
आसवदि जेण कम्मं	२९	८५	धम्माधम्मा कालो	२०	५६
आसवबंधणसंवर	२८	८३	पणतीससोलछप्पण	४९	२०२
उवओगो दुवियप्पो	४	१३	पयडिट्ठिदिअणुभाग	३३	९०
एयपदेसो वि अणू	२६	७०	पुग्गलकम्मादीणं	८	२०
एवं छब्भेयमिदं	२३	६६	पुढविजलतेयवाऊ	११	२८
गइपरिणयाण धम्मो	१७	५३	बज्झदि कम्मं जेण दु	३२	८९
चेदणपरिणामो जो	३४	९३	बहिरब्भंतरकिरिया	४६	१९३
जह कालेण तवेण य	३६	१४९	मग्गणगुणठाणेहि य	१३	३१
जावदियं आयासं	२७	७२	मा चिट्ठह मा जंपह	५६	२१९
जीवमजीवं दव्वं	१	४	मा मुज्झह मा रज्जह	४८	१९६
जीवादीसद्दहणं	४१	१६३	मिच्छत्ताविरदिपमाद	३०	८६
जीवो उवओगमओ	२	८	रयणत्तायं ण वट्टइ	४०	१६१
जो रयणत्तयजुत्तो	५३	२१५	लोयायासपदेसे	२२	६२
जं किंचिवि चिंतंतो	५५	२१८	वण्ण रस पंच गंधा	७	१९
जं सामण्णं गहणं	४३	१८३	वदसमिदीगुत्तीओ	३५	९८
ठाणजुदाण अधम्मो	१८	५४	ववहारा सुहदुक्खं	९	२२
णट्ठचदुघाइकम्मो	५०	२०५	सद्दो बंधो सुहुमो	१६	५०
णट्ठट्ठकम्मदेहो	५१	२११	समणा अमणा णेया	१२	२९
णाणावरणादीणं	३१	८८	सव्वस्स कम्मणो जो	३७	१५२
णाणं अट्ठवियप्पं	५	१४	सुहअसुहभावजुत्ता	३८	१५६
णिक्कम्मा अट्ठगुणा	१४	४०	संति जदो तेणेदे	२४	६६
तवसुदवदवं चेदा	५७	२२२	सम्मदंसणणाणं	३९	१६०
तिक्काले चदुपाणा	३	१०	संसयविमोहविब्भम	४२	१७७
दव्वपरिवट्टरूवो	२१	५८	होंति असंखा जीवे	२५	६८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अकारादिक्रमेण लघुद्रव्यसंग्रह-गाथासूची

गाथा-आदिपद	गाथा सं०	पृष्ठ सं०	गाथा-आदिपद	गाथा सं०	पृष्ठ सं०
अरसमरूवमगंधं	५	२३६	णासइ णर-पज्जाओ	२०	२३८
अवगासदाणजोग्गं	१०	२३७	दव्वपरियट्टजादो	११	२३७
उप्पादप्पद्धंसा	२१	२३६	पुढवी जलं च छाया	७	२३६
एवं अहिगयसुत्तो	२२	२३६	मिच्छत्तं हिंसाई	१६	२३८
कम्म बंधण-बद्धस्स	१८	२३८	मिच्छत्ताईचाओ	१७	२३८
गइपरिणयाणं	८	२३६	लोयायासपदेसे	१२	२३७
छद्दव्व पंच	१	२३५	वण्ण रस गंध	६	२३६
जावदीयं आयासं	१४	२३७	विसएसु पवट्टंतं	२३	२३६
जीवजीवासव	३	२३५	संखातीदा जीवे	१३	२३७
जीवो णाणी पुग्गल	१५	२३८	सम्मं जीवादीया	२४	२३६
जीवो पुग्गल धम्मा	२	२३५	सादाउणाम	१६	२३८
जीवो होई अमुत्तो	४	२३५	सोमच्छलेण रइया	२५	२३६
ठाणजुयाण अधम्मो	६	२३६			

संकेतसूची (पृष्ठ २४७–२४८ सम्बन्धी)

संकेत	ग्रंथ नाम	संकेत	ग्रंथ नाम	संकेत	ग्रंथ नाम
आ. प.	आलापपद्धति	पंचा. ता.	पंचास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति टीका	र. श्रा.	रत्नकरंड श्रावकाचार
आ. परि.	आप्तपरिक्षा	प. प्र.	परमात्मा प्रकाश	ल. सा.	लब्धिसार
आ. स्व.	आप्तस्वरूप	प्र. सा.	प्रवचनसार	वसु.	वसुनन्दि श्रावकाचार
आ. सा.	आराधनासार	पू. उ.	पूज्यपाद उपासकाचार	ष. प्रा.	षट् प्राभृतसंग्रह
गो. क.	गोम्मटसार कर्मकांड	बा. अ.	बारस अनुप्रेक्षा	ष. ख.	षट् खण्डागम
गो. जी.	गोम्मटसार जीवकांड	भ. आ.	भगवति आराधना	स. सा.	समयसार
ज. प.	जंबूदीवपण्णत्ति	भा. पा.	भाव पाहुड	समा.	समाधिशतक
त. अ.	तत्त्व अनुशासन	भा. सं.	भावसंग्रह	स. सि.	सर्वार्थसिद्धि
त. सा.	तत्त्वसार	मूला.	मूलाचार (वट्टकेर)	सि. भ.	सिद्धभक्ति
ति. प.	तिल्लोय पण्णत्ति	मो. पा.	मोक्षपाहुड	सु. र.	सुभाषित रत्न संदोह
नि. सा.	नियमसार	य. च.	यशस्तिलक चम्पू	हि. उ.	हितोपदेश(निर्णयसागर)
पं. सं.	पंचसंग्रह	यो. सा.	योगसार	त्रि. सा.	त्रिलोकसार
पंचा.	पंचास्तिकाय			ज्ञान.	ज्ञानार्णव

नोट:—जहाँ दो संख्या हों, उनमें प्रथमसंख्या 'अध्याय', 'सर्ग' आदि की है; दूसरी संख्या 'गाथा,श्लोक' आदि की है। षट् खंडागम में प्रथम संख्या पुस्तक की है, दूसरी संख्या 'पृष्ठ' की है। जहाँ पर एक संख्या हो वह गाथा या श्लोक की है, किन्तु संख्या से पूर्व यदि 'पृ.' हो तो वह पृष्ठ संख्या है। यदि संख्या के पश्चात् 'टी.' हो तो गाथा टीका से प्रयोजन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृतटीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची

पृष्ठ	उक्त पद्य	अन्य ग्रंथ
११६	अच्छिण्णिमीलणमेत्तं	त्रि.सा. २०७
२२६	अज्जवितिरयण	मो. प. ७७
१०७	अत्थि अणंता जीवा	ष.ख. १/२७१
		,, ,, ४/४७७
		गो.जी १९६
		मूला. १२/१६२
२२६	अत्रेदानीं निषेधन्ति	त.अ. ६, ८३
२२४	अपुण्यमव्रतैः पुण्यं	समा. ८३
२२४	अव्रतानि परित्यज्य	समा. ८४
२०३	अरिहंता असरीरा	भा.सं. ६२७टी.
२१७	अरूहासिद्धा इरया	बा.अ. १२
		मो.पा. १०४
१४३	अशुभपरिणाम बहुलता	
१४६	असिदिसदं किरियाणं	गो.क. ८७६
१११	आत्मानदिसंयमतोय	हि.उ. पू. १२८
१५३	आत्मोपदान सिद्धं	सि. भ. ७
२२६	आदा खु मज्झ	भा.पा. ५८
		नि.सा १००
		स.सा. १५ क्षेपक (३)
३०	आहार सरीरिंदिय	गो.जी. ११८
		ष.ख. २/४१७
१४०	इगत्तीस सत्त चत्तारि	ष.ख.७/१३१
		ति.प. ८/१५६
१४३	इत्यति दुर्लभरूपां	प.प्र. ६ टी.
३०	इंदियकाया ऊणिय	गो.जी. १३१
१३६	इंदुरवीदो रिक्खा	त्रि. मा. ४०४
२१६	उद्योतनमुद्योगो	भ.आ. २ छाया
१५७	उद्धम मिथ्यात्वविषं	
३२	उवसंत खीणमोहो	गो.जी. १०
७३	एगणिगोद सरीरे	ष.ख.१/२७०,३०४
		,, ,, ४/४७८
		गो.जी. १९५
		मूला. १२/१६३
२२६	एगो मे सस्दो	भा.पा. ५६
		नि.सा. १०२
		मूला. २/४८
		ष.ख. ६/६
		ष.ख. ७/६८
८७	एयंतबुद्ध दरसी	गो.जी. १६
७३	ओगाढगाढ णिचिदो	पंचा. १६४
१७६	ओजस्तेजो विद्या	र.श्रा. ३६
२२६	कंखिद कलुसिद	मूला. २/८१
६५	किं पल्लविएण	बा.अ. ६०
१५४	खयउवसमियविसोही	गो.जी. ६५०
		ष.ख. ६/१३६, २०५
		ल.सा. ३
		भ.आ. २०७६
३६	गइ इंदियेसु काये	गो.जी. १४१
३६	गुणजीवापज्जत्ती	गो.जी. २
२०४	गुप्तेन्द्रियमनाध्याता	त.अ. ३८
१५२	चक्खुस्सदंसणस्स	भ.आ. १२
२१४	छत्तीसगुण समग्गे	भा.सं. ३७७
११०	जन्मना जायते शूद्रः	
१५१	जं अण्णाणी कम्मं	प्र.सा. २३८
		ष.ख. १३/२८१
		भ.आ. ११०
११०	जीवो वह्मा जीवह्मि	भ.आ. ८७७
१४६	जोगा पयडिपदेसा	गो.क. २५७
१७६	ज्योतिर्भावन भौमेषु	सु.र. ८२६
		*पं.सं. १/२६८
१३४	णउदुत्तरसत्तसया	त्रि.सा. ३३२
८२	ण वि उप्पज्जई	प.प्र. १/६८
१४४	णिच्चदरधाउसत्तय	गो.जी ८६
११८	णिरयादोणिस्सरिदो	त्रि.सा. २०३
५१	ततं वीणादिकं	पंचा.ता. ७६टी.
१४७	तीसं वासो जम्मे	गो.जी. ४७२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठ	उक्त पद्य	अन्य ग्रंथ
३४	दंसण वय सामाइय	ष.ख. १/१७३
		ष.ख. ६/२०६
		गो.जी. ४७६
३१	दस सण्णीणं पाणा	गो.जी. १३२
		ष.ख. २/४१८
७४	दुण्णिय एयं एयं	वसु. २४
२२८	दौर्विध्यदग्धमनसो	य.चं.२/१३४
१४५	धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे	
११३	धम्मे य धम्म फलह्मि	
६	नास्तिकत्व परिहार:	पंचा.ता. १ टी.
१५७	पञ्चमहाव्रत रक्षां	
२२६	पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य	
६१	पडपडिहारसिमज्ज	गो. क. २१
८८	पण णव दु अट्ठवीसा	सि. भ. ८
२०१	पदस्थं मंत्र वाक्यस्थं	प. प्र. १ टी.
		ष.प्रा. पृ.२३६
७४	परिणामि जीवमुत्तं	वसु. २३
		मूला. ७/४४
१३०	पुव्वस्स हु परिमाणं	ष.ख. १३/३००
		जं.प. १३/१२
२०	बंधं पडि एयत्तं	स.सि. २/७टी.
२२६	भरहे दुस्समकाले	मो.पा. ७७
५	भवणालय चालीसा	आ.सा. १ टी.
६	मङ्गलणिमित हेउं	ष.ख. १/७
		पंचा. ता. १ टी.
		ति.प. १/७
२२६	ममत्तिं परिवज्जामि	भा पा. ५७
		नि.सा. ६६
		मूला. २/४५
३२	मिच्छोसासण मिस्सो	गो. जी. ६
२२६	मुक्तश्चेत् प्राक् भवेद्	प.प्र. ५६ टी.
१५८	मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ	य.च. पृ ३२४
		ज्ञान. पृ.६३
		ष.प्रा. पृ.३२
		प.प्र. पृ.१४३

पृष्ठ	उक्त पद्य	अन्य ग्रंथ
२५	मूलसरीरमछंडिय	गो.जी. ६६७
२२७	यत्पुनर्वज्रकायस्य	त. अ. ८४
२१०	यस्यनास्ति स्वयंप्रज्ञा	हि.उ. पृ.१०५
		*मूला १०/४२
१५५	रयणदीवदिणयर	यो.स. ५७
११	वच्छरक्ख भव	पंचा.ता.२७टी.
२२८	वधबन्धच्छेदादे:	र.श्रा. ७८
८७	विकहा तहा कसाया	ष.ख. १/१७८
		गो.जी. ३४
२०६	विस्मयो जननं निद्रा	आ.स्व. १६,१७
		पु. उ. ५,६
		य.च.पृ. १३४
१६२	विसयकसा ओगाढो	प्र.सा. १५८
२५	वेयण कषाय वेउव्विया	गो.जी.६६६
		ष.ख.४/२६
२२३	वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं	प.प्र. २/१६२टी.
४६	शिवं परमकल्याणं	प.प्र. १/२०टी.
		आ.स्व. २४
१७७	शेषेषु देवतिर्यञ्चु	पं.सं.१/३०१
६	श्रेयो मार्गस्य संसिद्धि:	आ.परि. २
१०५	सक्को सहस्स	मूला. १२/१४२
१०६	सग्गं तवेण सव्वो	मो.पा. २३
१४३	सण्णाओ य तिलेस्सा	पंचा. १४०
१३६	सदभिस भरणी अद्दा	त्रि.सा. ३६६
२२८	संकल्प कल्पतरु	य.च. २/१३२
२१७	समत्तं सण्णाणं	वा.अ. १३
४१	सम्मत्तरणाण दंसण	भा.सं ६४
		वसु. ५३७
१७६	सम्यग्दर्शनशुद्धा	र.श्रा. ३५
५५	सिद्धोऽहं सुद्धोहं	त.सा. २८
१६८	सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं	आ.प. ५
६५	सोलस पण वीस	गो.क. ६४
१७७	सौधर्मादिष्वसंख्या	*पं.सं १/३००
१७६	हेठ्ठिमछप्पुढवीणं	गो.जी.१२७
२०६	क्षुधातृषाभयं	आ.स्व.१५
		पु.उ. ४

*इन पद्यों का रूपान्तर होने पर भी भावार्थ वही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पारिभाषिक-शब्दसूची

शब्द	पृष्ठ
अ	
अकम्पनाचार्य	१७३
अकिंचित्कर हेतु	२१०
अगुरुलघु गुण	७६
अगुरुलघुत्व	४२
अग्निभूत	१६४
अङ्का (देश)	१२८
अङ्गबाह्य (१४)	१७६
अचरम	१०६
अचक्षुदर्शन	१३, १४
अच्युत	१३८, १३६, १४०, १४२, १७०
अजीव	४८, ७५, ७७, ७६, ८३
अञ्जनचोर	१६८
अतिमुक्त मुनि	१६६
अधर्मद्रव्य	४८,४६,५४,५५,७४,७५,७६,७७
अधिकृत देव	६
अध्यात्म	२३२
अध्यात्म भाषा	१५५, १५८, १६४, २००
अध्रुव अनुप्रेक्षा	१०३
अनन्त सुख	४२
अनन्तमति (स्त्री)	१६६
अनन्त वीर्य	४२, ४६
अनक्षरात्मक	५०, ५१
अनायतन	१५८, १६७
अनिवृत्तिकरण गुणस्था	३५.१४७,१६६,२००
अनुत्तरोपपादिक दशांग	१७६
अनुदिश (नव)	१३८, १३६, १४०, १४२
अनुपचरित सद्भूत	१२, १८
अनुपचरितासद्भूत	११, १२, २०, २१, २३, २५, ५१, ८२, १०३

शब्द	पृष्ठ
अनुप्रेक्षा	१०३
अनुभाग-बंध	६०, ६१, ६२, १४८
अनुमान	२०८, २०६, २१०
अनुयोग	१८०
अनैकान्तिक हेतु	२१०
अन्तकृद्दशांग	१७६
अन्तरात्मा	४५, ४७
अन्तरित पदार्थ	२०६
अन्यत्व अनुप्रेक्षा	१०६
अन्वय दृष्टान्त	२०६
अपध्यान	६५, २२८, २२६
अपराजित नगर	१२८, १३०
अपवाद व्याख्यान	१६, २२६, २२७
अपहृत संयम	१६३
अपायविचय	१६८
अपूर्वकरण गुणस्थान	३४,१४७,१६६,२००
अप्रमत्तसंयत	३४,६४,१४७,१४८
अप्रत्याख्यानावरण	१६१
अब्बहुलभाग	११५, ११६
अभव्य	३८, ३६, ४७, १५५
अभव्यसेन	१६५
अभाषात्मक शब्द	५०
अभिधान	७
अभिधेय	७
अभिमत देव	६
अभूतार्थ नय	६
अभेदनय	८०, १८६, १६०
अभ्युदय सुख	१४५
अमूढदृष्टि	१७१
अमूर्तिक	८, १६, २०, ४८, ७५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
अयोगिगुणस्थान	३५, ४८, १४८
अयोध्या	१३०, १३५
अरजापूरि	१२६
अरिहंत	२०५, २०६
अलोकाकाश	६३, २११
अवगाहन	४२
अवध्या (नगरी)	१३०
अवधिदर्शन	१४, १८५
अवधिज्ञान	१७, १७६, १८५
अविकल्पितनिश्चय	२१८
अविपाक निर्जरा	१४६, १५०
अविरत सम्यग्दृष्टि	५,३३,४७,६४,१४८,१६१
अविरति	८६, ८७, १४८
अव्रत	१११, २२४
अशरण अनुप्रेक्षा	१०४
अशुचि अनुप्रेक्षा	११०
अशुद्ध नय	८, ६, ११, १२, २१, २२, २३, ३२, ४७, ५१, ७६, ८२, ६४, ६५, १०३, १६३, २०२
अशुद्ध पारिणामिक भाव	३८, ३६
अशुभ तैजस समुद्घात	२६
अशुभोपयोग	६४, १५७, १६२
अशोकपूरि	१२६
अश्वपूरि	१२६
अश्विनी (नक्षत्र)	१३४
अष्ट प्रवचन मातृ	२२७
असद्भूत व्यवहार नय	४,१२,८२,१६३
असंयत सम्यग्दृष्टि	५,३३,४७,६४,१४८,१६१
असंज्ञी	३०, ३६, ११८
असिद्ध हेतु	२०६, २१०
असुरकुमार	११६, ११६, १४१
अस्ति	६७
अहंकार	१६७
अक्षरात्मक	५०
अक्षौहिणी (सेना)	१६८
अज्ञान	१४

शब्द	पृष्ठ
आ	
आकार	१७७
आकाश	४८,४६,५५,५६,७४,७५,७६,७७
आकिंचन	१०२
आगमभाषा	१५५, १५८, १६४, १६७, २०१
आचार्य	२१३
आचाराङ्ग	१७६
आचाराराधना (ग्रन्थ)	१८०, १६२,२१४,२२३
आतप	५०, ५२
आत्मा	४५, २३१
आदिपद	२०३, २०५
आनत (स्वर्ग)	१३८, १३६, १४०, १४२
आयतन	१६७
आरण (स्वर्ग)	१३८, १३६, १४०, १४२
आराधना	६१, १२६, २१७, २२२
आर्जव	१००
आर्त्तध्यान (४)	१६७
आर्द्रा (नक्षत्र)	१३६
आर्य खंड	१२१, १२२, १३०
आर्य मनुष्य	५१
आवर्ता (देश)	१२७
आवास	११६, १२०
आश्लेषा (नक्षत्र)	१३६
आश्रम नगर	१
आस्रव	८०, ८१, ८३, ८४, ८५, ६२, १११, १४८, १६४
आहारक मार्गणा	३७
आहारक समुद्घात	२६
आज्ञाविचय	१६८
इ	
इन्द्र	१३६
इन्द्रक विमान	१४०
इन्द्रक बिल	११६, ११७
इन्द्रिय मार्गणा	३७
इष्टदेव	६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
ई	
ईश्वर	४६
ईशान स्वर्ग	१३८,१३६,१४०,१४१,१४२
ईर्यापथशुद्धि	१०१
उ	
उज्जयिनी (नगरी)	१७४
उत्तरकुरु (क्षेत्र)	१२३,१२५,१३८
उत्तराफाल्गुनी (नक्षत्र)	१३६
उत्तराभाद्र (नक्षत्र)	१३६
उत्तरायण	१३६
उत्तराषाढ (नक्षत्र)	१३६
उत्पाद	४५, ६२, ६३, ६७, ६८
उत्सर्ग वचन	१६, २२६, २२७
उदुरुलि भट्टारक	१७१
उदायन राजा	१७१
उद्धार सागर	११६
उद्योत	५०, ५२
उपकार	७६
उपगूहन (गुण)	१७२
उपचरित सद्भूत (नय)	१२, १८
उपचरितासद्भूत	१२,१८,२१,२३,५६,१०३,१६३
उपनय	२०६, २१०
उपयोग	८, १३, १७, १८, ४६
उपशम सम्यक्त्व	१७१, १६१
उपशांतमोह	३५, १४८, १४६, १६६
उपादान कारण	६१, ६३
उपाध्याय (साधु)	२१४, २१५
उपासकाध्ययनांग	१७६
उर्विला रानी	१७५
ऊ	
ऊर्ध्वगमन	६, ४१, ४४
ऋ	
ऋजुविमान	१३८, १४०
ए	
एकत्वअनुप्रेक्षा	१०८
एकत्ववितर्कवीचार ध्यान	३५, २००
एकदेशचारित्र	१६१, १६२
एकदेशजिन	५
एकदेशव्रत	२२४, २२५
एकदेश शुद्धनिश्चय	४,२२,४०,८२,६५,६६ २०२, २१६, २२०, २३०
एकेन्द्रिय	२८
ऐ	
ऐरावत क्षेत्र	१२१,१२४,१२५,१३५
ओ	
ओम् (शब्द)	२०३
क	
कच्छा (देश)	१२७
कच्छावति (देश)	१२७
कमल	१२४
करणानुयोग	१८०
कर्कट संक्रान्ति	१३७
कर्त्ता	८,२०,२१,७४,७५,७६,८१,८२
कर्म	१६०,१६८,१६६,२०२,२०५,२११
कर्मचेतना	४६
कर्मफल चेतना	४६
कर्मभूमि	१२४
कल्पवृक्ष	१२६
कषाय	८६,८७,६०,६२,१११,१४६
कषाय मार्गणा	३७
काकतालिय न्याय	१४३
कात्यायनी (विद्या)	१६५
कापिष्ट स्वर्ग	१३८, १३६, १४०, १४२
कायमार्गणा	३७
कायशुद्धि	१०१
कारण	७४, ७५, ७६, १६६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
कारण समयसार	४०, ६२
कार्य समयसार	६२
काल	४८,४६,५८,६१,६५,६७,६८,६६ ७०,७२,७४,७५,७६,७७,१३४,१३५
काल अन्तरित	२०६
काल लब्धि	६१, १५०, १६४
कालोदक (समुद्र)	१२०
कालोदधि	१३१, १३२, १३५
किञ्चिदून	४३, २१२
कुण्डला नगरी	१२८
कुन्दकुन्द स्वामी	२२६
कुमति	१५
कुमुदा (देश)	१२६
कुश्रुत	१५
कुलाचल	१२१, १३१, १३२
केवलदर्शन	१३,१४,४२,४६,१८४,१८५,२११
केवलज्ञान	१७,४१,४७,४६,६५,६६,६७,१४२ १७६,१८४,१८५,२००,२११,२२५,२२७
केवलज्ञानावरण	४७
केवलि समुद्घात	२६
केवली	१८४, १८५
केसरी (ह्रद)	१२१, १२३
कौरव	१६५
कंस (राजा)	१६५, १६८, १६६
कृतान्तवक्र (राजा)	१६६
कृष्ण (नारायण)	१६५
क्रियासहित	७४, ७५
क्रोध	८७, १११

ख

खड्गपूरी (नगरी)	१३०
खड्गा (नगरी)	१२७
खरभाग	११५, ११६

ग

गङ्गा	१२१,१२२,१२३,१२४,१३०,१३१
गजदंत	१२३, १२५, १२६, १३२
गतिमार्गणा	३६
गन्धमालिनी (देश)	१३०
गन्धर्वाराधना ग्रन्थ	२२७
गन्धा (देश)	१३०
गन्धिला (देश)	१३०
गुण	५०
गुणस्थान	३२
गुप्ति	६८, ६६, १४८, १६०, १६२
गौतम गणधर	१६४, २२६
गृहाङ्गकल्पवृक्ष	१२६
ग्रह (तारे)	१३४
ग्रैवेयिक (नव)	१३८, १३६, १४०, १४२

घ

घन (शब्द)	५१
घनवात	११३, ११५, १३६
घनोदधि	११३, ११५, १३६

च

चक्रपूरी (नगरी)	१३०
चक्रवर्ति (राजा)	१०७, ११८
चतुरिन्द्रिय	२६
चन्डिका देवी	१६५
चन्द्रप्रभ विद्याधर	१७१
चरणानुयोग	१८०,१६२
चरमशरीर	१०६
चक्षुदर्शन	१३
चारित्र	१४६, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, २१३
चारित्रमोह	२०१
चारित्रसार	२२७
चित्रापृथ्वी	११५
चूलिका	७४, ७८, १७६
चेतना (३)	४६
चेलनारानी	१७२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
छ	
छद्मस्थ	१८४, १८५
छाया	५०, ५२
छेदोपस्थापना	१४६, १४७
ज	
जघन्य गुण	५०
जड़ (जीव)	२७
जनपद	१२१
जम्बूद्वीप	११६,१२१,१२५,१३१,१३५
जम्बूवृक्ष	११६, १२६
जयधवल	४०
जरासिंधु (प्रतिनारायण)	१६८
जिन	५, ४६
जिनदत्त	१७२
जिनवरवृषभ	६
जीव	८, १०, ११, १८, २७, ७४, ७७ ७८, ७६, ८०, ८३
जीवसमास	३०
ज्येष्ठा (नक्षत्र)	१३६
ज्येष्ठा माता	१७२
ज्योतिरङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
ज्योतिष्क देव	१३४, १४१
ज्योतिष लोक	१३४
त	
तत (शब्द)	५१
तत्त्वानुशासन	२२६, २२७
तनुवात वलय	११३, ११५, १३६, १४०
तप	१०२,१४६,१५०,२१४,२२२,२२३
तपाचार	२१४
तम	५०, ५२
तमप्रभा (नरक-पृथिवी)	११४
तारे	१३४
तिगिंछ (ह्रद)	१२१, १२२, १२३, १२४
तिर्यग्लोक	११६, १२०
तीन-इन्द्रिय	२६
तीर्थंकर	११८, १४५, १५१, १७०
तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
तैजस समुद्घात	२६
त्याग	१०२, २२५
द	
दर्शन	१३,१४,५०,१८३,१८४,१८५, १८६,१८७,१८८,१८६,२०५
दर्शन मार्गणा	३७
दर्शनमोह	२०१
दर्शनाचार	२१३
दशपुर (नगर)	१७४
दक्षिणायन	१३५, १३७
दार्शनिक श्रावक	१६१
दीपाङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
दीपायन (मुनि)	२६
दुर्ध्यान	६५, २२८, २२६
दुःषमाकाल	२२६
देवकी (रानी)	१६८
देवकुरु (क्षेत्र)	१२३, १२५, १३८
देवमूढ़ता	१६५
देवारण्य	१२७, १२८
देश-अन्तरित	२०६
देशघाति स्पर्द्धक	६७
देशचारित्र	१६१, १६२
देशप्रत्यक्ष	१५
देहप्रमाण	२४
दो-इन्द्रिय	२८
दोष	४५
दोष (१८)	२०६
दृष्टान्त	२०७,२०८,२०६,२१०
दृष्टिवाद	१७६
द्रव्य नमस्कार	२१७
द्रव्य निर्जरा	१४६, १५०
द्रव्य निर्विचिकित्सा	१७०
द्रव्य बन्ध	५१, ८६, ६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
द्रव्य मोक्ष	१५२,१५३,२२६,२३०
द्रव्य स्तवन	४
द्रव्य संग्रह	२३२, २३३
द्रव्य संवर	६३, ६४
द्रव्यश्रुत	२२३, २२७
द्रव्यार्थिक नय	८,६,७५,७६,१०३,२३०
द्रव्यानुयोग	१८०
द्रव्यास्रव	८८
द्वीप	११६, १२०
द्वीपकुमार (देव)	१४१
द्वीपायन (मुनि)	२६
द्वेष	२०१, २०२

ध

धर्म	६८, ६६, १००, १४४
धर्म (अनुमान)	२०८,२०६
धर्म अनुप्रेक्षा	१४४
धर्म द्रव्य	४८,४६,५३,५४,७०,७४,७५,७६,७७
धर्मध्यान	१६८,२०१,२२२,२२६,२२७
धवल	४०
धर्मी (अनुमान)	२०८, २०६
धातकी खंड	१२०,१३१,१३२,१३५,१७०
धातु (७)	२०६
धारा नगरी	१
धूमप्रभा (नरक)	११४
ध्रौव्य	४५, ६२, ६३, ६७, ६८
ध्याता	१६६, २०३, २१८, २१६, २२२
ध्यान	१६५,१६६,२०३,२०५,२१८,२१६, २२०,२२२,२२३,२२४,२२५,२२६, २२७,२२८,२३०
ध्येय	२०४, २०५, २१८, २१६, २३०

न

नमस्कार	२१७
नमस्कार मंत्र	२०३
नरक	११६, ११७, ११८, ११६
नरक बिल	११५, ११६
नरकांता नदी	१२४
नलिना (देश)	१२६
नक्षत्र	१३४,१३६
नागकुमार	१४१
नागेन्द्र पर्वत	१३३
नाभिगिरि	१२२, १२३
नामपद	२०३, २०५
नारायण	१११, ११८, १६५, १६८
नारी (नदी)	१२४
निगमन (अनुमान)	२०६, २१०
निगोद	१०७, ११४
नित्य	४४, ७४, ७६
नित्यनिगोद	१०७
निदानशल्य	१८१
निमित्त	१३४
निर्गतित्वं	४२
निर्गोत्रत्वं	४२
निर्जरा	८०,८१,८३,८४,११२,११३,१४६, १५०,१५१
निर्नामत्वं	४२
निर्योगत्वं	४२
निर्विचिकित्सा	१७०
निर्वेदत्वं	४२
निरायुषत्वं	४२
निरिन्द्रियत्वं	४२
निष्कांक्षित	१६६
निष्कायत्वं	४२
निषध	१२१,१२२,१२३,१२४,१२७,१२८,१३२
निश्चय आराधना	२१७, २२२
निश्चय चारित्र	१८६, १६३
निश्चय ध्यान	२०४,२११,२१८,२१६,२२०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
निश्चय नय	४,५,७.८,९,११,१२,१३,१५,१८, १९,२१,२३,२४,२६,३३,३४,५१,५२,५६,६८, ७१,७५,७७,८०,८२,८६,९२,९३,९८,९९,१०३, १६९,१७०,१७१,१७२,१७३,१७४,१७५,१९०, १९३,१९८,२०२,२०६,२१२,२१७,२१८,२१९, २२०
निश्चय पंचाचार	२१३, २२१
निश्चय मोक्ष	२३०
निश्चय मोक्षमार्ग	१६०,१६१,१६२,१६३, १९५, २२०
निश्चय रत्नत्रय	८१,१०४,१२६,१४८,१६१, १६२,१६३,१७०,१९५
निश्चय व्रत	२२५
निश्चय सम्यक्त्व	४१,६५,१७५,१७६,२१३
निश्चय स्वाध्याय	२१४
निश्चय ज्ञान	१८१
निशांकित	१६८
नील (पर्वत)	१२१,१२३,१२४,१२७,१२९
नेमचन्द्र सिद्धान्त देव	२,५,२३२,२३३
नैगम-नय	४७
नैयायिक	१८४, १८६

प

पङ्क-प्रभा नरक	११४,११६
पङ्क-भाग:	११५
पञ्च-नमस्कार महात्म्य	२०४, २१७
पञ्च-परावर्तन	१०४
पञ्चाचार	२१३, २२१
पञ्चानुत्तर	१३८, १३९, १४०, १४२, १७०
पञ्चास्तिकाय	४०, ६६
पञ्चेन्द्रिय	२९
पटल	११६,११७,१३८,१४०,१४१
पद्महृद	१२१,१२२,१२४,१३१
पद्मराज	१७३
पद्मा (देश)	१२८, १२९
पद्मावति (देश)	१२९

शब्द	पृष्ठ
पदस्थध्यान	२०१,२०२,२०४,२०५,२०६ २१०, २१२, २१४
परमध्यान	२१९, २२०
परमात्मा	४५,४७,४८,९४,९८,१५३
परमशुद्ध-निश्चय-नय	५,७,७७,८२,२०२
परम क्षायिक-सम्यक्त्व	४१
परमाणु	५०,७१,७२,२०९
परमौदारिक शरीर	२०६
पर्याप्ति	३०, ७६
पर्यायार्थिक नय	८०
पर्वत	१२१, १३१, १३२
पक्ष (अनुमान)	२०८,२०९,२१०
परावर्तन	१०४
परिक्रम (५)	१७९
परिणामी	७४, ७९, ८०
परिवार नदी	१२३
परिषह-जय	१४५
परिहार-विशुद्धि (संयम)	१४७
परोक्ष	१५, १६, १७
पाखंडमत	१४९
पाण्डुपुत्र	१११, १६५, २२८
पाप	८०,८१,८३,८४,१४८,१५७,२२४
पारिणामिक भाव	३८, ३९, ७६, ८२, ८३, २२१, २३०
पात्र	१२६
पिंडस्थ (ध्यान)	२०१, २०५, २०६, २१०
पुण्य	८०,८२,८३,८४,१४८,१५१,१५७, १५८,१५९,१६५,२२४
पुद्गल	४८,४९,७४,७५,७६,७७,८४
पुद्गलबंध	५१
पुनर्वसु (नक्षत्र)	१३६
पुर (भवन)	१२०
पुष्करवर द्वीप	१२०,१३२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
पुष्करार्ध द्वीप	१३२, १३५, १३७
पुष्कला (देश)	१२७
पुष्कलावति (देश)	१२७
पुष्पडाल (मुनि)	१७३
पूर्व (वर्ष)	१३०
पूर्व (१४)	१७६,२२६,२२७,२२८
पैशाची भाषा	५१
पुंडरीक (ह्रद)	१२१
पुंडरीकणी (नगरी)	१२७
पृथक्त्व	१६६
पृथक्त्व-वितर्कवीचार	१६६
प्रकृति बंध	६०, ६१, १४६
प्रकीर्णक बिला	११६
प्रकीर्णक विमान	१४०
प्रतिनारायण	११८, १६८, १६६
प्रतिमा (११)	१६१, १६२
प्रतिष्ठापन शुद्धि	१०१
प्रत्यक्ष	१५, १६, १७, २०६
प्रत्याख्यानावरण	१६२
प्रथमानुयोग	१७६, १८०
प्रदेश	७२, ७३, ७४, ७५
प्रदेश बंध	६०, ६२, १४८
प्रभाकरी (नगरी)	१२८
प्रमत्तसंयत	३४, ६४, १४८
प्रमाणु	५०, ७१, ७२, २०६
प्रमाद	८६, ८७
प्रयोजन	७
प्रवचनसार	४०
प्रश्नव्याकरणांग	१७६
प्राकृत (भाषा)	५१
प्राण	११, ३०, ३१
प्राणत (स्वर्ग)	१३८,१३६,१४०,१४२
प्रायोगिक (शब्द)	५१

शब्द	पृष्ठ
ब	
बन्ध	५०, ८०, ८१, ८३, ८४, ६२, २२६
बलदेव	११८, १६८
बली (मंत्री)	१७३
बहिरात्मा	४५, ४६, ४७, ४८, ८१
बहुरूपिणी	१६५
बाधित हेतु	२१०
बालुकाप्रभा (नरक)	११४
बिले	११५
बुध (ग्रह)	१३४
बेलापत्तन (नगर)	१११
बोधि	१४४
बोधि दुर्लभ	१४३
बौद्धमत	१८१
भ	
भद्रशाल	१२३, १२६, १२८, १२६
भय (७)	१६६
भरणी (नक्षत्र)	१३६
भरत चक्री	१०७,१३५,२२५,२२६,२२८
भरत क्षेत्र	१२१,१२२,१२४,१२५,१३०,१३१ १३२,१३५
भव-अन्तरित	२०६
भवन	१२०
भवनवासी	११६, १२०, १४१
भव्य	४७, ८२, १६६
भव्य मार्गणा	३८
भाजनाङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
भाव असिद्ध हेतु	२०६
भाव आस्रव	८५, ८६
भाव नमस्कार	२१७
भाव निर्जरा	१४८, १५०
भाव निर्विचिकित्सा	१७१
भाव बन्ध	५१,८६,६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
भाव मोक्ष	१५२,१५३,२२६,२३०
भाव श्रुत	२२३, २२७
भाव शुद्धि	१००
भाव संवर	६३, ६४
भाव स्तवन	४
भावासिद्धहेतु	२०६
भिक्षा शुद्धि	१०१
भूतार्थ-नय	६
भूषणाङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
भेद	५०, ५२
भेद नय	१८६, १६०
भेदाभेद रत्नत्रय	१५६,१७०.१७२,१७३, १६८ २०४,२१४,२२८
भोक्ता	६, २२, २३, ७६
भोगभूमि	१२२,१२३,१२४,१२६,१३८
भोजनाङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
भोजराजा	१

म

मकर संक्रांति	१३७
मङ्गल (ग्रह)	१३४
मङ्गलावति (देश)	१२८
मञ्जूषा (नगरी)	१२७
मतिज्ञान	१५, १८५
मथुरा	१७५
मद (८)	१५८, १६७
मनः पर्यय ज्ञान	१७, १७६, १८५
ममकार	१६७
मलेच्छ खंड	१२५, १३०
मलेच्छ भाषा	५१
महा कच्छा (देश)	१२७
महातम प्रभा (नरक)	११४
महाधवल	४०
महापद्म	१२१, १२२, १२३, १२४
महापद्मा (देश)	१२६
महापुंडरीक	१२१
महापुरी (नगरी)	१२६
महावच्छा (देश)	१२८
महावप्रा (देश)	१३०
महाव्रत	१६२, २२५
महाशुक्र	१३८, १३६, १४०, १४२
महास्कन्ध	५२, ७७
महाहिमवत	१२१, १२२, १२४, १३२
मानुषोत्तर	१३२, १३३, १३७, १७४
मायाशल्य	१८१
मार्गणा	३६
मारणान्तिक समुद्घात	२५
मार्दव	१००
माल्याङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
मालवदेश	१
माहेन्द्र (स्वर्ग)	१३८,१३६,१४०,१४२
मिथ्यात्व	८६
मिथ्यादृष्टि	३२, ४७, १४८
मिथ्याशल्य	१८१
मिश्र गुणस्थान	३३, ४७, १४८
मुक्तात्मा	६८
मुनि	२१६, २१७
मूर्त्त	८, १६, २०, ४८, ७४, ७५
मूढ़ता	१५८, १६५, १६६
मूलगुण (८)	१६१
मेरु	११४, ११५, ११६, १२३, १२५, १२६ १२७, १२८, १२६, १३१, १३२, १७४, २०६
मेरुचूलिका	१३८
मोह	२०१
मोक्ष	८०, ८१, ८३, ८४, १५१, १५२, १५३ २२८, २२६
मोक्षप्राभृत (ग्रन्थ)	२२६
मोक्षमार्ग	१६०, १६१, १६२, १६३, १६५, २२०
मोक्षशिला	१३६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
य	
योग	८६, ८७, ९०, ९२, १४६
योग-मार्गणा	३७
यथाख्यात (चारित्र)	१४७, १४८
यमकगिरी	१२६
र	
रक्ता (नदी)	१२४
रक्तोदा (नदी)	१२४
रज्जु	६४, ११४, १३६
रत्नत्रय	८१, १०४, १२६, १४८, १६०, १६१, १६२, १७०, १९५, २२८
रत्नप्रभा (नरक)	११४, ११५, ११६
रत्नसंचया (नगरी)	१२८
रमणीया (देश)	१२८
रम्यक क्षेत्र	१२१, १२४
रम्यका (देश)	१२८
रम्या (देश)	१२८
रसाङ्ग-कल्पवृक्ष	१२६
राग	२०१, २०२
रामचन्द्र	१६५, १६८, १६९, १७४, २०९, २२८
रामायण	१७४, १७५
रावण	१५९, १६५, १६८, १७०, २०९
राक्षस	११६
रिष्टा (नगरी)	१२७
रिष्टपुरी (नगरी)	१२७
रुक्मि (पर्वत)	१२१, १२४
रुक्मिणी (रानी)	१७१
रूप्यकुला (नदी)	१२४
रूपस्थ-ध्यान	२०१, २०५, २०६, २१०
रूपातीत-ध्यान	२०१, २११
रेवती (श्राविका)	१७१
रोहिणी (नक्षत्र)	१३६
रोहित (नदी)	१२२, १२३, १२४
रोहितास्या (नदी)	१२२, १२३, १२४
रौद्रध्यान (४)	१९७
ल	
लघुसिद्धचक्र	२०४
लवण समुद्र	११९, १३१, १३५, १३७
लब्धि (५)	१५४, १५५
लक्ष्मण	१६५, १६८, १७०
लाङ्गलवर्ता (देश)	१२७
लांतव (स्वर्ग)	१३८, १३९, १४०, १४२
लेश्या-मार्गणा	३८
लोक अनुप्रेक्षा	११३
लोक आकाश	५६, ११३, २११
लोकमूढ़ता	१६६
लोकपाल	१०५
लोकविभाग (ग्रन्थ)	१३७
लोकान्तिक देव	१०५, १५८, २२६
लोकालोक व्यापक	२६
व	
वत्सा (देश)	१२८
वत्सावति (देश)	१२८
वज्रकरण (राजा)	१७४
वज्रकुमार (विद्याधर)	१७५
वप्रकावति (देश)	१३०
वप्रा (देश)	१३०
वप्रा रानी	१७५
वर्द्धनकुमार	१०७
वर्द्धमान (तीर्थङ्कर)	२२६
वर्ष (क्षेत्र)	१२१
वर्षधर	१२१
वस्त्राङ्ग कल्पवृक्ष	१२६
वसुदेव (राजा)	१६८
वक्षार पर्वत	१२७, १२८, १२९, १३२
वाक्यशुद्धि	१०२
वायुभूत (मुनि)	१६४
वार्तिक	१३८, १५३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
वारीसेन (मुनि)	१७३
विकल्प (संकल्प)	३४, १७२
विकल्पित निश्चय नय	२१८
विक्रिया-समुद्घात	२५
विजयानगरी	१३०
विजयापुरी	१२६
विजयार्ध १२१, १२२, १२५, १३०, १३२	
वितत (शब्द)	५१
वितर्क (शुक्ल-ध्यान)	१६६
विदेह क्षेत्र १२१, १२३, १२४, १२५, १२७	
विनयशुद्धि	१०१
विपाक विचय (ध्यान)	१६८
विपाक सूत्र	१७६
विभङ्गा नदी १२७, १२८, १२६	
विभ्रम १६३, १७७, १७८, १८७	
विभाव व्यंजन पर्याय	५२, ७६
विभीषण (राजा)	१६८
विमोह १६३, १७७, १७८, १८७	
विरजापूरी	१२६
विरुद्ध हेतु	२०६
विशाखा (नक्षत्र)	१३६
विशोकपूरी	१२६
विष्णु	४६
विष्णुकुमार (मुनि)	१७३
वीचार (शुक्ल-ध्यान)	१६६
वीतराग चारित्र ६५, १७५, १६०, १६४	
वीतराग सम्यक्त्व १५१, १७५	
वीर्याचार	२१४
वेदक-सम्यक्त्व	१७७
वेदना-समुद्घात	२५
वेद-मार्गणा	३७
वैजयन्त नगर	१३०
वैराग्य	१७३
वैश्रसिक (शब्द)	५१

शब्द	पृष्ठ
वंश (अर्थात् क्षेत्र)	१२१
वृहत्सिद्धचक्र	२०४
वृहस्पति	१३४
व्यतिरेक-दृष्टान्त	२०६
व्यय ४५, ६२, ६३, ६७, ६८	
व्यवहार आराधना	२१६
व्यवहार चारित्र	१६०
व्यवहार ध्यान	२०४
व्यवहार नय ४, ७, ८, ६, ११, १२, १५, १८, १६, २१, २२, २६, ३३, ५१, ५२, ५६, ५८, ७१, ७५, ७६, ७७, ८२, ६२, ६६, १०३ १६६, १७०, १७१, १७३, १७४, १७५, १६३ २०२, २०६, २१२, २१६	
व्यवहार पंचाचार	२१४
व्यवहार मोक्षमार्ग १६०, १६१, १६२, १६५	
व्यवहार रत्नत्रय ८१, १२६, १४८, १६०, १६१, १६५, २१६	
व्यवहार सम्यक्त्व १७५, १७६	
व्यवहार ज्ञान	१८०
व्याख्यानम्	७
व्याख्येयं	७
व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग	१७६
व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान	२००
व्यंजन पर्याय	५२, ६७
व्यंतर ११६, १२०, १४१	
व्रत ६८, ६६, १६०, २२२, २२३, २२४, २२५	

श

शब्द	पृष्ठ
शतभिष (नक्षत्र)	१३६
शतार (स्वर्ग) १३८, १३६, १४०, १४२	
शनैश्चर (ग्रह)	१३४
शब्द	५०
शब्दात्मक श्रुतज्ञान १६, १८५	
शयनासन शुद्धि	१०१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
शर्कराप्रभा (नरक)	११४
शल्य (३)	१८१
शशिप्रभा आर्यिका	१६६
शिखरी पर्वत	१२१, १२४
शिवभूति	२२७
शीता नदी	१२३, १२४, १२६, १२७, १२८
शीतोदा नदी	१२३, १२४
शुक्र (नक्षत्र)	१३४
शुक्र (स्वर्ग)	१३८, १३६, १४०, १४२
शुक्लध्यान (४)	१६६, २००, २०१, २२२, २२६, २२७
शुचि	११०
शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय	८, ६, ३१, ७६, ८०
शुद्ध-निश्चय-नय	४, ५, ७, ८, ६, १०, ११, १८, १६, २२, २३, ३२, ४७, ५८, ७१, ७५, ७७, ८२, ६५, ६६, २०२, २२६, २३०
शुद्ध पारिणामिक भाव	३८, ७६, ८३, २२१, २३०
शुद्ध व्यञ्जन-पर्याय	६७
शुद्धि (८)	१००
शुद्धोपयोग	६४, ६५, १४८, १६०, १६३, २१६, २२५, २३६
शुभ तैजस समुद्घात	२६
शुभा (नगरी)	१२८
शुभोपयोग	६४, १४८, १५७, १६२, १६३, २०४
शूद्र	११०
शून्य (ज्ञान)	२७
शौच (धर्म)	१००
शंकादि (८ दोष)	१५८
शंखा (देश)	१२६
श्रावक	३४, ६४, ११८, १६१, १६२, १६३
श्रीपाल (राजा)	१
श्रुतज्ञान	१६, १७६, १८५, २२६, २२७, २२८
श्रेणिक (राजा)	२२६
श्रेणीबद्ध	११६, १४०

ष

षोडश भावना	१५७

स

सकल चारित्र	१६२
सकल प्रत्यक्ष	१५
सकल-भूषण केवली	१६६
सक्रिय	७४ ७५
सगर (चक्रवर्ति)	२२८
सत्य धर्म	१००
सद्भूत-व्यवहार नय	१२, १८
सन्निकर्ष	१८४, १८५
सन्निपात	१८४
समयमूढ़ता	१६६
समयसार	४०, २२२
समवायाङ्ग	१७६
समाधि	१४३, १४४, २२१, २२५
समिति (५)	६८, ६६, १६०, १६२
समुद्घात	२५
सम्यक्त्व क्रिया	१११
सम्यक्त्व मार्गणा	३६
सम्यक् श्रद्धान	६१
सम्यग्दर्शन	४१, १६०, १६१, १६३, १६४, १६५, १७५, १७६, १७७, १८६
सम्यग्ज्ञान	१५, १६, १६३, १७७, १७८, १७६, १८०, १८१, १८२, १८६
सयोगिगुणस्थान	३५, ३६, ४८, १४८, १४६
सराग चारित्र	१६०, १६३
सराग सम्यक्त्व	१५१, १७५
सरोवर	१२१
सर्वघाति स्पर्द्धक	६७
सर्वपद	२०३, २०५
सर्वज्ञ	२०६, २०७
सलिला (देश)	१२६
सविपाक निर्जरा	१५०, १५१
सहकारी कारण	५३, ५४, ५५, ६३, ६५, १६६, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४
सहस्रार (स्वर्ग)	१३८, १३६, १४०, १४२
साकार (उपयोग)	१७७
साधु	२१६ २१७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
साध्य साधक	३३, ६४, १४८, १६१, १७५ १७६, १८०, १६०, १६३, १६५, २०४, २१२, २२३
सानतकुमार (स्वर्ग)	१३८, १३६, १४०, १४२
सामान्य	१८, १८७, १८८, १८६
सामायिक	१४६, २२५
सासादन	३३, ४७, १४८
सिद्ध	६, ३५, ४७, ४८, ५४, ५५, ५६, ६७, ६८, १४०, १४५, २०३
सिद्ध शिला	१३६
सिद्ध स्वरूप	४०, ४१, २२१
सिन्धु	१२२, १२३, १२४, १३०
सिवभूदी (मुनि)	२२७
सीता (रानी)	१६८, १६६
सीमन्त-बिला	११६
सुकच्छा (देश)	१२७
सुख	३३, ४६, ५०, ८१, १०८, ११३, ११८, १५३, १५४, १७०, २००, २०५, २२०
सुगत	४६
सुगंधा (देश)	१३०
सुपद्मा (देश)	१२६
सुपर्णकुमार (देव)	१४१
सुमेरु	११४, ११५, ११६, १२३, १२५, १२६, १२७, १२८, १२६
सुवच्छा (देश)	१२८
सुवप्रा (देश)	१३०
सुवर्ण कुला (नदी)	१२४
सुवर्ण पर्वत	१२६
सुषमसुषमा	१२४
सुषिर (शब्द)	५१
सुसिमा (नगरी)	१२८
सूर्य	१३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १४१
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति	२००
सूक्ष्मता	५०
सूक्ष्मसांपराय-गुणस्थान	३५, ६४, १४८, १६६, २००
सूक्ष्मसांपराय-चारित्र	१४७, १४८
सूत्र	१७६
सूत्र कृतांग	१७६
सोम-श्रेष्ठी	२, १४८
सौधर्म	१३८, १३६, १४०, १४१, १४२
संकल्प	३४, १७२, २२८
संकोच विस्तार	६, २४, ४३
संयम	१००
संयम-मार्गणा	३७
संयमासंयम	३४, १४८
संवर	८०, ८१, ८३, ८४, ६३, ६५, ११२, १४८, १४६, १५१
संव्यवहार प्रत्यक्ष	१३, १५, १७
संवेग	११३
संसारापहान	१६३, १७७, १७८, १८७
संसारी	६
संस्कृत	५१
संस्थान	५०, ५२
संस्थान-विचय	१६६
संहनन	२२६, २२७
संज्ञी	३०
संज्ञी-मार्गणा	३६
सिंधु	१२२, १२३, १२४, १३०
सिंहपुरी	१२६
सिंहोदर (राजा)	१७४
स्तवन (द्रव्य, भाव)	४
स्थानाङ्ग	१७६
स्थावर	२८
स्थिति-बंध	६०, ६१, १४८
स्थूलता	५०
स्वभाव व्यंजनपर्याय	५२
स्वयंभूरमण	११६, १२०, १३३, १३८
स्वरूप-असिद्ध हेतु	२०१
स्वर्ग	१३८
स्वाति (नक्षत्र)	१३६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द	पृष्ठ
ह	
हरि-क्षेत्र	१२१, १२३, १२४
हरिकांता (नदी)	१२२, १२३, १२४
हरित् (नदी)	१२२, १२३, १२४
हरिषेण (चक्रवर्ति)	१७५
हस्तिनागपुर	१७३
हिमवत (पर्वत)	१२१, १२२, १२४, १३२
हेतु	२०७, २०८, २०६, २१०
हैरण्यवत क्षेत्र	१२१, १२४
हैमवत क्षेत्र	१२१, १२२
ह्रद	१२१
क्ष	
क्षमा	१००
क्षयोपशम	६७
क्षयोपशमिक ज्ञान	६६, ६७
क्षयोपशम सम्यक्त्व	१७७
क्षायिक सम्यक्त्व	४१, १७७
क्षीण-कषाय गुणस्थान	३५, ४७, १४८, १४६, २००, २२७

शब्द	पृष्ठ
क्षेमपुरी	१२७
क्षेमा नगरी	१२७
क्षेत्र	७५, १२१, १२७, १२८, १२६, १३१, १३२
क्षेत्र-अन्तरित	२०६
क्षेत्र-पाल	१६५
त्र	
त्रस जीव	२८
त्रस-नाड़ी	११४
त्रिलोकसार	१४२, १८०
ज्ञ	
ज्ञातृकथाङ्ग	१७६
ज्ञान	१३, ५०, १७७, १७८, १७६, १८०, १८१, १८२, १८६, १८७, १८८, २०५, २१३
ज्ञान (मिथ्या)	१४, १६३, १६४, १६५
ज्ञान-मार्गणा	३७
ज्ञानाचार	२१३
ज्ञानावरण	८८, २०५, २११

संस्कृतटीकायामुक्तानां वाक्यानाम् सूची

पृ. सं.	उद्धृत वाक्य
१०	अस्त्यात्मानादि बद्धः ।
११३	आर्तानरा धर्मपरा भवन्ति ।
४४	आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावत् चेति । [मोक्षशास्त्र १०/७]
६१	उपादानकारणसदृशंकार्यमिति ।
३८	जीवभव्याभव्यत्वानि च । [मोक्षशास्त्र २/७]
२२७	तुसमासं घोसन्तो सिवभूदि केवली जादो ।
१५७	दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य । [मोक्षशास्त्र ६/२४]
४४	धर्मास्तिकायाभावदिति । [मोक्षशास्त्र १०/८]
७०	पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणादु । [पंचा. ६८]
४४	पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च [मोक्षशास्त्र १०/६]
११०	ब्रह्मचारी सदा शुचिः ।
११५	भूवामन्ते स्पृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदिक्षु च ।
२२७	मा रूसह मा तूसह ।
६०	समओ उप्पण्ण पद्धंसी ।
५६	स्थितिः कालसंज्ञका ।
११०	वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org